श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला–१८

आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत

•

लेखक
डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
ज्योतिषाचार्य, एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी तथा प्राकृत एवं जैनोलौजी),
पी-एच० डी०, डी० लिट्
अध्यक्ष—संस्कृत-प्राकृत-विभाग, एच० डी० जैन कालेज, आरा
(मगध विश्वविद्यालय)

•

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
अस्सी, वाराणसी

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, एम० ए० आचार्य, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

०

प्रकाशक
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
१/१२८, डुमरावबाग, अस्सी,
वाराणसी-५

०

प्रथम संस्करण
१९६८
विजयादशमी २०२५

०

मूल्य बारह रुपये

०

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
बी० २०/४४ भेलूपुर, वाराणसी-१

स्नेहमयी पूज्या जननी जावित्रीबाईको

सविनय और सभक्ति

समर्पित

नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रकाशकीय

स्वनामधन्य राष्ट्रीय सन्त पूज्य श्री गणेशप्रसाद वर्णीका नाम शिक्षा और वाड्मय प्रचारमे युग-युगान्तर तक अमर रहेगा। उन जैसा मनस्वी, समताभावी, विद्वानोंके लिये कल्पवृक्ष और जनसाधारणके लिए पथप्रदर्शक सन्त इस शताव्दीमे दुर्लभ है। उनके नामपर उनकी उदात्त भावनानुसार आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं तत्त्वज्ञान विपयक मौलिक अप्रकाशित तथा अनुपलभ्य प्रकाशित और नवनिर्मित ग्रन्थोके प्रकाशनके लिए आजसे २१ वर्प पूर्व श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमालाकी स्थापना की गयी थी। इस ग्रन्थमालासे अव तक १७ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है।

प्रसन्नता है कि ग्रन्थमाला अपने उद्देश्यानुसार आज एक ऐसी कृतिका प्रकाशन कर रही है जो उक्त क्रममे सर्वथा मौलिक, अभिनव और शोधात्मक है तथा ग्रन्थमालाकी एक अणुपम देन कही जायगी। वह कृति है 'आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत'।

आचार्य जिनसेनके आदिपुराणकी प्रतिष्ठा जैन परम्परा और वाड्मयमे सर्वोपरि है। वह आर्ष-ग्रन्थोम अभिहित है और आवाल-गोपाल उसके स्वाध्यायसे अपनेको कृतार्थ करते है। इसके कितने ही संस्करण निकल चुके है। पर इस महाग्रन्थके अतल सागरमे अन्तर्हित वहुमूल्य रत्न-सम्पदा, जो सास्कृतिक, सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक और राजनैतिक रूप है, प्रकाशनमे नही आ सकी। प्रस्तुत कृतिमे ऐसी ही नयी सामग्रीका उद्घाटन किया गया है। सात अध्याओं और उसके विभिन्न परिच्छेदोंमे लेखकने आदिपुराणमे वर्णित भारत और भारतीय जीवनका स्वर्णिम एवं विस्तृत चित्रण अङ्कित किया है। इस चित्रणसे अवगत होता है कि भारत आदिपुराणकालम, जो राष्ट्रकूटोका काल था, सास्कृतिक और राजनैतिक दृष्टिसे कितना समृद्ध और विशाल था। किसी भी देशकी समृद्धि उसके आर्थिक साधनों—कृषि, उद्योग, व्यवसाय आदिके अतिरिक्त उन्नत धर्म, नीति, प्रशासन और संगीत, वाद्य, चित्रकला आदिसे ज्ञात की जा सकती है। सुयोग्य विद्वान द्वारा आदिपुराणका समृद्ध भारत और उन्नत भारतीय जीवन केवल अङ्कित ही नही किया गया, किन्तु उसके विविध रूपो और सूक्ष्म एवं अनुसन्धित तथ्योंको विस्तारके साथ प्रकाशमे भी लाया गया है।

इस महत्त्वकी कृतिके उपस्थापक है भाई डा० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, एम. ए, पी-एच. डी., डी. लिट्, अध्यक्ष—संस्कृत-प्राकृत विभाग एच. डी. जैन

कालेज आरा। आप मेधावी, प्रतिभाशाली और प्रत्युत्पन्नमति मनीषी होते हुए सुलेखक, चिन्तक और प्रवक्ता हैं। प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं पर समान अधिकार है। जैन वाङ्मयकी आधारभूत जिस प्राकृतका अध्ययन भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे शताब्दियोसे लुप्त एवं उपेक्षित रहा और जो अपने विपुल साहित्यसे समृद्ध है, उसके क्रमबद्ध अध्ययन-अध्यापनका सर्वाधिक प्रयास आपके द्वारा हो रहा है। प्राकृतके समान संस्कृत और हिन्दीके प्रसार एवं सृजनमे भी आप संलग्न है। आपके दो दशकसे ऊपर संस्कृत-प्राकृत-हिन्दीके ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और निरन्तर उनकी संख्या बढ रही है। ऐसा अध्ययनशील और अध्यवसायी विद्वान् विरल है। आप विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष और ग्रन्थमालाके संयुक्तमंत्री भी है। अपनी मूल्यवान् प्रस्तुत कृति ग्रन्थमालाको प्रकाशनार्थ देकर आपने उसका गौरव बढाया है। इस अवसरपर उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हुए हम सकुचित हो रहे हैं, क्योंकि वे न केवल ग्रन्थमालाके साथी मंत्री हैं, किन्तु मेरे अभिन्न हृदय सुहृद् भी है।

पूज्या मा श्री ब्र० चन्दाबाई जी अधिष्ठात्री जैन बाला-विश्राम आरा और श्रीमती युवराज्ञी लक्ष्मीदेवी मुधौली स्टेट (Mudholı State) दक्षिण भारत (हाल वाराणसी) को नही भुलाया जा सकता, जिन्होंने इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक सहायता प्रदानकर स्तुत्य साहित्य-प्रेम और उदारताका परिचय दिया है।

प्रिय बाबूलालजी फागुल्ल संचालक महावीर प्रेस वाराणसीने ग्रन्थके शीघ्र मुद्रण और सौन्दर्यमे सहजभावसे योगदान किया, उसके लिए उन्हे हृदयसे धन्यवाद है।

आश्विन् शुक्ला १५,
वीर निर्वाण सं० २४९४
६ अक्टूबर १९६८ ई०

दरबारीलाल कोठिया
मंत्री
श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला

PREFACE

The Ādi-Purāna of Acharya Jinasena (900 A. D.) is an encyclopaedia of India and Indian life Spread over forty-seven Parvans, it deals with Jain Metaphysics, religion and ethics as it throws comprehensive light on social, geographical, cultural and economic conditions of contemporary India — all on the pivot of the first Tìrthankara, Rsabhadeva and his worthy son Bharata.

Dr. Nemichandra Sastri, Jyotisācharya, Nyāya-Kāvya-Jyotiṣa-tirtha, Sāhitya-ratna, M. A. (Sanskrit, Prakrit and Hindi), Ph D., D. Litt., Head of the Department of Sanskrit and Prakrit, H. D. Jain College, Arrah, has handled this important work in Lucid and persusive Hindi He has brought to the fore the diverse aspects of the Mahāpurāna with emphasis on cultural materials. He has brought his extensive study, sympathetic understanding and critical exposition to bear upon the subject.

I am sure such a comprehensive approach will not only give a fillip to Jain studies but also evoke sincere appreciation from the scholarly world.

3. 10. 68.

Dr. S. Bhattacharya

Director of Sanskrit Studies and Research,
Mayurbhanj Professor of Sanskrit,
&
Head of the Deptt of Sanskrit & Pali,
BANARAS HINDU UNIVERSITY.
VARANASI-5

[हिन्दी-रूपान्तर]

आचार्य जिनसेन (९०० ई०) का आदिपुराण भारत तथा भारतीय जीवनका एक विश्वकोश है। इसके ४७ पर्वोंमें जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव और उनके सुयोग्य पुत्र भरतको आधार बनाकर तत्कालीन भारतकी सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितिपर विस्तृत प्रकाश डाला गया है तथा जैनधर्म, जैनाचार और जैन तत्त्वज्ञानका सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए, पी-एच० डी०, डी०, लिट्, अध्यक्ष—संस्कृत-प्राकृत विभाग, हरप्रसाददास जैन कालेज आराने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थपर हृदयग्राही एवं सुस्पष्ट हिन्दी-भाषामें प्रस्तुत कृति उपस्थित की है और उसकी सांस्कृतिक सामग्रीपर विशेष बल देते हुए महापुराणके विविध रूपोंको प्रकाशमें लाया है। इससे उनकी प्रकृत विषयपर गम्भीर अध्ययन, सुरुचिपूर्ण मेधा-शक्ति एवं आलोचनात्मक अनुशीलनमें सुदक्षता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

मुझे दृढ विश्वास है कि इस प्रकारके विस्तृत मूल्याङ्कनसे न केवल जैन शास्त्रोंके अध्ययनको प्रोत्साहन ही मिलेगा, अपितु विद्वत्संसारसे यथार्थ प्रशंसा भी प्राप्त हो सकेगी।

३-१०-६८

डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य
निर्देशक—संस्कृत-अध्ययन और शोध
संस्कृतके मयूरभञ्ज-प्रोफेसर
अध्यक्ष—संस्कृत-पाली विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पुरोवाक्

लोकस्य कुशलाधाने निरूढं यस्य कौशलम्—आदि० ३१।१००

आदिपुराणका आजसे कई वर्ष पूर्व स्वाध्याय किया था। इस ग्रन्थकी सांस्कृतिक सामग्रीने मुझे उसी समय अपनी ओर आकृष्ट किया और इच्छा उत्पन्न हुई कि इस महनीय ग्रन्थके आभ्यन्तरमे छिपे हुए रत्नोको प्रकाशमे लाया जाय। मेरी दृष्टिमे आदिपुराणके इस आकर्षणका कारण उसमे विवेचित लोकजीवनका यथार्थ चित्रण ही है। स्वयं जिनसेनने लोकजीवनके विश्लेषणको कवि-कौशल कहा है। इस ग्रन्थमे गुप्त एवं गुप्तोत्तरकाल ९ वी शताब्दी तककी सभ्यता और संस्कृतिका जीवन्त चित्रण किया गया है। भारतीय समाजके घटना-संघातोके अंकनके साथ आर्थिक और आध्यात्मिक जीवनका समन्वितरूपमे अपूर्व चित्रण आया है। जिनसेनने मानवको केन्द्र मानकर उसके समग्र विकासके लिए आदितीर्थङ्कर ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती जैसे समाजशास्त्रीय नेताओका चरित निबद्ध किया है। इस चरितवर्णन-क्रममे भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, कला और साहित्य सम्बन्धी एवं अन्य सांस्कृतिक उपकरणोंका विवेचन भी होता गया है। अजन्ता और एलोराकी मूत्तियो एवं चित्रोंमे कलाके जिस शिल्पका दर्शन होता है उसका शब्दचित्र आदिपुराणमे अंकित है।

सत्ता, संपत्ति और प्रतिष्ठाकी आवश्यकता, महत्त्व एवं उपयोगितापर प्रकाश डालते हुए भी उक्त तीनोंका अहिंसात्मक वर्णन कर गुप्तोत्तर युगके स्वस्थ मनुष्य, स्वस्थ समाज और लक्ष्य प्राप्तिके स्वस्थ साधनोका वर्णन आया है। जिन क्षमा, मार्दव आदि गुणोसे व्यक्तिका परिशोधन होता है; उन गुणोका सामाजीकरणकर आदर्श समाजका रूप ग्रथित किया है। आदिपुराणमे चित्रित समाजका प्रत्येक व्यक्ति समाजके प्रत्येक सदस्यके साथ सहयोग और सहकारिताका जीवन-यापन करनेका अभ्यासी है तथा प्रत्येक सदस्य श्रम-संपादन द्वारा कर्मभूमिका यथार्थ अधिकारी बन आलस्य एवं शोषणका परित्याग करता है।

आदिपुराणके समाजका विकास परिवारके मध्यसे होता है। जनसंख्या और आवश्यकताओंकी वृद्धि होनेपर अनेक जटिल समस्याएँ उत्पन्न होती है; जिनका समाधन आदिपुराणमे श्रम एवं उत्पादनके सिद्धान्त द्वारा किया गया है। वस्तुतः आदिपुराणकी दृष्टिमे श्रम मनुष्यकी सांस्कृतिक आवश्यकता है और यह है सभ्यताका मूलस्रोत। कर्मभूमिके संचालनके मूलमे दो ही तत्त्व है—(१) श्रम एवं (२) उत्पादन। अतः उपयोगी वस्तुओंकी प्रचुरता समाज-प्रतिष्ठाका साधन नही है, प्रतिष्ठाका साधन है सांस्कृतिक जीवन। व्यक्ति और समाजके कुछ मूल्य होते है। इन मूल्योकी प्राप्ति ही सामाजिकता है। जो मनीषी, समाजशास्त्री

जीवनमूल्योके प्रतिपादनमे जितना सजग रहता है वह समाज-संगठनके सिद्धान्तों का उतनी ही जागरूकताके साथ वर्णन करता है।

आदिपुराणमे जिस भारतका चित्रण किया गया है वह भारत भौतिक और आध्यात्मिक दोनो ही दृष्टियोसे समृद्ध था। कला एवं कला-गोष्ठियोके प्रति समाज-के सभी वर्गोके व्यक्तियोकी आस्था थी। सामाजिक मान्यताएँ, आदर्श एवं विश्वास कलाके माध्यमसे व्यक्त हुए थे। मूर्ति, चित्र, संगीत एवं नृत्यकलाका सांगोपाग विवेचन इस वातका प्रमाण है कि आदिपुराणका भारत आर्थिक दृष्टि-से समृद्ध था। भौतिक आवश्यकताओकी पूर्तिके लिए विशेप प्रयासकी आवश्य-कता नही थी। संवेदनशीलता, मानसिक द्वंद्व एवं मनोविकार सामाजिक घात-प्रतिघातोका अंकन करनेमे सक्षम थे। इसी कारण व्यक्तित्व निर्माण और सामा-जिक विकासके हेतु वर्ण-व्यवस्था, संस्कार, दिव्य भोजनपान, सुन्दर वस्त्राभूपण, सौन्दर्य-चेतनाकी तृप्तिके लिए कलाओके प्रति अनुराग एवं व्यक्तित्व-उत्थानके लिए शिक्षा-साहित्यका प्रचार विद्यमान था।

आदिपुराणकी दृष्टिमे केवल गर्भसे मरणपर्यन्त ही सांस्कृतिक जीवन-यापन करना उपादेय नही है, अपितु अनेक जीवनोकी परम्पराको परिष्कृत करना और मोक्षलाभपर्यन्त आध्यात्मिक जीवन-यापन करना उपादेय है। गर्भाधान, नाम-करण, उपनयन आदि संस्कार व्यक्तिके एक जीवनको ही महनीय वनाते है, पर दीक्षान्वय और क्रियान्वय-क्रियाएँ जन्म-जन्मान्तरोकी शुद्धिकर निर्वाण प्राप्तिका साधन वनती है।

आदिपुराणके अनुसार व्यक्ति समाजसे अलग नहीं रह सकता है। अतः सामाजिकताका निर्वाह करनेके लिए आर्थिक संतुलन, श्रम, उत्पादन एवं उच्च आचार-विचारका पालन करना अनिवार्य कर्त्तव्य है। जीवनकी अर्हाओ और भूपणभूत चेष्टाओकी प्राप्ति धर्म, दर्शन और कलाके द्वारा ही होती है।

शृंगारके प्रसाधन, मनोविनोद, क्रीडा-उत्सव आदि भी सामाजिक विकासके लिए आवश्यक है। जीवनकी अवधारणाएँ और सामाजिक मूल्योकी प्राप्तिका साधन सर्वांगीण सास्कृतिक जीवन ही होता है। अतः आदिपुराणमे विवेचित भारतीय सस्कृतिको प्रस्तुत ग्रन्थमे सप्त परिवर्तोमें विभक्त कर विवेचित किया है। ये सप्त परिवर्त निम्न प्रकार है—

१. आदिपुराणका सास्कृतिक महत्त्व एवं उसका पुराण और काव्यशास्त्रीय स्वरूप-निर्धारण।

२. भौगोलिक—ग्राम, नगर, वन, पर्वत, जीव-जन्तु आदिका निरूपण।

३. समाजगठन एवं सामाजिक संस्थाएँ।

४. सांस्कृतिक जीवनके उपकरण, भोजनपान, वस्त्राभूपण, शृंगारिक प्रसाधन

एवं मनोविनोद-क्रीडा-उत्सवादि ।

५. शिक्षा, साहित्य, वाड्मय एवं कला-कौशल ।

६. आर्थिक विचार, अर्थ-समृद्धि एवं राजनैतिक सिद्धान्त ।

७. धर्म और दर्शन भावना ।

आदिपुराणमे वर्णित समाजका क्षेत्र परिवार, गोत्र, वर्ण, जाति, आश्रम आश्रितो तक ही सीमित नही है अपितु जनपदविशेपके समुदाय तक व्याप्त है। यही कारण है कि आदिपुराणमे विभिन्न जनपदके नर-नारियोंकी सामुदायिक अभिरुचिका निरुपण भी उपलव्ध होता है। यथा—कर्णाटकवासियोको हरिद्रा, ताम्बूल और अंजनप्रिय कलिंगवासियोको कला-कौशलकी अभिरुचिवाला, पाण्डयोंको युद्धप्रिय एवं चौलोको मधुरगोष्ठिप्रिय कहा है।

प्रथम परिवर्तमें आदिपुराणका सांस्कृतिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है और वृहत्तरभारतकी सीमा भी वर्णित है। सांस्कृतिक उपादानो, संस्थाओं, परम्पराओं, मूल्यो एवं व्यवस्थाओका सुस्पष्ट विवेचन भी सास्कृतिक जीवनके अन्तर्गत निरुपित है। मानवजीवनके निर्वाहमे मानसिक स्वभाव, सदाचारवृत्ति एवं अभ्यस्त संस्कारोका वड़ा महत्त्व है। जिनसेनका दृष्टिविन्दु है कि समाजको संस्कृत करनेमें व्यक्तियोके स्वभाव और रुचियोका अध्ययन किया जाय। उनके मतानुसार सदाचार निर्माणमें तीन वातें प्रवान होती है—

१. स्वभाव

२. संस्कार

३. मनोभाव

सास्कृतिक दृष्टिसे सामाजिकताके विकास-हेतु सेवा, वात्सल्य, श्रम, उत्पादन, सहयोग और पारस्परिक आस्था अपेक्षित है। वैयक्तिक दृष्टिसे प्रेम, संयम और सहानुभूतिकी जितनी आवश्यकता है उससे कही अधिक सामाजिकताके विकासकी दृष्टिसे समुदायको गठित करनेमे वैयक्तिक वृत्तियोंका परिष्करण अपेक्षित होता है। अत: प्रथम अध्यायमे आदिपुराणकी वाड्मय विधाका निर्धारण कर उसके सास्कृतिक महत्त्वका प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय अध्यायमे जनपद, नगर, ग्राम, मटम्ब, खेट, नदियाँ, वन, पर्वत एवं जीव-जन्तुओ आदिका निरूपण किया है। भौगोलिक प्रतिपादनमे यह दृष्टिकोण रहा है कि प्राचीन स्थानोंकी पहिचान आधुनिक स्थानोसे की जा सके। डॉ० डी० सी० सरकारने 'studies ın the geography of ancient and medieval India' ग्रन्थमे पौराणिक जनपदोका विश्लेपण किया है। इसी ग्रन्थका अनुकरण कर आदिपुराणके भौगोलिक स्थलोकी निष्पत्तियाँ अंकित की गई है।

इच्छाको पूर्ण किया। मैं साधुवाद देकर उनके इस उपकारका महत्त्व कम नही करना चाहता। मुद्रणमे सहयोग देने वाले और मीठी चाय पिलाकर तृप्त करने-वाले मुद्रणकलाके विज्ञ भी भाई वावूलाल जी फागुल्लको भी मै साधुवाद समर्पित करता हूँ। ग्रन्थ-निर्माण और उसकी पाण्डुलिपि तैयार करनेमें सहयोग देनेवालो मे सर्वप्रथम मै साध्वी तपस्विनी माँश्री चन्दावाईजी का आभार स्वीकार करता हूँ जिनका, पुत्रवत् वात्सल्य मुझे प्राप्त है। मै अपनी पत्नी श्री सुशीलादेवीजी को भी नही भूल सकता हूँ, जिसकी सुव्यवस्था और सेवाके फलस्वरूप मुझे स्वाध्याय करनेके लिए पूर्ण सुविधा और समय प्राप्त होता है। पाण्डुलिपिके तैयार करनेमे मैं अपने प्रिय शिष्य डॉ० कृष्णमोहन अग्रवाल एम० ए०, पी–एच० डी० को हृदयसे आशीर्वाद देता हुआ उनकी मंगलकामना करता हैं जिन्होंने अपने वहुमूल्य समयमेसे एक सप्ताहका समय गुरु-दक्षिणामे समर्पित किया और अहर्निश कठोर श्रमकर मेरी खरोष्ट्री और ब्राह्मीको नागरीका रूप दिया।

चित्रोकी साज-सज्जाके लिए पटना कलाके अन्तिम चित्रकार श्री महावीर प्रसाद वर्मा चित्रकला-अध्यापक श्री जैन वाला-विश्राम आराका आभारी हूँ; जिन्होने आदिपुराणके आभूषणो एवं तीर्थंकरके पंचकल्याणकोके चित्र अंकित किये है। आदिपुराणमे प्रतिपादित भारतके राष्ट्रोका मानचित्र मगधविश्वविद्यालयके अंगीभूत एच० डी० जैन कालेज आराके भूगोल-विभागके प्राध्यापक श्री 'हक' द्वारा निर्मित है। मै हक साहवका हृदयसे आभार स्वीकार करता हूँ।

मेरे नम्र अनुरोधको स्वीकार कर श्री डॉ० प्रो० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्, न्यायाचार्य, अध्यक्ष—संस्कृत-पालि विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयने प्रस्तावना लिखनेकी कृपा की। मै डॉ० भट्टाचार्यजीके इस अनुग्रहका आभारी हूँ।

सहयोगियोमे डॉ० प्रो० राजाराम जैनको भी साधुवाद देता हूँ, जिनसे समय-समयपर सहयोग मिलता रहता है। शब्दानुक्रमणिका तैयार करनेमे प्रिय श्रीसुरेन्द्रकुमार एम० ए० से सहयोग प्राप्त हुआ है। अत उन्हे भी मैं आशीर्वाद देता हूँ। अन्तमे इस ग्रन्थके प्रकाशनका सारा श्रेय श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसीको प्राप्त है।

भोलाभवन, १ महाजनटोली, आरा

विजया दशमी
वीर निर्वाण २४९४ }

नेमिचन्द्र शास्त्री

आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत

विषय-सूची

तृतीय परिवर्तनमे समाजगठन और सामाजिक संस्थाओंका वर्णन किया गया है। आदिपुराणकी सामाजिक संस्थाओके अध्ययनसे कई निष्पत्तियाँ प्रस्तुत होती है—

१ आदिपुराणका समाज कुल और परिवारोकी सीमासे आगे बढकर धार्मिक और जनपदीय प्रदेशो तक विस्तृत हुआ। फलतः चैत्यालयोने एक ऐसी संस्थाका रूप ग्रहण किया, जिन्हे एक साथ शिक्षालय, न्यायालय एवं मनोरंजनालयका मिश्रितरूप कहा जा सकता है।

२. आदिपुराणके समाजमे नारीकी स्वतन्त्र स्थिति थी और कन्या परिवारके लिए अभिशाप नही मानी जाती थी। उसका मूल्य भी परिवार और समाजमे पुत्रके समान ही था।

३ वर्णाश्रम-व्यवस्था गुण-कर्मानुसार प्रतिष्ठित की गई, जो आगे चलकर जन्मनाके रूपको प्राप्त हुई।

४. सामाजिक संस्थाओका महत्त्व संगठन, सहयोग एवं सामाजिकताके विकासकी दृष्टिसे अधिक था। इन संस्थाओमे एक साथ अनेक व्यक्ति मिलकर अपने शारीरिक, मानसिक और आत्मोत्थान सम्बन्धी समस्याओका समाधान ढूँढते थे।

चतुर्थ परिवर्तमे आहारपान, वस्त्राभूषण, क्रीडाविनोद, गोष्ठियाँ एवं व्रतोत्सव आदिरूप सांस्कृतिक जीवनका विश्लेषण किया है। निःसंदेह गुप्तकालके पश्चात् भी कई शताब्दियो तक भारतकी आर्थिक और सांस्कृतिक समृद्धि तदवस्थ बनी रही। इस परिवर्तके अध्ययनसे यह स्पष्टत. जाना जा सकेगा कि आदिपुराणके भारतमे सांस्कृतिक जीवन कितना समृद्ध था।

पंचम परिवर्तमे शिक्षा-साहित्य और कलाका प्रतिपादन किया गया है। जिनसेनने काव्यके स्वरूप-कथनमे कई नवीनताएँ और मौलिकताएँ अंकित की है। उनका काव्य-रचनातन्त्र विशेषरूपसे अध्ययनीय है। कलाओमे चित्र, संगीत, नृत्य और मूर्तिकलाका अच्छा विवेचन किया है। चित्रकलामें रेखा तथा रंगो द्वारा भावनाओंका प्रसारण किया गया है। रेखाओसे भावोंके संचारमे विशेष सहायता मिलती है। यथा—खडी रेखा आशा, जीवन-उत्साह आदिका एवं पडी रेखा मृत्यु, नश्वरता, स्थिरता आदिका बोध कराती है। रेखासे लय भी प्रदर्शित किये गए है तथा इससे रूप या आकृतिकी भी रचना हुई है। जिनसेन द्वारा प्रतिपादित चित्रकी रेखाएँ मनपर प्रभाव छोडती है। रंगोंद्वारा सौन्दर्य-बोध उपस्थित किया गया है। कौन-सा रंग किस पृष्ठभूमिमे किन संवेदनोको उत्पन्न कर सकता है, इसका आदिपुराणकारने सुन्दर चित्रण किया है।

चित्रकलाके बाद संगीतका द्वितीय स्थान है। संगीत वह ललित कला है जिसके द्वारा संगीतज्ञ अपने हृदयगत सूक्ष्म भावोको स्वर तथा लयकी सहायतासे प्रकट करता है। संगीत द्वारा मानवमात्रके हृदयका रंजन होता है। भारतीय

दृष्टिसे संगीत सम्पूर्ण शरीर है, जिसमे शब्द मस्तिष्क है, स्वर हृदय तथा लय रक्त है। इस प्रकार आदिपुराणमे संगीतका स्वरूप उपस्थित किया गया है। बताया गया है कि मन्दसप्तक हृदयसे गाया जाता है, मध्यसप्तक कंठसे तथा तारसप्तक मस्तिष्कसे गाया जाता है। प्राचीन वाद्य एवं स्वरोके आरोह-अवरोहका चित्रण भी आया है।

प्रकृतिकी समस्त क्रियाओं—संहार तथा संचारका प्रतीकीकरण नृत्यकी अवधारणामे निहित है। नृत्यद्वारा अनेक प्रकारके भावोंका सम्प्रेषण किया गया है। सामाजिक नृत्योके समय संवेगो, विचारो, भावो आदिको जब समूहके सभी लोग साथ-साथ ग्रहण करते है तब सामूहिक एकताका भाव जाग्रत होता है। नृत्य द्वारा घृणा, द्वेष, क्रोध, दुःख, आनन्द, हास्य, विस्मय आदि भावोका प्रदर्शन किया जाता है।

आदिपुराणमे धार्मिक विश्वासों और रीतियोकी अभिव्यञ्जना वास्तुकलामे हुई है। समवशरणकी रचनामे सौन्दर्य-बोधके साथ धार्मिक भावना भी प्रस्फुटित हुई है। इस प्रकार कलाओका अंकन अपने पीछे परंपराओका इतिहास छिपाये हुए है।

षष्ठ परिवर्तमे आर्थिक और राजनैतिक विचारोकी अभिव्यक्ति की गई है। आर्थिक दृष्टिसे भारत आदिपुराणके समयमे आजसे कही अधिक सम्पन्न था। अत अर्थके समस्त अंगोका प्रतिपादन किया गया है। आदिपुराणकारका यह मत है कि दंडधरके अभावमे प्रजामे मत्स्य-न्याय प्रचलित हो जाता है। दडके भय से ही समाजकी दुष्प्रवृत्तियोका नियन्त्रण किया जाता है। अत. दंडधरकी आवश्यकताका वर्णन करते हुए लिखा है—

दण्ड-भीत्या हि लोकोऽयमपथं नानुधावति।
युक्तदण्डं धरस्तस्मात् पार्थिवः पृथिवीं जयेत् ॥

—आदि० १६।२५३

अंतिम परिवर्तमे दर्शन और धर्म भावनाका सर्वेक्षण किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थमे आदिपुराणमे प्रतिपादित तथ्योंके आधारपर गुप्तोत्तरकालके भारतकी सास्कृतिक समृद्धिका लेखा-जोखा प्रस्तुत करनेका प्रयास किया है।

इस रचनाके निर्माण और प्रकाशनमे मुझे अनेक सहयोगी मित्रो और गुरुजनोसे प्रेरणा प्राप्त हुई। मै सर्वप्रथम इस ग्रन्थको शीघ्र ही प्रकाशमे लाने वाले श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमालाके विद्वान् मन्त्री डॉ० प्रो० दरबारीलाल कोठिया एम० ए०, पी-एच० डी०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्यका हृदयसे आभार स्वीकार करता हूँ। उनकी अनेक कृपाओमेसे यह भी एक कृपा है कि जिसके कारण इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि मेरी अलमारीमे बन्द न रहकर प्रेसको मुद्रणार्थ शीघ्र ही प्राप्त हो गई और उन्होने स्वयं ही प्रूफ-संशोधनमे घोर श्रमकर मेरी प्रकाशन-सम्बन्धी

आदिपुराणमें
प्रतिपादित भारत

आदिपुराण में प्रतिपादित भारत का
— मानचित्र —
पाञ्चाल
मल्ल
विदेह
कामरूप
अंग
मगध
कौशल
चेदि
आभीर
सौवीर
महाराष्ट्र
विदर्भ
अश्मक
आन्ध्र
कलिंग
केरल
चोल
पाण्ड्य
कर्णाटक
सिंहल

अध्याय : १ :

प्रथम परिच्छेद

आदिपुराणका सांस्कृतिक महत्व

आदिपुराण संस्कृत वाङ्मयका एक अनुपम रत्न है। इसमे उत्कृष्ट काव्य-गुणोके अतिरिक्त सास्कृतिक सामग्री विपुल परिमाणमे पायी जाती है। युगादि-पुरुष भगवान् ऋषभदेव और उनके ज्येष्ठपुत्र भरतचक्रवर्तीके सरस आख्यानमे अनेक प्रकारके सास्कृतिक उपकरण प्रस्तुत किये गये है। इस ग्रन्थमे जीवन-का सभी दृष्टिकोणोसे विवेचन किया गया है। जनपद, नगर, गाँव, नदियाँ, पर्वत, वनप्रदेश, विभिन्न प्रकारके पेड़-पौधे; जीव-जन्तु; विभिन्न पेशेवर—बढई, लुहार, कुम्हार, जुलाहा, किसान, बहेलिया, सेनाध्यक्ष, सैनिक, रंगरेज, आदिका सोपपत्तिक विवेचन उपलब्ध होता है। व्यवसाय-वाणिज्य, यातायातके साधन, जीवनभोगकी विभिन्न सामग्री, वेश-भूषा आहार-विहार, जीवन-संस्कार, समाजव्यवस्था, सामाजिक संस्थाएँ, पारिवारिक घटक एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी सुन्दर मीमांसा की गयी है। धर्म और दर्शनके विभिन्न तत्त्व और सम्प्रदायों पर भी प्रकाश डाला गया है। निस्सन्देह यह महाग्रन्थ भारतीय जीवनका सांस्कृतिक इतिहास लिखनेके लिए अत्यन्त उपादेय है। इसके अध्ययनसे नौवीं शतीके जीवनमूल्यो और सांस्कृतिक मान्यताओको सहजमे अवगत किया जा सकता है। जैनधर्म और जैनाख्यानोंको अवगत करनेके लिए इस ग्रन्थका जितना महत्त्व है, उससे कही अधिक भारतीय समाज और सास्कृतिको समझनेके लिए है। इस ग्रन्थमे प्रतिपादित भौगोलिक सामग्री और आर्थिक सिद्धान्त वर्तमान भारतकी अनेक समस्याओंका समाधान प्रस्तुत करनेमे सहायक है। भारतके सीमा-विवादका निराकरण आदिपुराणका भूगोल कर सकता है। आदिपुराणके अनुसार काश्मीर[1], सिंहल[2] और स्वर्णभूमि भारतकी सीमारेखाके

---

१. आदिपुराण १६।१५३। २. वही, ३०।२५।

बतलाया गया है। मध्यदेशमे काशी,[२४] कुरु, कोशल,[२५] वत्स,[२६] अवन्ती,[२७] चेदि[२८] आदि जनपद विद्यमान थे, दक्षिणमे गोदावरी तटवर्ती अश्मक[२९] जनपदका नामोल्लेख आया है। इस जनपदकी राजधानी प्रतिष्ठान थी, जो गोदावरीके बायें किनारे बम्बई और हैदराबादकी सीमाके अन्तर्गत वर्तमान पैठन है। कलिंग और अश्मक एक ही अक्षांशपर स्थित थे। आदिपुराणके अनुसार दक्षिणपूर्वमे मद्र नामका जनपद था और इसके दक्षिणमे उशीनर बाल्हीक जनपदका भी उल्लेख आया है, यह कम्बोजके पश्चिम, वंक्षुके दक्षिण और हिन्दुकुशके उत्तर-पश्चिमका प्रदेश था। बाल्हीक[३०] और गान्धारके बीच गान्धारसे मिला हुआ इसके पश्चिममें कपिश[३१] जनपद था। मध्यदेशमे केकय[३२] जनपदकी स्थिति मानी गयी है, जो झेलम, शाहपुर और गुजरातका पुराना नाम है। पाणिनिने भी केकय[३३] जनपदकी उक्त सीमा निर्धारित की है।

आदिपुराणके अध्ययनसे यह सिद्ध होता है कि विजयार्ध, जिसका अपरनाम वैताढ्य है, बृहत्तर भारतको दक्षिण और उत्तर भारतके रूपमे विभक्त करता है। वर्णन सन्दर्भोमेंसे पौराणिक अंशको पृथक् कर देनेपर इस पर्वतकी स्थिति उत्तरभारतके दक्षिणमे और दक्षिणभारतके उत्तरमे; पूर्वी समुद्रके पश्चिममे तथा पश्चिमी समुद्रके पूर्वमे घटित होती है। यह पूर्व-पश्चिममे आयत और उत्तर-दक्षिणमे विस्तीर्ण है। भारतकी उत्तरी सीमा हिमालय है, जिसकी पश्चिम श्रृंखला दक्षिण-पश्चिमकी ओर चली गयी है। यह वर्तमान भारतकी पश्चिमोत्तर सीमा है, पर आदिपुराणकी सीमा इससे बहुत अधिक है। यवनदेश[३४]—यूनान, तुरुष्क[३५]—तुर्की या तुर्किस्तान; शक[३६]—बेक्ट्रिया, गान्धार, सिंहल—लंका, बर्मा; कंकूश[३७]—सिंगापुर, कम्बोज[३८]—अफगानिस्तान; काश्मीर, दारु[३९]—जम्मू एवं बानायुग[४०]—अरब आदिपुराणके बृहत्तर भारतमे समाविष्ट थे।

आदिपुराणमे इस बृहत्तर भारतमे एक सुखी और समृद्ध समाजका ढाँचा खड़ा किया गया है। पौराणिक आच्छादनको हटा देनेपर इस समाजकी रूपरेखा निम्न प्रकार घटित होती है—

> यद्भुवां न जरातङ्का न वियोगो न शोचनम्।
> नानिष्टसम्प्रयोगश्च न चिन्ता दैन्यमेव च॥

---

२४. वही १६।१५१। २५. वही, १६।१५४। २६. वही, १६।१५३। २७. वही, १६।१५२। २८. वही, २९।४१। २९. वही, १५।१५२। ३०. वही, १६।१५६। ३१. पाणिनि कालीन भारत, ५०६२। ३२. आदिपुराण १६।१५६। ३३. अष्टाध्यायी ७।३।२। ३४. आदिपुराण १६।१५५। ३५. वही, १६।१५६। ३६. वही, १६।१५६। ३७ वही, २९।५७। ३८. वही १६।१५६। ३९. वही, १६।१५४। ४०. वही, ३०।१०७।

८. संगठन, व्यवस्था, अनुशासन और पारस्परिक सहयोग।

९. आन्तरिक और वहिरंग विकारोंका संस्कृतीकरण।

"न तत्सुखं परद्रव्यसम्बन्धादुपजायते" (२१।२०९)की सामाजिक व्याख्या संस्कृतिकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। परद्रव्य शब्दका विस्तृत अर्थ धनादि ग्रहण करने पर स्तेय, परिग्रह सचय, व्यभिचार आदिका स्वत. निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार "स्वदु खे निर्घृणारम्भा· परदु.खेपु दुःखिताः। निर्व्यपेक्षं परार्थेपु·"। (९।१६४) और अपने दु ख और कष्टको दूर करनेका प्रतिकार न कर दूसरेके दु.खको दूर करनेके लिए प्रयत्नशील होना ही सहयोगका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। जिस व्यक्तिमे नि स्वार्थभाव और उदारताकी वृत्ति जाग्रत हो जाती है, वह व्यक्ति समाजका सहयोगी वन जाता है। उत्कृष्ट सदस्य वही है, जो अपने स्वार्थको भूल परस्वार्थको महत्व दे। इस प्रकार आदिपुराणका सास्कृतिक और समाजशास्त्रीय महत्त्व अत्यधिक है।

●

द्वितीय परिच्छेद

आदिपुराण और इतिहास

यो तो पुराणोका ऐतिहासिक दृष्टिसे मूल्य होता है, पर आदिपुराणका इतिहासकी दृष्टिसे विशेप महत्त्व है। आदिपुराणमें कुलकर, तीर्थकर और चक्रवर्ती जैसे पुण्यपुरुपोके आख्यानके साथ जिनसेनने अपनेसे पूर्ववर्ती विद्वानों और आचार्योका नामोल्लेख किया है, जिससे उन आचार्योके समय-निर्धारणके साथ उनके पाण्डित्यपर भी प्रकाग पड़ता है। आदिपुराणमे निम्नलिखित विद्वानों के नाम उपलब्ध होते है :—

(१) सिद्धसेन, (२) समन्तभद्र, (३) श्रीदत्त, (४) यगोभद्र, (५) प्रभाचन्द्र, (६) शिवकोटि, (७) जटासिंहनन्दी, (८) काणभिक्षु, (९) देवनन्दो, (१०) भट्टाकलंक, (११) श्रीपाल, (१२) पात्रकेसरो, (१३) वादिसिंह, (१४) वीरसेन, (१५) जयसेन और (१६) कविपरमेश्वर।

सिद्धसेन—इस नामके अनेक विद्वान् हो गये है। आदिपुराणमे कवि[४१]

---

४१. कवयः सिद्धसेनाद्या वय च कवयो मता.। मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचक.॥ —आदिपुराण १।३९।

और नैयायिकके[४२] रूपमे सिद्धसेनका नाम आया है। इन्हे प्रवादीरूपी हाथियोके समूहको त्रस्त करनेके लिए केसरी कहा गया है। सिद्धसेन सन्मतिप्रकरणके रचयिता माने जाते है, इनका समय वि० सं० ६-७ वी शती है।

समन्तभद्र—जिनसेनने समन्तभद्रकी काव्य-प्रतिभा और तार्किक शक्ति की वड़ी प्रशंसा की है[४३]। वादी, वाग्मी और कवि ये तीन विशेषण इनके लिए प्रयुक्त किये है[४४]। अतएव स्पष्ट है कि समन्तभद्र आद्यस्तुतिकार ही है। ये दर्शन-शास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न थे। इनका जन्मनाम शान्तिवर्मा था, पर वादमे समन्तभद्र इस नामसे प्रसिद्ध हुए। ये क्षत्रिय राज-कुमार थे। इनका समय वि० सं० २-३ शती है। (१) वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, (२) युक्त्यनुशासन, (३) आप्तमीमासा, (४) स्तुतिविद्या और (५) रत्नकरण्डश्रावकाचार, ये रचनाएँ समन्तभद्रकी मानी जाती है।

श्रीदत्त—तपस्वी और प्रवादियोके विजेताके रूपमे इनका उल्लेख किया गया है[४५]। ये वादी और दार्शनिक विद्वान् थे। आचार्य विद्यानन्दने इनको ६३ वादियोको पराजित करनेवाला लिखा है। विक्रमकी ६ वी शतीके विद्वान् देवनन्दीने जैनेन्द्रव्याकरणमे "गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम्" (१।४।३४) सूत्रमे श्रीदत्तका उल्लेख किया है। इनका समय वि० सं० की ३-४ शती होगा। 'जल्पनिर्णय' नामके एक ग्रन्थका उल्लेख मिलता है।

यशोभद्र—प्रखर तार्किकके रूपमे जिनसेनने इनका स्मरण किया है[४६]। इनके सभामें पहुँचते ही वादियोका गर्व खर्व हो जाता था। जैनेन्द्रव्याकरण-में—"क्व वृषिमृजां यशोभद्रस्य (२।१।९९) सूत्र आया है। अत. जिनसेन द्वारा उल्लिखित यशोभद्र और देवनन्दीके जैनेन्द्रव्याकरणमं निर्दिष्ट यशोभद्र एक ही है, तो इनका समय वि० सं० की छठी शतीके पूर्व होना चाहिए।

प्रभाचन्द्र—ये प्रमेयकमलमार्त्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्तासे भिन्न है। ये कुमारसेनके शिष्य थे[४७]। वीरसेन स्वामीकी जयधवला टीकामे नयलक्षण-के प्रसंगमे प्रभाचन्द्रका उल्लेख उपलब्ध होता है। सम्भवतः जिनसेन द्वारा

---

४२. प्रवादिकरियूथानां केशरी नयकेसरः। सिद्धसेनकविर्जीयाद विकल्पनखराङ्कुरः ॥ —वही १।४२। ४३. नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे। यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥—वही १।४३। ४४. कवीना गमकानां च वादिना वाग्मिनामपि। यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥—वही १।४४। ४५. श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये। कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने ॥—वही १।४५। ४६. विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम्। निखर्वयति तद्गर्वं यशोभद्रः स पातु नः ॥—वही १।४६। ४७. चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्र-कविं स्तुवे।—आदिपुराण १।४७।

न निद्रा नातितन्द्राणा नात्युन्मेषनिमेषणम् ।
न शारीरमलं यत्र न लालास्वेदसम्भवः ॥
न यत्र विरहोन्मादो न यत्र मदनज्वरः ।
न यत्र खण्डना भोगे सुखं यत्र निरन्तरम् ॥
न विषादो भयं ग्लानिर्नारुचिः कुपितं च न ।
न कार्पण्यमनाचारो न बली यत्र नाबलः ॥
—आदि० ९।७३-७६

× × ×

सर्वेऽपि समसंभोगाः सर्वे समसुखोदयाः ।
सर्वे सर्वर्तुजान् भोगान् यत्र विन्दन्त्यनामयाः ॥—वही ९।८०

जिनसेन द्वारा कल्पित समाजमें सदाचार, सन्तोष, सत्य और ईमानदारीकी प्रवृत्ति रहनेके कारण वियोग, शोक, रोग और वृद्धत्वजन्य कष्ट नही होता। यह सत्य है कि अनाचारके सेवनसे रोग उत्पन्न होता है, रोगकी उत्पत्ति होनेसे असमयमे वृद्धत्व आता है, जिससे अनेक प्रकारके कष्ट होते है। जब संग्रह और लोभकी वृत्ति बढती है, तो संघर्षकी उत्पत्ति होती है और यह संघर्ष ही चिन्ता एवं दीनताका कारण बनता है। जब समाजमे सभी व्यक्ति शक्तिके अनुसार कार्य और आवश्यकतानुसार पुरस्कार प्राप्त करते है, तो संघर्ष नही होता और न संचयकी प्रवृत्ति ही उत्पन्न होती है। जब समाजके किसी भी सदस्यके पास आवश्यकतासे अधिक संचय हो जाता है, तो वह उसका मन-माना अनियन्त्रितरूपमें उपभोग करता है, जिससे आलस्य, प्रमाद, निद्रा आदिकी उत्पत्ति होती है। प्रमादी व्यक्ति सदा ऊँघता रहता है, उसके मुखसे लार बहती रहती है तथा स्थूल शरीर होनेसे पसीना निकलता रहता है। जो निरन्तर श्रम करता है, संयम पूर्वक जीवनयापन करता है और स्वार्थका त्यागकर सहयोग-सहकारिताकी प्रवृत्तिको अपनाता है, वह सर्वदा स्वस्थ और प्रसन्न रहता है। शारीरिक दोषका कारण असंयम और अनियन्त्रित प्रवृत्तियाँ ही है।

विरहजन्य उन्माद वही उत्पन्न होता है, जहाँ व्यभिचार और असन्तोष रहते है। दोनो ओर सन्तोष रहने पर तथा समाजमे इसी प्रकारकी प्रवृत्तिका व्यापक प्रचार होने पर विरहजन्य उन्मादकी उत्पत्तिका प्रश्न ही नही आता है। जब व्यक्तिकी विषय-कषायजन्य प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर बढती जाती है, तो समाजमें अशान्तिका जन्म होता है। यह अशान्ति दीनता और विरहजन्य उन्मादका कारण है। पागलपन और उन्मादका मनोवैज्ञानिक कारण आन्तरिक असन्तोष माना जाता है। जब व्यक्तिका आन्तरिक असन्तोष उसे अत्यधिक पीड़ित करने

लगता है, तो वह प्रलाप और उन्मादकी अवस्थाको प्राप्त होता है। यही अवस्था वृद्धिगत होने पर पागलपनका रूप धारण कर लेती है। अतएव जिनसेनने भोगभूमिके जिस समाजका चित्रण किया है, वह समाज कर्मभूमिकी दृष्टिसे वस्तुतः सदाचार और संयमपर अवलम्बित है। इस भोगभूमिके समाजको कर्मभूमिका समाज उक्त दोनो साधनोसे ही बनाया जा सकता है। जिनसेनके उक्त वर्णित समाजसे यह ध्वनित होता है कि कर्मभूमिमे श्रम, सदाचार और संयम—आत्मनियन्त्रण द्वारा रोग-शोक-चिन्ता-छीनाझपटीहीन समाजकी स्थापना की जा सकती है। जिनसेनके इस समाजवर्णनका यह अर्थ नही है कि वे जीवनभोगोंकी उपेक्षा करते है, उनका अभिमत है कि श्रेयका मार्ग प्रेयके आँगनसे होकर ही जाता है। अत. विषाद, भय, ग्लानि, घृणा, अरुचि, क्रोध, कृपणता और अनाचारका नियन्त्रण करनेसे ही सुख प्राप्त हो सकता है।

मनुष्य समाजके गठनका प्रमुख उद्देश्य सहभोग और सहप्रवृत्तियोको विकसित करता है। परिवारसे ही उक्त दोनों वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। परिवारके सभी सदस्य परस्पर विकारी वृत्तियोंका समन्वय करते है, अन्यथा किसी एक सदस्यके उत्तेजित होने पर अन्य सदस्य भी उत्तेजित हो जायँ, तो परिवारके विघटनमे विलम्ब न हो। आशय यह है कि व्यक्ति परिवारके मध्यमे रहकर अपनेको सहिष्णु बनाता है, जिससे वह समाजका उपयोगी और सक्रिय सदस्य बनता है। आदिपुराणके समाजकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ है*। यद्यपि समाजका विश्लेषण अगले अध्यायोंमे किया जायगा, पर सांस्कृतिक विशेषताओके उपक्रममे उनका निर्देश करना अनुपयोगी न होगा।

१. आर्थिक समानता—संचयका अभाव, कर्मभूमिमे भी आत्मनियन्त्रण द्वारा भोगभूमीय आर्थिक समानता।
२. जनसंख्याका निरोध—संयमकी प्रवृत्ति।
३. श्रम, शिक्षा और सदाचारकी प्रवृत्ति।
४. उन्नति और विकासके लिए सभीको समान अवसरोंकी प्राप्ति।
५. स्वस्थ और सबल सहकारी वृत्तियोंका जीवनमें प्रतिष्ठान।
६. आवश्यकताओंकी अल्पता।
७. जीवनोचित भोगोंका समान वितरण।

---

* विशेष जाननेके लिए आदिपुराणका नवम पर्व, श्लो० ७२ से ८४ तक देखें। जिस प्रकार पागल कुत्तेके काटनेसे उत्पन्न हुआ विष समय पर अपना प्रभाव दिखलाता है, उसी प्रकार असयमित जीवनका असर समाज पर पडता है, सत्य, क्षमा, दया, करुणा आदि मानवता पोषक गुणोंसे ही उत्तम समाजका गठन संभव है।—१०।१५, १०।१६-२०।

८. संगठन, व्यवस्था, अनुशासन और पारस्परिक सहयोग।

९. आन्तरिक और वहिरंग विकारोंका संस्कृतीकरण।

"न तत्सुखं परद्रव्यमस्वन्धादुपजायते" (२१।२०९)की सामाजिक व्याख्या संस्कृतिकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। परद्रव्य शब्दका विस्तृत अर्थ धनादि ग्रहण करने पर स्तेय, परिग्रह संचय, व्यभिचार आदिका स्वत. निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार "स्वदु.खे निर्घृणारम्भाः परदु.खेषु दुःखिताः। निर्व्यपेक्षं परार्थेषु "। (९।१६४) और अपने दु ख और कष्टको दूर करनेका प्रतिकार न कर दूसरेके दु खको दूर करनेके लिए प्रयत्नशील होना ही सहयोगका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। जिस व्यक्तिमें नि स्वार्थभाव और उदारताकी वृत्ति जाग्रत हो जाती है, वह व्यक्ति समाजका सहयोगी वन जाता है। उत्कृष्ट सदस्य वही है, जो अपने स्वार्थको भूल परस्वार्थको महत्व दे। इस प्रकार आदिपुराणका सास्कृतिक और समाजशास्त्रीय महत्त्व अत्यधिक है।

०

द्वितीय परिच्छेद

आदिपुराण और इतिहास

यो तो पुराणोका ऐतिहासिक दृष्टिसे मूल्य होता है, पर आदिपुराणका इतिहासकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व है। आदिपुराणमे कुलकर, तीर्थकर और चक्रवर्ती जैसे पुण्यपुरुषोके आख्यानके साथ जिनसेनने अपनेसे पूर्ववर्ती विद्वानो और आचार्योका नामोल्लेख किया है, जिससे उन आचार्योके समय-निर्धारणके साथ उनके पाण्डित्यपर भी प्रकाश पडता है। आदिपुराणमे निम्नलिखित विद्वानों के नाम उपलब्ध होते है :—

(१) सिद्धसेन, (२) समन्तभद्र, (३) श्रीदत्त, (४) यशोभद्र, (५) प्रभाचन्द्र, (६) शिवकोटि, (७) जटासिंहनन्दी, (८) काणभिक्षु, (९) देवनन्दी, (१०) भट्टाकलंक, (११) श्रीपाल, (१२) पात्रकेसरी, (१३) वादिसिंह, (१४) वीरसेन, (१५) जयसेन और (१६) कविपरमेश्वर।

सिद्धसेन—इस नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं। आदिपुराणमें कवि[४१]

---

४१. कवयः सिद्धसेनाद्या वयं च कवयो मताः। मणय. पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः॥ —आदिपुराण १।३९।

अकलंकभट्ट[५२]—जैन न्यायमे युगसंस्थापकके रूपमे अकलंकका नाम लिया जाता है। इनका जैसा अतल-तलस्पर्शी पण्डित्य कम ही विद्वानोको प्राप्त होता है। ये 'लघुहव्व' नृपतिके पुत्र और भट्ट उपाधिधारी थे। इनके ग्रन्थोकी शैली अत्यन्त गूढ, संक्षिप्त, अर्थवहुल एवं सूत्रात्मक है। इनका समय वि० सं० ७-८वी शती है। इनकी कृतियाँ—(१) लघीयस्त्रय (२) न्यायविनिश्चय (३) सिद्धि-विनिश्चय (४) अष्टशती (५) तत्त्वार्थराजवर्त्तिक (६) स्वरूपसम्वोधन और (७) प्रमाणसंग्रह स्वोपज्ञ भाष्य सहित मानी जाती है।

श्रीपाल—ये वीरसेन स्वामीके शिष्य और जिनसेनके सधर्मा समकालीन विद्वान् है[५३]। जिनसेनने जयधवलाको इनके द्वारा सम्पादित वताया है। इनका समय वि० सं० ९ वी शती है।

पात्रकेसरी[५४]—इनका जन्म ब्राह्मणकुलमे हुआ था। समन्तभद्रके देवा-गमस्तोत्रको सुननेसे इनकी श्रद्धा जैनधर्मपर हुई थी। पात्रकेसरी न्यायशास्त्रके पारंगत और 'त्रिलक्षणकदर्थन' जैसे तर्कग्रन्थके रचयिता थे। इस समय यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है, पर तत्त्वसंग्रहकार और उनके टीकाकार कमलशीलने इनके इस ग्रन्थके वाक्योंका उल्लेख किया है। इनकी दूसरी रचना 'जिनेन्द्रगुणस्तुति' है, जो 'पात्रकेसरीस्तोत्र' के नामसे प्रसिद्ध है। यह स्तोत्र दार्शनिक है और इसमे ५० पद्य है। पात्रकेसरी देवनन्दीके उत्तरवर्त्ती और अकलंकदेवके पूर्ववर्ती है।

वादिसिंह[५५]—ये उच्चकोटिके कवि और वादिरूपी गजोको परास्त करनेवाले थे। यदि ये वादिसिंह वादीभसिंहसे अभिन्न हो तो इनका समय विक्रम ८वी शताब्दी है। इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध है—(१) क्षत्रचूडामणि (२) गद्यचिन्तामणि और (३) स्याद्वादसिद्धि।

वीरसेन[५६]—ये मूलसंघ पंचस्तूपान्वयके आचार्य थे, इनका संघ सेनसंघके नामसे लोकविश्रुत था। ये आचार्य चन्द्रसेनके प्रशिष्य और आर्यनन्दीके शिष्य थे। जिनसेनाचार्यके ये गुरु वतलाये गये है। वीरसेनाचार्यने चित्रकूटमे एलाचार्यके समीप षट्खण्डागम और कषायप्राभृत जैसे सिद्धान्तग्रन्थोंका अध्ययन किया था। षट्खण्डागमपर ७२ हजार श्लोक प्रमाण 'धवलाटीका' तथा कषायप्राभृतपर २० हजार श्लोक प्रमाण 'जयधवला टीका' वीरसेनने लिखी है। जयधवला टीकाका अवशिष्ट अंश ४० हजार श्लोक प्रमाण स्वयं जिनसेनने लिखा है। गुणभद्राचार्यके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि वीरसेना-

---

५२. भट्टाकलङ्क—वही १।५३। ५३. श्रीपाल…। वही. १।५३। ५४ पात्रकेसरिणा…। वही १।५३। ५५. कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम्। गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः॥—वही १।५४। ५६. श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथ…। लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम्।—वही १।५५-५६।

चार्य द्वारा 'सिद्धभूपद्वृत्ति' नामक ग्रन्थकी टीका भी लिखी गयी थी। इनका समय वि० सं० ९वी शती है।

जयसेन[५७]—ये उग्रतपस्वी, प्रशान्तमूर्ति, शास्त्रज्ञ और पण्डितजनोंमे अग्रणी थे। हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेनने अमितसेनके गुरु जयसेनका उल्लेख किया है। इनका समय वि० सं० की आठवी शती है। जयसेनके नामसे एक निमित्तज्ञान सम्बन्धी प्राकृतभाषामे लिखा ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है, पर निश्चयपूर्वक यह नही कहा सकता कि आदिपुराणोल्लिखित जयसेनसे वह अभिन्न है।

कविपरमेश्वर[५८]—आदिपुराणमे कवि परमेश्वर या परमेष्ठीको 'वागर्थ-संग्रह' नामक पुराणग्रन्थका रचयिता कहा गया है। चामुण्डरायने अपने पुराणमे कवि परमेश्वरके नामसे अनेक पद्य उद्धृत किये है। कन्नड कवि, आदि-पम्प, अभिनवपम्प, नयसेन, अग्गलदेव और कमलभव आदिने आदरपूर्वक कवि परमेश्वरका स्मरण किया है। आचार्य गुणभद्रने परमेश्वरके कथा-काव्यको छन्द, अलंकार और गूढार्थ युक्त बतलाया है। इनके इस कथाग्रन्थकी रचना गद्यमे बतलायी गयी है।

०

तृतीय परिच्छेद

आदिपुराण और काव्यतत्त्व

अलंकार, रस, छन्दोयोजना एवं व्यंग्यार्थकी दृष्टिसे आदिपुराण एक आम कोटिका महाकाव्य है। कविने स्वयं बतलाया है—

यथा महार्घ्यरत्नाना प्रसूतिर्मकरालयात्।

तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात् पुराणतः ॥—आदि० १।१६

जिस प्रकार समुद्रसे वहुमूल्य रत्नोकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार इस पुराणसे सुभाषितरूपी रत्नोकी उत्पत्ति होती है।

स्पष्ट है कि आचार्यने काव्य-चमत्कारके लिए इस पुराणमे सुभाषितोका यथास्थान प्रयोगकर इसे उत्तम प्रवन्ध-काव्य सिद्ध किया है। यहाँ उदाहरणार्थ-कतिपय पद्य प्रस्तुतकर काव्य-चमत्कारपर प्रकाश डाला जायगा।

---

५७. जयसेनगुरुः पातु" वही १।५६। ५८. स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः। वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत् ॥—वही १।६०।

यह ग्रन्थ उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, व्यतिरेक, प्रभृति अलंकारोंका भाण्डार है। कवि विजयार्थकी शोभाका चित्रण उत्प्रेक्षाओं और कल्पनाओं द्वारा करता हुआ कहता है—

मदकलकलकण्ठी डिण्डिमारावरम्या
मधुरविरुतभृङ्गीमङ्गलोद्गीतिहृद्याः।
परिधृतकुसुमार्घास्सम्पतद्भिर्मरुद्भिः
फणिपतिमिव दूरात् प्रत्युदीयुर्वनान्ताः॥
—आदि० १८।२०८

उस पर्वतके वनप्रदेशोंमे प्रवाहित हुआ पवन दूरसे ही धरणेन्द्रके समीप आ रहा था, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो उस पर्वतके वन-प्रदेश ही धरणेन्द्रके सम्मुख आ रहे हों, यत. वे वनप्रदेश मदोन्मत्त सुन्दर कोयलोके शब्दरूपी वादित्रोंकी ध्वनिसे शब्दायमान हो रहे थे, भ्रमरियोके मधुर गुञ्जाररूपी मंगलगानोसे मनोहर थे और पुष्परूपी अर्घ धारण कर रहे थे।

उपर्युक्त पद्यमे कोमलकान्त पदावलीके साथ उपमा और उत्प्रेक्षाको एकत्र योजना की गयी है। कल्पनाकी ऊँची उड़ान भी श्लाघनीय है।

आचार्यने रूपसौन्दर्यके पान द्वारा गहरी लक्षणा की योजना की है। उपमा और रूपकके साथ लक्षणाकी गम्भीरता सहृदय पाठकोको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—

अथ परमविभूत्या वज्रजङ्घः क्षितीशः
पुरममरपुराभं स्वं विशत् कान्तयामा।
शतमख इव शच्या संभृतश्रीः स रेजे
पुरवरवनितानां लोचनैः पीयमानः॥
—आदि० ८।२५५

उत्कृष्ट शोभासे सुशोभित महाराज वज्रजंघने प्रिया श्रीमतीके साथ अत्यन्त वैभवपूर्वक अमरपुरीके तुल्य दिव्य और सुन्दर अपने उत्पलखेटक नगरमे प्रवेश किया। प्रवेश करते समय नगरकी वनिताओंने अपने नेत्रों द्वारा उनके सौन्दर्य रसका पान किया। वह वज्रजंघ शचि सहित इन्द्रके समान प्रतीत हो रहा था।

मानवके अन्तस्तलमे क्षण-क्षणमे उत्पन्न होनेवाले भावोंके निरीक्षण तथा अभिव्यञ्जनमे जिस कविकी वाणी रमती है, वही सच्चा कवि कहलाता है। वाह्य सौन्दर्यकी अपेक्षा अन्तरंग सौन्दर्यके वर्णनमे कविके कवित्वका सच्चा परिचय मिलता है। आकाश, नदी, सरोवर, पर्वत-वनप्रदेशके सौन्दर्यमे एकरूपताके कारण विशेष आकर्षण नही रहता, पर मानव-हृदयमे उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष, प्रेम-रति, घृणा-सौहार्द निरन्तर परिवर्तित होते रहते है, अत. कुशल कवि इन

भावोके यथार्थ रहस्यको अभिव्यक्तकर जनमानसको अनुरंजित करता है। आदि-पुराणमे भावोमे तीव्रता तथा प्रभावशीलता लानेके हेतु अप्रस्तुत विधानकी योजना की गयी है। इसमे शब्दोका सौष्ठव, पदावलीका मधुमय विन्यास एवं अलंकरणकी रमणीयता सर्वत्र पायी जाती है। मनोभावो, हृदयकी वृत्तियो एवं विभिन्न दशाओंमे उत्पन्न होनेवाले मानसिक विकारोका चित्रण बडी ही कमनीय भाषामे प्रस्तुत किया गया है। राग और द्वेष, हर्ष और विषाद, प्रेम और करुणा, उत्साह और अवसाद आदि जितने भाव मानव हृदयको अपना रगस्थान बनाते है, उनका चित्रण जिनसेनकी ललित लेखनी द्वारा सम्पन्न हुआ है।

इस महाग्रन्थमे हरे-भरे वन, वायुके मन्द-मन्द झोकोसे थिरकती हुई पुष्पित-पल्लवित लताएँ, कल-कल निनाद करती हुई सरिताएँ, विकसित कमलोद्भासित सरोवर, उत्तुंग गिरिमालाएँ, पर्वतीय-निर्झर, विद्युतशोभित श्यामल घनघटाएँ, कलरव करते हुए पक्षी, प्राचीमे सिन्दूररसकी अरुणिमा विकीर्ण करनेवाला सूर्योदय लोकलोचनाह्लादकारी चन्द्रोदय, पादपोके साथ रम्यक्रीडाएँ करती हुई लताएँ, सूर्यरश्मियोके सम्पर्कसे स्वर्णाभा प्राप्त वालुकाकण, एवं हिमाच्छादित पर्वतमालाएँ रमणीयरूपमे चित्रित हुई है। रमणीके रूपचित्रणमे जिनसेनने अपूर्व काव्यचमत्कार प्रदर्शित किया है। श्रीमतीकी शारीरिक सम्पत्तिका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

> नाभिरन्ध्रादधस्तन्वीं रोमराजीमसौ दधे।
> उपध्नान्तरमन्विच्छो: कामाहेः पदवीमिव ॥—आदि० ६।६९
> लतेवासौ मृदू बाहू दधौ विटपसच्छवी।
> नखांशुमञ्जरी चास्या धत्ते स्म कुसुमश्रियम् ॥—वही ६।७०
> मुखमस्या दधे चन्द्रपद्मयोः श्रियमक्रमात्।
> नेत्रानन्दि स्मितज्योत्स्नं स्फुरद्दन्तांशुकेशरम् ॥—वही ६।७५

अर्थात्—श्रीमती नाभिरन्ध्रके नीचे एक पतली रोमराजिको धारण कर रही थी, जो ऐसी प्रतीत होती थी, मानो दूसरा आश्रय चाहनेवाले कामदेवरूपी सर्पका मार्ग ही हो। वह स्वयं लताके समान थी, उसकी भुजाएँ शाखाओके समान और नखरश्मियाँ पुष्पोके तुल्य शोभित होती थी।

नेत्रोको आनन्दित करनेवाला उसका मुख एक ही साथ चन्द्रमा और कमलकी शोभाको धारण करता था, क्योकि वह हास्यरूपी ज्योत्स्नासे चन्द्रमाके समान तथा दन्तरश्मिरूपी केशरसे कमलके तुल्य प्रतीत होता था।

इस सन्दर्भमे कविकी एक नयी कल्पना दर्शनीय है। वह कहता है कि विधाताने रूपलावण्य-युक्त-सर्वसुन्दरी लक्ष्मीका निर्माण किया था, पर यह लक्ष्मी अपनी चञ्चलताके कारण शीलभंग कर चुकी है, जिससे विधाताको अपनी इस

कृतिके कारण अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ। वह अपनेको पापी समझ कर धिक्कारने लगा। इस पापका प्रक्षालन करनेके लिए ही उसने इस सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी श्रीमतीका निर्माण किया है। यह श्रीमती रूपवती होनेके साथ शीलवती भी है; अतएव रूप-शीलका संयोग एकत्र देखनेके लिए ही विधाताने इस अनुपम नारीका सृजन किया है। यथा—

लक्ष्मी चला विनिर्माय यदागो वेधसार्जितम्।
तन्निर्माणेन तन्नूनं तेन प्रक्षालितं तदा ॥—आदि० ६।८२

आदिपुराणकारका मन उग्र और उद्दाम वस्तुओके वर्णनमे भी उतना ही रमा है, जितना सुकुमार और मधुरवस्तुओके चित्रणमे। इस ग्रन्थके अध्ययनसे अनुभववृद्धिके साथ प्रकृति और मानवजीवनके तादात्म्यकी भावना उत्तरोत्तर दृढ़ होती जाती है। वज्रजंघ शरत्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमे अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ विभिन्न प्रकारकी क्रीडाएँ करता हुआ आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। कभी वह श्रीमतीके कानोमे नीलकमलका आभूषण पहनाता है, तो कभी अशोकवृक्षके नवीन पल्लवोका। वह जलक्रीड़ा और जलविहार द्वारा अपनी प्रियाका अनुरञ्जन करता है। श्रीमतीका शरीर चन्दनके द्रवसे लिप्त हो रहा था, उसका कंठ हारसे सुशोभित था एवं वह शिरीषपुष्पोके आभरणसे युक्त हो वज्रजंघको आकर्षित कर रही थी। यथा—

चन्दनद्रवसिक्ताङ्गी प्रियां हारविभूषणाम्।
कण्ठे गृह्णन् स घर्मोत्थं नाज्ञासीत् कमपि श्रमम् ॥—आदि० ९।११
शिरीषकुसुमैः कान्तामलंकुर्वन् वतंसितैः।
रूपिणीमिव नैदाघीं श्रियं तां बह्वमंस्त सः ॥—वही ९।१२
कदंबानिलसंवाससुरभीकृतसानवः।
गिरयोऽस्य मनो जह्रुः काले नृत्यच्छिखावले ॥—वही ९।१७

इस प्रकार आदिपुराणमे एक-से-एक बढकर सुन्दर चित्र अंकित किये गये है। काव्यकी दृष्टिसे इस ग्रन्थमें गगाका चित्रण भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। गंगामे मानवीकरण किया गया है—बताया है कि वनपंक्ति गंगाके वस्त्र है, बालूके टीले नितम्ब है, भँवर नाभि है, अतएव वह एक तरुणी रमणीके समान प्रतीत होती है। यह मानवीकरण काव्यकी दृष्टिसे अत्यन्त हृदयावर्जक है। तरंगोंको सखियोका रूपक और पुलिनको नितम्बका रूपक सारसपंक्तिकी काचीके साथ मनोरम बन गया है :—

शरदुपहितकान्तिं प्रान्तकान्तारराजी—
विरचितपरिधानां सैकतारोहरम्याम्।

युवतिमिव गभीरावर्तनाभिं प्रपश्यन्,
प्रमदमतुलमूहे क्ष्मापतिः स्व.स्रवन्तीम् ॥—आदि० २६।१४८

कल्पना और छन्दोयोजनाकी दृष्टिसे इस ग्रन्थका २८ वाँ पर्व विशेष महत्त्व-पूर्ण है। इसमें अनुष्टुप्‌के अतिरिक्त पृथ्वी (२८।१६९), वसन्ततिलका (२८।१७३), मालिनी (२८।१७८), प्रहर्षिणी (२८।१८०), दोधक (२८।१८१), भुजंगप्रयात (२८।१८३) मत्तमयूर (२८।१८५), तोटक (२८।१८८), मन्दाक्रान्ता (२८।१९२) शार्दूलविक्रीडित (२८।१९८), स्रग्धरा (२८।२०१), शिखरिणी (२८।२०७) एवं हरिणी (२८।२२१) छन्दोंका व्यवहार किया गया है।

इस योजनाकी दृष्टिसे यह उत्तम कोटिका ग्रन्थ है। नवरसोंमेंसे शान्त, शृंगार, करुण, वीर एवं रौद्रका चित्रण प्रमुखरूपसे आया है। शृंगार रसके मूल भाव काम अथवा रतिकी व्यापकता बतलायी गयी है। संयोग और वियोग इन दोनो अवस्थाओंका चित्रण करनेमें आदिपुराणकार जिनसेनको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। मरुदेवी-नाभिराय, श्रीमती-वज्रजंघ, यशस्वती-ऋषभदेव, सुलोचना-जयकुमार-प्रभृतिका संयोग शृगार साङ्गोपाङ्ग चित्रित है। वज्रजंघ और श्रीमती-के षड्ऋतु सम्बन्धी भोगोपभोगोका शृगारिक वर्णन हृदयावर्जक है। यहाँ उदाहर-णार्थ वर्षा ऋतुके भोगोको प्रस्तुत किया जाता है—

विकासिकुटजच्छन्ना भूधराणामुपत्यकाः।
मनोऽस्य निन्युरौत्सुक्यं स्वनैरुन्मदकेकिनाम् ॥
कदम्बानिलसंचाससुरभीकृतमानवः।
गिरयोऽस्य मनो जह्रु काले नृत्यच्छिखावले ॥
अनेहसि लसद्विद्युद्द्योतितविहायसि।
स रेमे रम्यहर्म्याग्रमधिशय्य प्रियासखः ॥
सरितामुद्धताम्भोभिः प्रियामानप्रधाविभिः।
प्रवाहैर्धृतिरस्यासीत वर्षर्तौ समुपागमे ॥—आदि० ९।१६–१९

वर्षा ऋतुमे खिले हुए कुटज जातिके वृक्षोसे व्याप्त पर्वतके समीपकी भूमि उन्मत्त हुए मयूरोके शब्दोसे राजा वज्रजंघका मन उत्कंठित कर रही थी। नृत्य-करनेवाले मयूर एव कदम्बपुष्पोकी वायुसे सुगन्धित शिखरवाले पर्वत वज्रजंघका मनहरण कर रहे थे। चमकती हुई बिजलीसे आकाश प्रकाशित हो रहा था, अतः वर्षाकालमे वह अपने रमणीय भवनके अग्रभागमे प्रिया श्रीमतीके साथ शयन करता था।

वर्षा ऋतुके आने पर स्त्रियोका मान दूर करनेवाले और उछलते हुए जलसे शोभायमान नादियोके पूरसे उसे बहुत सन्तोष प्राप्त होता था।

इस प्रसंगमे मयूरका केकीरव, विद्युतका प्रकाश, मेघोंकी जलवर्षा, कदम्बपुष्पों-की सुगन्धित वायु श्रृंगाररसको उद्दीप्त कर रहे है। नायक-नायिकाकी श्रृंगारिक चेष्टाएँ भी वर्णित है। श्रीमती विजलीसे भयभीत होकर स्वयं ही वज्रजंघ का आलिंगन करती थी। अत. आलम्बन स्वयं नायक-नायिका है, वर्षाऋतु उद्दीपन है और विद्युत प्रकाश, सुगन्धित वायु श्रृंगारको रसावस्था तक पहुँचानेमे सहायक हैं। विभाव और अनुभावोंका भी पूरा चित्रण पाया जाता है।

वियोग श्रृंगारका चित्रण षष्ठ और सप्तम पर्वमे आया है। यशोधर गुरुके कैवल्य-महोत्सवके लिए जानेवाले देवोको आकाशमे जाते देखकर श्रीमतीको पूर्वभवका स्मरण हो आया और वह ललिताग देवका स्मरण कर दु:खी होने लगी। श्रीमतीके चित्रपटमे पूर्वभवकी घटनाओंका प्रतीकात्मक अंकन देखकर वज्रजंघको भी पूर्वभवकी प्रियाका स्मरण हो गया, जिससे वह वियोग-जन्य दीनताको प्राप्त हुआ। इस सन्दर्भमे उक्त दोनो नायक-नायिकाकी चेष्टाएँ वियोग श्रृंगारके अन्तर्गत समाविष्ट हैं। पुराणकार कहता है—

उदश्रुलोचनश्चायं दशामन्त्यामिवोपयन्।
दिष्ट्या सधारितोऽभ्येत्य तदा सख्येव मूर्च्छया ॥
प्रत्याश्वासमथानीत. सोपायं परिचारिभिः।
त्वदर्पितमनोवृत्तिः सोऽदर्शत्त्वन्मयीर्दिशः ॥—आदि० ७।१२८; ७।१२९

अर्थात्—प्रियाका स्मरण कर वज्रजंघके नेत्रोसे आसू झर रहे थे, वह अन्तिम अवस्था—मरणावस्थाको प्राप्त होना ही चाहता था, कि संयोगवश मूर्च्छाने सखिके समान उसे पकड लिया। उसकी इस अवस्थाको देखकर चित्रलिखित मूर्त्तियोको भी कष्ट हो रहा था। परिचारको द्वारा उपाय किये जाने पर उसकी चेतना लौटी और वह शून्यके समान खोया हुआ-सा चारो ओर देखने लगा।

इस पुराणमे वियोग श्रृंगारका सरसचित्रण अनेक स्थानोंपर आया है। विरहीकी कामोन्माद जन्य सभी अवस्थाएँ अभिव्यक्त हुई है।

शान्तरस तो इस ग्रन्थका रसराज है। अन्य सभी रस इसी सागरमे समाविष्ट हो जाते है। जीवन-भोगोको भोगनेके अनन्तर प्रत्येक आख्यानका नायक संसारसे विरक्त हो जाता है। वह शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहता है। अतएव गुरुका समागम प्राप्त कर मोक्षमार्गका पथिक वन जाता है। अब वह सामाजिकता से वैयक्तिकताकी ओर अग्रसर होता है, उसका प्रत्येक प्रयास जीवन-शोधनकी दिशामें ही सम्पन्न होता है। यहाँ उदाहरणार्थ महाराज वज्रदन्तके सन्दर्भको उपस्थित किया जाता है। वज्रदन्त सुगन्धि-लोलुपी भ्रमरको झालके भीतर मृत देखकर संसारकी अनित्यताका चिन्तन करने लगा। वताया है—

विषया विषमाः पाके किम्पाकसदृशा इमे ।
आपातरम्या धिगिमाननिष्टफलदायिनः ॥—आदि० ८।६६
अहो धिगस्तु भोगाङ्गमिदमङ्गं शरीरिणाम् ।
विलीयते शरन्मेघविलायमतिपेलवम् ॥—वही ८।६७
वपुरारोग्यमैश्वर्यं यौवनं सुखसम्पदः ।
वस्तुवाहनमन्यच्च सुरचापवदस्थिरम् ॥ वही, ८।७०

अर्थात्—प्राणियोका यह शरीर जो विषय-भोगोका साधन है, शरद् ऋतुके बादलके समान क्षणभरमे विलीन हो जाता है। ये संसारके मनोज्ञ विषय किंपाक फलके समान देखनेमे रमणीय और उपयोगमें प्राणान्त करनेवाले हैं। यह लक्ष्मी विद्युतकी चमकके समान अस्थिर हे, इन्द्रिय-सुख और धनधान्यादि वैभव सभी क्षणविध्वंसी है। जो भोग संसारी जीवोको लुभानेके लिए आते है, वे लुभाकर नष्ट हो जाते है। शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, सुखसम्पदा, गृह, सवारी आदि सभी पदार्थ इन्द्रधनुपके समान अस्थिर है। तृणाग्रपर स्थित जलबिन्दुके समान इन विषय-भोगोका सेवन करने पर शान्तिकी प्राप्ति नही होती। अतएव विषय-भोगोसे विरक्त होकर शाश्वत सुखकी उपलब्धिके लिए प्रयास करना चाहिए।

इस सन्दर्भमे संसार और विषय-भोगोंकी विगर्हणा की गयी है तथा प्रशम गुणकी प्राप्तिका प्रयास किया है। अत. इसे शान्तरसका उदाहरण माना जा सकता है। भरत और बाहुबलीके युद्ध सन्दर्भको वीररसका उदाहरण कहा जा सकता है। इसी प्रकार जयकुमार और अर्ककीर्तिके सन्दर्भको भी वीररसका चित्रण मानना तर्कसंगत है।

संक्षेपमे इस पुराणको प्रबन्धकाव्य कहना अधिक युक्त है। इसमे (१) इतिवृत्त (२) वस्तुव्यापारवर्णन (३) भावाभिव्यञ्जन और (४) संवाद ये चारो ही प्रबन्धकाव्यके अवयव पाये जाते हैं। काव्यात्मकता लाने और रोमांचक गुण उत्पन्न करने की दृष्टिसे इस ग्रन्थमें अलौकिक और अप्राकृत शक्तियोंके कार्योंका भी वर्णन आया है। देवो द्वारा उत्सव सम्पन्न करना तथा माताकी सेवामे देवियों का उपस्थित रहना, गर्भके छ महीना पहलेसे ही रत्नोकी वर्षाका होना, देवो द्वारा समवशरण सभाका निर्मित होना, आकाशमे गमन करना एवं भविष्य वाणियोकी घोषणा करना आदि कार्य उक्त श्रेणीके ही माने जा सकते है। नायकोंके प्रेम, विवाह, राज्यप्राप्ति, युद्ध, विजय आदिका विस्तार पूर्वक वर्णन भी आया है। आख्याननायकोके चरित्रमें वैयक्तिक विशेषताओंका भी समावेश किया है।

इस पुराणमें ऋषभदेवके प्रधाननायक होनेपर भी अनेक नायकोकी कल्पना की गयी है। भरतको भी नायक माना जा सकता है, इसी प्रकार श्रीपाल और जय-कुमार भी नायक है। अतएव अनेक नायकोका होना प्रबन्धत्वमे कमी नही करता

है, पर महाकाव्यकी श्रेणीसे उसे नीचे गिरा देता है। घटनाओं और अवान्तर कथाओमे भी वैसा ही कथाविस्तार पाया जाता है, जैसा आदितीर्थंकरके आख्यान मे है। इतना सब होने पर भी कथावस्तु, रूप-शिल्प और वस्तुव्यापारवर्णनमे सन्तुलन बना हुआ है। इसी सन्तुलनके कारण इसे प्रबन्धकाव्यके पदपर आसीन किया जा सकता है। विशिष्ट समाजके मध्य दरबारी सामन्तशाही वातावरणका भी चित्रण पाया जाता है। इसमे प्रबन्धकाव्यके निम्नलिखित प्रमुख गुण समाहित हैं—

१ महद्उद्देश्य
२ महच्चरित्र
३ महती घटना
४ समग्र जीवनका रसात्मक चित्रण
५ रसानुरूप सन्दर्भ
६ अर्थानुरूप अलंकार और छन्द
७ लोकरंजकता
८ अनेकनायकत्व
९ प्रकृति-चित्रण और जीवन-व्यापार-वर्णन
१० अलौकिक और अप्राकृत तथ्योका नियोजन
११ उदात्त शैलीका प्रयोग
१२ प्रमुख कथाके समानान्तर अवान्तर कथाओका विन्यास
१३ जीवनके विविध पक्षोका उद्घाटन
१४ विविध सौन्दर्यका सूक्ष्म और प्रचुर वर्णन

०

चतुर्थ परिच्छेद

पुराणतत्त्व और आदिपुराणकी कथावस्तु

वाङ्मय ग्रथनकी तीन प्रकारकी शैलियाँ उपलब्ध होती है—(१) तथ्यनिरूपण (२) रूपकथन एवं (३) आलंकारिक या अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतिपादन। प्रथम प्रकारकी शैलीका प्रयोग व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं सूत्रग्रन्थके प्रणयनमे पाया जाता है। द्वितीय प्रकारकी शैली मन्त्र, तन्त्र, द्रव्यानुयोग एवं उनके व्याख्यान ग्रन्थोके निबन्धनमे प्रयुक्त होती है। पौराणिक वाङ्मयके ग्रथनमे

तृतीय प्रकारकी शैलीका व्यवहार पाया जाता है। अतः पुराणोके परिशीलनके समय अतिशयोक्तिपूर्ण कथनोंको हटा देनेपर समाजशास्त्रके अनेक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ उपस्थित हो जाते हैं। आदिपुराणमें पौराणिक तत्त्वोंका उल्लेख आया है, इस उल्लेखके अध्ययनसे चरित और पुराणकी विशेषताओंको अवगत किया जा सकता है।

आदिपुराणमे "पुरातनं पुराणं स्यात्" (आदि० १।२१)—प्राचीन आख्यानोंको पुराण कहा है। जिसमे एक शलाकापुरुषका वर्णन आता है, वह पुराण है। सत्पुरुषके चरितकी कथावस्तु पुराणमे समाविष्ट होती है। इसी चरितात्मक वस्तु के कारण ऐसी रचनाओंको चरित भी कहा जाता है। पुराणका प्रमुख तत्त्व पौराणिक विश्वास है। पौराणिक विश्वास प्राचीन परम्परासे प्राप्त है तथा इनमे प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे कोई न कोई कथा अवश्य रहती है। साधारण कथा और पौराणिक कथामे यह अन्तर होता है कि साधारण कथाको समाजके लोग कल्पना मान सकते है, पर पौराणिक कथाएँ सत्य समझी जाती है। इनका उद्देश्य विभिन्न प्रकारकी वस्तुओं, विश्वासो, रीति-रिवाजोंकी उत्पत्ति और उपयोगिता समझना है। निस्सन्देह पौराणिक विश्वासों और आख्यानोंका धर्मके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योकि ये प्रकृतिकी शक्तियों, देवों और अन्य शक्तियोंकी स्थितिका रहस्य समझते हैं और उससे मनुष्यका सम्बन्ध स्थापित करते है। धार्मिक क्रियाकाण्ड, पूजा-प्रतिष्ठाका भी पुराणोंके साथ अभिन्न सम्बन्ध पाया जाता है। पुराणतत्त्वोंकी गणना इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एंड माइथोलॉजीके अनुसार) निम्न प्रकार की जा सकती है :—

१ महापुरुष—शलाकापुरुषका चरित।
२ ऋतुपरिवर्तन और प्रकृतिकी वस्तुओंके भीतर होनेवाले सामयिक परिवर्तन।
३ अन्य प्राकृतिक शक्तियों और वस्तुओंसे सम्बन्धित।
४ आश्चर्यजनक और असाधारण घटनाओंसे सम्बन्धित।
५ विश्व, लोक और स्वर्ग-नरकादिकी व्यवस्था।
६ युगारम्भ या सृष्टि आरम्भ, प्रलयसे सम्बन्धित।
७ पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, आदिसे सम्बन्धित।
८ वंश, जातियों और राष्ट्रोंकी उत्पत्तिसे सम्बन्धित।
९ सामाजिक संस्थाओं और धार्मिक मान्यताओंका वर्णन।
१० ऐतिहासिक घटनाओंका प्रतिपादन।
११ आदिम मान्यताओं और टोटकोंका विवेचन।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिकामे भी निजन्धरी कथाओं, वंशानुक्रम और

इतिहासको पौराणिक विश्वासोके भीतर समाविष्ट किया गया है। बताया है—

'Mythology—the science which examines mythes or legends of cosmogony and of Gods and heroes. It is also used as a term for these legends themselves. Thus mythology of Greek means the whole body of Greek divine and heroic and cosmogonic legends."[५९]

पुराणके वर्ण्य विषयमे उत्तरोत्तर विकास होता रहा है। पञ्चलक्षणात्मक[६०] मान्यता ईसाकी प्रारंभिक शताब्दियोमे प्रचलित हुई है। महाभारतमे पुराणके विषयका प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि मनोहर कथाओ और मनीषियोके चरितोका रहना आवश्यक है। यथा—

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।

कथ्यन्ते ये पुरास्माभि. श्रुतपूर्वा. पितुस्तव ॥—महाभारत, गीताप्रेस १।५।२

पुराणोके विषयोंका विवेचन करते हुए श्री के० एम० पणिक्करने लिखा है—"धर्मशास्त्रके लेखकोको ईसासे पहले ही पुराणोके प्राचीन रूपका ज्ञान था, किन्तु महाभारत काव्यका जो रूप हमारे सामने है, वह गुप्तकालकी देन है। बडे-बडे पुराणोके संग्रह भी तैयार हुए। इस कालमे इन ग्रन्थोको फिरसे व्यवस्थित रूपमे संशोधित और सम्पादित किया गया। उनमे जोड-घटाव इस प्रकार किया गया कि वे पूर्णतः नये साहित्यके रूपमे परिणत हो गये। महाभारत हिन्दुओके लिए एक महाकाव्यसे कही बढ़-चढकर है। इसमे भारतकी राष्ट्रीय परम्पराकी निधि छिपी पडी है। यह नीति आचार और धर्मका तथा राजनीतिक कर्त्तव्योंका वृहद्विश्वकोष है"।[६१]

विष्णुपुराणमे पुराणका वर्ण्य विषय—(१) आख्यान (२) उपाख्यान (३) गाथा और कल्पशुद्धिके रूपमे माना है।[६२] वस्तुत पुराणमे चरित, आख्यान और घटनाओके अतिरिक्त आचार, धर्म-दर्शन, ज्योतिष-निमित्त, वंशोकी उत्पत्ति, धर्म-गुरुओके आख्यान, तीर्थोका महत्त्व, प्राकृतिक वस्तुओके इतिवृत्त, भौगोलिक स्थानो का निर्देश, पुरातनविश्वास प्रभृति विषयोका भी समावेश पाया जाता है। पुराण एक प्रकारसे ज्ञान-विज्ञानके कोश ग्रन्थ माने गये है। जीवन और इतिहासके

---

५९. Encyclopaedia Britannica Vol 19, 11th Edition, P 128.
६०. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च। सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरित च यत् ॥—विष्णु-पुराण, गीता प्रेस ३।६।२५। ६१. भारतीय इतिहासका सर्वेक्षण—एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९५७ ई०, पृ० ५३-५४। ६२. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि : कल्पशुद्धिभि। पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः ॥—विष्णुपुराण ३।६।१५।

अध्ययनकी दृष्टिसे पुराणसाहित्यका महत्त्व अन्य किसी काव्य-विधाकी अपेक्षा कम नही है।

आदिपुराणमे पुराणकी परिभाषा दो स्थानोपर उपलब्ध होती है। प्रथम परिभाषामे[६३] बताया है कि जिसमे क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष एवं सत्पुरुषोंकी चेष्टाएँ वर्णित हो, वह पुराण है। ऊर्ध्व, मध्य और पातालरूप तीन लोकोकी रचनाको क्षेत्र कहते है। भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीन कालोंका जो विस्तार है, उसे काल कहते है। मोक्षप्राप्तिके उपायभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रको तीर्थ कहते है। इस तीर्थका सेवन करनेवाले शलाकापुरुष सत्पुरुष कहलाते है और पापोको नष्टकरनेवाले उन सत्पुरुषोके न्यायोपेत आचरणको उनकी चेष्टाएँ अथवा क्रियाएँ कहते है।[६४] पुराणके वर्ण्य विषयके अन्तर्गत उक्त पाँच विषयोके साथ अन्य विषय भी समाविष्ट हुए। फलतः जिनसेनाचार्यने पुराणकी परिभाषा और उसके वर्ण्य विषयपर पुन. विचार किया तथा इसके आठ वर्ण्य विषय बतलाये :—[६५]

१ लोक—त्रिलोकका वर्णन।

२ देश-जनपदोका चित्रण।

३ नगर—अयोध्या, वाराणसी प्रभृति नगरियोंका चित्रण।

४ राज्य—राज्योको समृद्धिका चित्रण।

५ तीर्थ—तीर्थ—धर्मप्रवृत्ति एवं तीर्थभूमियोका निरूपण।

६ दान-तप—तप-दानको फलोत्पादक कथाओंका वर्णन।

७ गति—चतुर्गतिके सुख-दु खोका कथन।

८ फल—पुण्य-पापके फलके साथ मोक्षप्राप्तिका निरूपण।

जिनसेनने उक्त वर्ण्य विषयका प्रतिपादन करते हुए बतलाया है कि लोकका नाम, उसकी व्युत्पत्ति, प्रत्येक दिशा तथा उसके अन्तरालोकी लम्बाई-चौड़ाई आदिका वर्णन करना लोकाख्यान है। लोकके किसी एक भागमे स्थित देश, पहाड, द्वीप तथा समुद्र आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करना देशाख्यान है। देशके अन्तर्गत पुर या नगरकी समृद्धिका तथ्य और कल्पनामूलक चित्रण करना पुर या नगराख्यान है। नगराधिपतिके वैभव, विलास, राज्यविस्तार एवं राज्यव्यवस्थाका चित्रण करना राज्याख्यान है। जो संसारसे पार करे, उसे तीर्थ कहते है, ऐसा तीर्थ तीर्थकरका चरित ही हो सकता है। अतएव तीर्थकरके चरितका

---

६३ स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं पञ्चधा विदुः। क्षेत्रं कालश्च तीर्थं च सत्पु सस्तद्विचेष्टितम् ॥ आदि० २।३८. ६४. क्षेत्र त्रैलोक्यविन्यासः कालस्त्रैकाल्यविस्तरः। मुक्त्युपायो भवेत्तीर्थं पुरुषास्तन्निषेविणः ॥वही २।३९ ६५ लोको देश. पुरं राज्यं तीर्थं दानतपोऽन्वयम्। पुराणेष्वष्टधाख्येय गतयः फलमित्यपि ॥ वही, ४।३।

वर्णन करना तीर्थाख्यान है। तप-दानके महत्त्वको सूचित करनेवाली कथाओका चित्रण करना तप-दान कथा है। नरकादि चारो गतियोके जीवोकी विभिन्न अवस्थाओका निरूपण करना गत्याख्यान है। संसारी जीवोको पुण्य-पापका फल प्राप्त होता है, उसका मोक्षप्राप्ति पर्यन्त वर्णन करना फलाख्यान है। इस प्रकार पुराणके वर्ण्य विषयका विस्तार होता हुआ दिखलायी पडता है।[६५]

जिनसेनने पुराणको सत्कथा कहा है और कथाके सात अंग वतलाये है। द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत इन सात अंगोसे युक्त और अलंकृत चमत्कारपूर्ण वर्णनोसे शोभित सद्धर्मकथा कहलाती है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छ द्रव्य है। ऊर्ध्व, मध्य और पाताल ये तीन लोक क्षेत्र कहलाते है। तीर्थंकरका चरित अथवा अन्य किसी मोक्षगामी व्यक्तिका चरित तीर्थ है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन काल है। क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक ये दो भाव है। तत्त्वज्ञानका होना फल कहलाता है और वर्णनीय कथावस्तु प्रकृत हैं। इस प्रकार उक्त सप्तागसे युक्त पुराण होता है।

जिनसेन द्वारा दी गयी पुराणकी परिभाषाओ और वर्ण्य विषयोंपर आलोचनात्मक दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि विष्णुपुराण प्रभृति ग्रन्थोंमे प्रतिपादित पञ्चलक्षण परिभाषा "पुराणं पञ्चधा"के रूपमे स्वीकृत की गयी है। पञ्चलक्षण और पञ्चधारूप परिभाषामे तथ्यनिरूपणकी दृष्टिसे कोई विशेष अन्तर नही है। यहाँ जिनसेन द्वारा प्रयुक्त 'सत्पुरुष' और 'तीर्थ' ये दो शब्द अध्ययनीय है। सत्पुरुषकी व्याख्या शलाकापुरुषके रूपमे गृहीत है। इसमे मन्वन्तर विद्वत्ताके प्रतिनिधि ऋषि-मुनियोंके चरित एवं चक्रवर्ती आदि राजाओके चरित भी समाविष्ट है। काल और क्षेत्रके अन्तर्गत सृष्टिके प्रारम्भसे प्रलय तकका इतिवृत्त ग्रहण किया जा सकता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ तीर्थ एवं सत्पुरुषोंकी क्रियाओमे अन्तर्भूति है। सामाजिक रीति-रिवाज, कार्यफल एवं विभिन्न प्रकारके जीवनभोग भी सत्पुरुषोकी क्रियाओंमे परिगणित किये जा सकते है। अतएव यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नही है कि पञ्चलक्षण परिभाषाके आधारपर जिनसेनने 'पञ्चधा' परिभाषा निवद्ध की है।

आदिपुराणमे जिन आठ प्रकारके वर्ण्य विषयोका समावेश जिनसेनने किया है, वह उनकी निजी विशेषता है। वस्तुतः जिनसेन द्वारा कथित आठ विषयोंमे अन्य

---

६५ लोकोद्देशनिरुक्त्यादिवर्णनं यत् सविस्तरम्। लोकाख्यान तदाम्नात विशोधितदिगन्तरम् ॥ तदेकदेशदेशाद्रिद्वीपाब्ध्यादिप्रपञ्चनम्। देशाख्यान तु तज्ज्ञेय तज्ज्ञै. सज्ञानलोचनैः ॥ भरतादिषु वर्षेषु राजधानीप्ररूपणम्। पुराख्यानमितीष्ट तत् पुरातनविदा मते ॥ अमुष्मिन्नधिदेशोऽयं नगर चेति तत्पतेः। आख्यान यत्तदाख्यातं राज्याख्यानं जिनागमे ॥ ससाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते वही ॥ ४।५–११।

सभी वर्ण्य विषयोंका अन्तर्भाव हो जाता है। आदिपुराणके अध्ययनसे निम्नलिखित पुराणतत्त्व स्फुटित होते है :—

१ शलाकापुरुषोके कथानक संयोग और देवी घटनाओ पर आश्रित।
२ आख्यानोमे सहसा दिशापरिवर्तन।
३ समकालीन सामाजिक समस्याओका उद्घाटन।
४ पारिवारिक जीवनके कटु-मधु चित्र।
५ संवादतत्त्वकी अल्पता रहनेपर भी घटनासूत्रों द्वारा आख्यानोमे गतिमत्व धर्मकी उत्पत्ति।
६ कथाओके मध्यमे पूर्वजन्मके आख्यानोका समवाय, धर्मतत्त्व और धर्म सिद्धान्तोंका नियोजन।
७ रोचकता मध्य विन्दु तक रहती है, इसके आगे कथावस्तुकी एकरूपताके कारण आकर्षणकी न्यूनता।
८ अलंकृत वर्णनोके साथ लोकतत्त्व और कथानक रूढियोंका प्रयोग।
९ लोकानुश्रुतियाँ, पुराणगाथाएँ, परम्पराएँ, लोकविश्वास प्रभृतिका संयोग।
१० प्रेम, शृंगार, कुतूहल, मनोरंजन, रहस्य एवं धर्मश्रद्धाका वर्णन।
११ जनमानसका प्रतिफलन, पूर्वजन्मके संस्कार और फलोपभोगोकी तरलताका चित्रण।

संक्षिप्त कथावस्तु

आदिपुराणकी कथावस्तुके प्रधान नायक आदितीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती है। इन दोनो शलाकापुरुषोके जीवनसे सम्पर्क रखनेवाले कितने ही अन्य महापुरुषोकी कथाएँ आयी है। इस महाग्रन्थकी कथावस्तु ४७ पर्वोंमे विभक्त है। प्रथम दो पर्वोंमे कथाके वक्ता-श्रोता एवं पुराण श्रवणका फल आदि वर्णित है। तृतीय पर्वमे उत्सर्पण और अवसर्पण कालोके सुषम-सुषमादि भेदो एव भोगभूमिकी व्यवस्थापर प्रकाश डाला गया है। प्रतिश्रुति आदि कुलकरोकी उत्पत्ति, उनके कार्य और उनकी आयु आदिका वर्णन आया है। अन्तिम-कुलकर नाभिरायके समयमे गगनाङ्गणमे सर्वप्रथम घनघटा, विद्युत्प्रकाश और सूर्यकी स्वर्णिम रश्मियोके सम्पर्कसे उसमे रंग-विरगे इन्द्रधनुष दिखलायी पडते है। वर्षा होती है और वसुधातल जलमय हो जाता है। मयूर नृत्य करने लगते है और चिरसन्तप्त चातक सन्तोषकी साँस लेता है। कल्पवृक्ष नष्ट हो जाते है और विविध प्रकारके धान्य अपने आप उत्पन्न हो जाते है। कल्पवृक्षोके न रहनेसे प्रजामे व्याकुलता व्याप्त हो जाती है और सभी लोग आजीविका विहीन दुःखी हो नाभिरायके पास जाकर निर्वाहयोग्य व्यवस्था पूछते है।

नाभिराय चौदहवें कुलकर—मनु थे, उन्होंने धान्य, फल, इक्षुरस आदिके उपयोग करनेकी विधि वतलायी तथा मिट्टीके वर्त्तन वनाकर आवश्यकताकी पूर्ति करनेका उपदेश दिया। प्रजामें सुख और शान्ति वनाये रखनेके लिए दण्ड-व्यवस्था भी प्रतिपादित की। इस पर्वमे सभी कुलकरोके कार्योका वर्णन आया है।

चतुर्थ पर्वमे पुराणके वर्णनीय विपयोका प्रतिपादन करनेके अनन्तर जम्बूद्वीपके विदेह-क्षेत्रके अन्तर्गत गन्धिल देश और उसकी अलका नगरीका चित्रण आया है। इस नगरीके अधिपति अतिवल विद्याधर और उसकी मनोहरा नामक राज्ञीका वर्णन किया है। इस दम्पतिके महावल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। अतिवल विरक्त होकर दीक्षित हो गया और महावलको शासन भार प्राप्त हुआ। महावलके महामति, सम्भिन्नमति, शतमति और स्वयंवुद्ध ये चार मन्त्री थे। राजा मन्त्रियोके ऊपर शासन भार छोड़कर भोगोपभोगोके सेवनमे आसक्त हो गया।

पञ्चम पर्वमे महावलकी विरक्ति और सल्लेखनाका निरूपण किया है। वाईस दिनोंकी सल्लेखनाके प्रभावसे महावल ऐशान स्वर्गमे ललिताङ्ग नामका महर्द्धिक देव होता है। पष्ठ पर्वमे आयुके छ: मास शेप रहने पर ललिताग दुःखी होता है, पर समझाये जाने पर वह अच्युत स्वर्गकी जिनप्रतिमाओकी पूजा करते-करते चैत्य वृक्षके नीचे पञ्चनमस्कार मन्त्रका जाप करते हुए स्वर्गकी आयुको पूर्ण करता है। ललिताग स्वर्गसे च्युत हो पुष्कलावती देशके उत्पलखेट नगरके राजा वज्रवाहु और रानी वसुन्धराके गर्भसे वज्रजंघ नामका राजपुत्र होता है। ललितागकी प्रिया स्वयंप्रभा पुण्डरीकिणी नगरीके राजा वज्रदंतके यहाँ श्रीमती नामकी पुत्री होती है। यशोधर गुरुके कैवल्य महोत्सवके लिए देवोंको आकाशमे जाते देखकर श्रीमतीको पूर्वभवका स्मरण हो आता है और वह अपने प्रिय ललिताग देवको प्राप्त करनेके लिए कृतसंकल्प हो जाती है। पण्डिता धाय उसकी सहायता करती है। वह श्रीमती द्वारा निर्मित पूर्वभवके प्रतीकोंसे युक्त चित्रपट-को लेकर उत्पलखेट नगरके महापूत जिनालयमे पहुँचती है। यहाँ पर चित्रपटको फैला देती है, दर्शकवृन्द उसे देखकर चकित हो जाते है, पर उसके यथार्थ रहस्यसे अनभिज्ञ ही रहते हैं।

सप्तम पर्वमे वताया गया है कि ललितागका जीव वज्रजंघ महापूत चैत्यालयमे आता है और उस चित्रपटको देखते ही उसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण हो जाता है, जिससे वह अपनी प्रिया स्वयम्प्रभाको प्राप्त करनेके लिए वेचैन हो जाता है। पण्डिता धायको वह भी एक चित्रपट भेंट करता है, जिसमे स्वयंप्रभाके जीवन रहस्यको अंकित किया गया है। वज्रजंघ पुण्डरीकिणी नगरीमे आता है

और श्रीमतीके साथ उसका विवाह हो जाता है। ललितांगदेव और स्वयंप्रभा पुनः वज्रजंघ और श्रीमतीके रूपमें संयोगको प्राप्त करते हैं।

अष्टम पर्वमें वज्रजंघ और श्रीमतीके भोगोपभोगोंका वर्णन किया गया है। वज्रजंघका श्वसुर वज्रदन्त चक्रवर्ती कमलमें बन्द मृत भ्रमरको देखकर विरक्त हो जाता है। पुत्र अमिततेजके द्वारा शासन स्वीकृत न किये जानेपर वह उसके पुत्र पुण्डरीकको राज्य देकर यशोधर मुनिके समक्ष अनेक राजाओंके साथ दीक्षित हो जाता है। पण्डिता धाय भी दीक्षित हो जाती है। चक्रवर्तीकी पत्नी लक्ष्मीमती पुण्डरीकको अल्पवयस्क जानकर राज्य सँभालनेके लिए अपने जामाता वज्रजंघको बुलाती है। वज्रजंघ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ पुण्डरीकिणी नगरीको प्रस्थान करता है। वह मार्गमें चारणऋद्धिधारी मुनियोंको आहार दान देता है। वह दमधर नामक मुनिराजसे अपने भवान्तर जानना चाहता है, मुनिराज उसे आठवें भवमें तीर्थंकर होने तथा श्रीमतीको दानतीर्थका प्रवर्तक श्रेयांस होनेकी भविष्यवाणी करते हैं। वज्रजंघ पुण्डरीकिणी नगरसे पहुँचकर सबको सान्त्वना देता है और अपने नगरमें लौट आता है।

नवम पर्वके प्रारम्भमें भोगोपभोगोंका चित्रण आया है। एक दिन वज्रजंघ और श्रीमती शयनागारमें शयन कर रहे थे। सुगन्धित द्रव्यका धूम फैलनेसे शयनागारका भवन अत्यन्त सुवासित हो रहा था। संयोगवश द्वारपाल उस दिन गवाक्ष खोलना भूल गया, जिससे श्वास रुक जानेके कारण उन दोनोंकी मृत्यु हो गयी। पात्रदानके प्रभावसे दोनों उत्तरकुरुमें आर्य-आर्या हुए। प्रीतिकर मुनिराजके सम्पर्कसे आर्य मरणकर ऐशान स्वर्गमें श्रीधर नामका देव हुआ। आर्या भी उसी स्वर्गमें देव हुई।

दशम पर्वके प्रारम्भमें प्रीतिकरके केवलज्ञान उत्सवका वर्णन आया है। श्रीधर भी इस उत्सवमें सम्मिलित हुआ। अन्तमें वह स्वर्गसे च्युत होकर जम्बूद्वीपके पूर्वविदेहकी सुसीमा नगरीमें सुदृष्टि राजाकी सुन्दरनन्दा नामक रानीके गर्भसे सुविधि नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। यह चक्रवर्ती राजा हुआ और श्रीमतीका जीव केशव नामक इसका पुत्र हुआ। सुविधि पुत्रके अनुरागके कारण मुनि न बन सका, पर घरपर ही श्रावकके व्रतोंका पालन कर संन्यासके प्रभावसे सोलहवें स्वर्गमें अच्युतेन्द्र हुआ।

एकादश पर्वमें अच्युतेन्द्रके पर्याय वज्रनाभिका वर्णन आया है। वज्रनाभि चक्ररत्नकी प्राप्तिके अनन्तर दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। राज्यको समृद्ध करनेके अनन्तर वह दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका चिन्तनकर तीर्थंकरप्रकृतिका बंध करता है। अन्तमें प्रायोपगमन सन्यास धारणकर सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पन्न होता है।

द्वादश पर्वमे अहमेन्द्रका जीव ऋषभदेवके रूपमे नाभिराय और मरुदेवीके यहाँ जन्म धारण करता है। इस पर्वमे मरुदेवीकी गर्भावस्था और देवियों द्वारा की गयी सेवाका वर्णन किया गया है।

त्रयोदश पर्वमें आदितीर्थकर ऋषभदेवका इन्द्रद्वारा जन्माभिषेक उत्सवके किये जानेका निरूपण आया है। उनका सुमेरु पर्वतपर एक हजार आठ कलशों द्वारा अभिषेक सम्पन्न होता है।

चतुर्दश पर्वमे इन्द्राणी बालकको वस्त्राभूषणोसे सुसज्जित कर माताको सौंप देती है। इन्द्र ताण्डवनृत्यकर उनका ऋषभदेव नाम रखता है।

पञ्चदश पर्वमे ऋषभदेवके शारीरिक सौन्दर्य, उनके एकसौ आठ शुभ लक्षणोका वर्णन आया है। महाराज नाभिराय युवक होनेपर पुत्रसे विवाहका अनुरोध करते हैं। फलस्वरूप कच्छ और महाकच्छकी वहने यशस्वती और सुनन्दाके साथ ऋषभदेवका विवाह सम्पन्न हो जाता है।

षोडश पर्वके अनुसार यशस्वतीके उदरसे भरत चक्रवर्तीका जन्म होता है और सुनन्दाके उदरसे बाहुबलीका। ऋषभदेवको यशस्वतीसे अन्य ९८ पुत्र और ब्राह्मी नामक कन्याकी प्राप्ति होती है। सुनन्दासे बहुबलीके अतिरिक्त सुन्दरी नामक कन्यारत्न भी उपलब्ध होता है। ऋषभदेव प्रजाको असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्प इन षट् आजीविकोपयोगी कर्मकी शिक्षा देते हैं। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोकी व्यवस्था करते हैं।

सप्तदश पर्वमे ऋषभदेवको विरक्ति प्राप्त करनेके लिए एक मार्मिक घटना घटित होती है। नीलाञ्जना नामक नर्तकी नृत्य करते-करते अचानक विलीन हो जाती है। ऋषभदेव इस अघटित घटनाको देखते ही विरक्त हो जाते है। स्वर्गसे लौकान्तिक देव आकर उनके वैराग्यकी पुष्टि करते है। वे अयोध्याके पट्टपर भरतका राज्याभिषेककर अन्य पुत्रोको यथायोग्य राज्य देते है। सिद्धार्थ वनमे जाकर परिग्रहका त्यागकर चैत्रकृष्ण नवमीके दिन दीक्षा ग्रहण कर लेते है। इनके साथ चार हजार अन्य राजा भी दीक्षित हो जाते हैं।

अष्टादश पर्वमे बताया गया है कि ऋषभदेव छ. माहका योग लेकर शिला-पट्टपर आसीन हो जाते है। दीक्षा धारण करते ही मन.पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। साथमे दीक्षित हुए राजा भ्रष्ट हो जाते है और विभिन्न मतोंका प्रचार करते है। कच्छ-महाकच्छके पुत्र नमि-विनमि भगवान् ऋषभदेवसे कुछ माँगने जाते है। धरणेन्द्र उन्हें समझाकर विजयार्ध पर्वतपर ले जाता है।

एकोनविंश पर्वमे धरणेन्द्र द्वारा नमि-विनमिको वियजार्ध पर्वतकी नगरियो का परिचय दिया गया है। विंश पर्वमें आदितीर्थंकर ऋषभदेवका एक वर्षके

४

तपश्चरणके अनन्तर हस्तिनापुरमें श्रेयांसके यहाँ इक्षुरसका आहार होता है।

एकविंश पर्वमे ध्यानका वर्णन किया गया है। द्वाविंश पर्वमे ऋषभदेवको ज्ञानकी प्राप्ति, ज्ञानकल्याणोत्सव एवं समवशरणका चित्रण आया है। त्रयोविंश पर्वमे समवशरणमें इन्द्रने आदितीर्थंकरकी पूजा-स्तुति की है। चतुर्विंश पर्वमे भरत द्वारा भगवान् ऋषभदेवकी पूजा की गयी है। इस पर्वमे भगवान्‌की दिव्य-ध्वनिका भी वर्णन आया है। पञ्चविंश पर्वमे अष्ट प्रातिहार्य, चौतीस अतिशय और अनन्त चतुष्टय सुशोभित तीर्थंकरकी स्तुति की गयी है। इस पर्वमे सहस्र-नामरूप महास्तवन भी आया है।

षट्विंशतितम पर्वमें भरत द्वारा चक्ररत्नकी पूजा और पुत्रोत्सव सम्पन्न करनेका वर्णन समाहित है। चक्रवर्ती दिग्विजयके लिए पूर्व दिशाकी ओर प्रस्थान करता है। सप्तविंशतितम पर्वमे गंगा और वन शोभाका वर्णन आया है।

अष्टविंशतितम पर्वका आरम्भ दिग्विजयार्थ चक्रवर्तीके सैनिक प्रयाणसे होता है। चक्रवर्तीकी सेना स्थल मार्गसे गंगाके किनारेके उपवनमे प्रविष्ट होती है। उसने लवणसमुद्रको पारकर मागधदेवको जीता। एकोनत्रिंशत्तम पर्वमे दक्षिण दिशाकी ओर अभियान करनेका वर्णन आया है। त्रिंशत्तम पर्वमे चक्रवर्ती दक्षिण को विजयकर पश्चिम दिशाकी ओर बढता है और विन्ध्यगिरिपर पहुँचता है। अनन्तर समुद्रके किनारे-किनारे जाकर लवणसमुद्रके तटपर पहुँचता है।

एकत्रिंशत्तम पर्वमे आया है कि अठारह करोड घोड़ोका अधिपति भरत उत्तरकी ओर प्रस्थान करता है और विजयार्धकी उपत्यकामे पहुँचता है। द्वित्रिंशत्तम पर्वमें विजयार्धके गुहाद्वारके उद्घाटनके अनन्तर नाग जातिको वश किये जानेका वर्णन है। चिलात और आवर्त दोनो ही म्लेच्छ राजा निरुपाय होकर शरणमे आते हैं।

त्रयस्त्रिंशत्तम पर्वमे बताया है कि भरत चक्रवर्ती दिग्विजय करनेके पश्चात् सेना सहित अपनी नगरीमे आता है। मार्गमें अनेक देश, नगर और नदियोका उल्लंघन कर कैलास पर्वत पर अनेक राजाओके साथ ऋषभदेवकी पूजा करता है।

चतुस्त्रिंशत्तम पर्वमें चक्रवर्ती कैलाससे उतरकर अयोध्याकी ओर बढता है। यहाँ चक्ररत्न नगरीके भीतर प्रविष्ट नही होता है। निमित्त ज्ञानियो द्वारा भाइयोंको विजित करनेकी बात ज्ञातकर दूत भेजता है। बाहुबलीको छोड भरतके अन्य भाई ऋषभदेवके चरणमूलमे जाकर दीक्षित हो जाते है। पञ्च-त्रिंशत्तम पर्वमे बहुबली द्वारा भरतका युद्धनिमन्त्रण स्वीकार कर लिया जाता है। षट्त्रिंशत्तम पर्वमे भरत और बाहुबलीके नेत्र, जल और मल्लयुद्धका वर्णन

आया है। उक्त तीनो युद्धोमे वाहुवलीको विजयी देखकर भरत कुपित हो चक्ररत्न-का उपयोग करते हैं, जिससे वाहुवली विरक्त हो जिनदीक्षा धारण कर लेते है। सप्तत्रिंशत्तम पर्वमे चक्रवर्तीके अयोध्या नगरीके प्रवेशका वर्णन आया है। अष्ट-त्रिंशत्तम पर्वमे भरत द्वारा अणुव्रतियोको अपने घर वुलाये जानेका उल्लेख आता है। भरत इस सन्दर्भमे ब्राह्मण वर्णकी स्थापना करते हैं।

एकोनचत्वारिंशत्तम, चत्वारिंशत्तमं और एक चत्वारिंशत्तमं, पर्वोमे क्रियाओ और संस्कारोका वर्णन आया है। द्विचत्वारिंशत्तम पर्वमे राजनीति और वर्णाश्रम धर्मका उप-देश अंकित है। त्रिचत्वारिंशत्तम और चतुश्चत्त्वारिंशत्तम पर्वोमे जयकुमारका सुलो-चनाके स्वयंवरमे सम्मिलित होना तथा अन्य राजाओके साथ युद्ध करनेका वर्णन आया है। पञ्चचत्वारिंशत्तम पर्वमे जयकुमार और सुलोचनाके प्रेममिलनका चित्रण आता है। जयकुमार सुलोचनाको पट्टरानी वनाता है। पट्चत्वारिंशत्तम पर्वमे जयकुमार और सुलोचनाके पूर्व-भवके स्मरण होनेसे मूछित होनेका वर्णन आया है। अन्तिम सप्तचत्वारिंशत्तम पर्वमे पूर्वभवावलीकी चर्चा करते हुए कहा है कि जयकुमार संसारसे विरक्त हो जाता है और दीक्षित हो ऋपभदेवके समवशरणमे गणधर पद प्राप्त करता है। चक्रवर्ती भरत दीक्षा ग्रहण करता है, उसे तत्काल केवल-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। भगवान् ऋपभदेव अन्तिम विहार करते है और कैलास पर्वतपर उन्हे निर्वाण प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार आदिपुराणमे ऋषभदेवके दस पूर्वभवोकी कथाएँ आयी है। ऋपभदेव और चक्रधर भरत दोनो ही इस कथावस्तुके केन्द्र है। दोनो शलाका-पुरुपोका विस्तृत जीवन-परिचय इस पुराणमे अंकित है।

●

पञ्चम परिच्छेद

आदिपुराणके रचयिता, रचनाकाल और रचयिताओंकी अन्य रचनाएँ

संस्कृत भापामे जैन कवियोने पुराण, काव्य एवं अन्य प्रकारके साहित्यकी रचनाकर संस्कृत वाङ्मयके भण्डारकी श्रीवृद्धिमे अपूर्व योगदान दिया है। कहा जाता है कि पौराणिक महाकाव्योके मूल वीज-सूत्र रामायण और महाभारतमें

पाये जाते है। जिनसेनके उल्लेखोंमे ज्ञात होता है कि उनके पूर्ववर्ती अनेक जैन कवियोने शलाकापुरुषोके चरितोका प्रणयनकर पुराण-विधाको समृद्ध किया है। आदिपुराणमे पुराण, धर्म और दर्शन इन तीनों तत्त्वोंकी योजना सरस काव्यकी शैलीमें की गयी है। वस्तुत यह पुराण वह रसायन है, जिसके सेवनसे मानव अन्तरंग और वहिरग दोनो ही प्रकारके रोगोसे मुक्ति प्राप्त करता है। जिनसेन का प्रधान लक्ष्य भवरुजका निदान और उसके उपशमन हेतु उपचार मार्ग प्रदर्शित करना है। अतएव इस पुराणमें जीवनको सुखमय वनानेवाली विद्याओके साथ हृदयको विकसित करनेवाली कला भी सन्निहित है। सुख और दु.ख, वृद्धि और ह्रास, राग और द्वेष, मैत्री और विरोधके पारस्परिक संघर्षोसे उत्पन्न विभिन्न स्थितियोका चित्रण पाया जाता।

आदिपुराणके रचयिता दो व्यक्ति है—जिनसेन और उनके शिष्य गुणभद्र। इस महाग्रन्थके ४७ पर्वोंमेसे आदिके ४२ पर्व और तेतालीसवें पर्वके तीन श्लोक जिनसेन द्वारा विरचित है। शेप पर्वोंके पद्य, जिनकी संख्या १६२० है, गुणभद्राचार्यद्वारा प्रणीत है।

जिनसेन

प्रतिभा और कल्पनाके धनी आचार्य जिनसेन संस्कृत काव्य-गगनके पूर्णचन्द्र है। इनकी रचनाएँ भारतीय वाङमयके लिए अत्यन्त गौरवप्रद है। इनके वैयक्तिक जीवनके सम्वन्धमे हमारी जानकारी अत्यल्प है। जयधवला टीकाके अन्तमे दी गयी पद्यरचनासे इनके व्यक्तित्वके सम्वन्धमें कुछ झलक मिलती है। इन्होने वाल्यकालमे ही जिनदीक्षा ग्रहण कर ली थी। कठोर ब्रह्मचर्यकी साधना द्वारा वाग्देवीकी आराधनामे तत्पर रहे। इनका शरीर कृश था, आकृति भी भव्य और रम्य नही थी। वाह्य व्यक्तित्वके मनोरम न होनेपर भी तपश्चरण, ज्ञानाराधन एवं कुशाग्र बुद्धिके कारण इनका अंतरंग व्यक्तित्व वहुत ही भव्य था। ये ज्ञान और अध्यात्मके अवतार थे। इनको जन्म देनेका गौरव किस जाति-कुलको प्राप्त हुआ, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है, पर आदिपुराणके अध्ययनमे ऐसा अवगत होता है कि इनका जन्म किसी व्राह्मण परिवारमे हुआ होगा। यत आदिपुराणपर 'मनुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति' और ब्राह्मण ग्रन्थोका पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पडता है। समन्वयात्मक उदार दृष्टिकोणके साथ व्राह्मणधर्मके अनेक तथ्योंको जैनत्व प्रदान करना, इन्हे जन्मना व्राह्मण सिद्ध करनेका सवल अनुमान है। दक्षिण भारतमे ब्रह्म क्षत्रिय जातिके भी कुछ प्रधान व्यक्ति हुए है। इस प्रकारके व्यक्तियोका जन्म व्राह्मण परिवारमें हुआ था, पर ये क्षत्रिय जातिके कार्योंमे प्रवृत्त थे। वीरमार्त्तण्ड चामुण्डराय 'ब्रह्म-

क्षत्रिय' थे। सेनराजाओके शिलालेखोमें 'ब्रह्मक्षत्रिय' शब्द आया है।[६६] डा० भण्डारकर भी ब्रह्मक्षत्रिय जातिकी कल्पनाको यथार्थ मानते हैं। ये पहले ब्राह्मण थे, पर बादमे अपने पौरोहित्य कार्यको छोडकर क्षत्रिय हो गये थे। सामन्तसेनके शिलालेखोमे उसे ब्रह्मवादीकी संज्ञा दी गयी है।[६७] ननी गोपाल मजुमदार सामन्तसेनको ब्रह्मक्षत्रिय बतलाते है। ब्रह्मक्षत्रियका उल्लेख दक्षिण भारतमे कई अभिलेखोमे आया है।[६८] बिजोलियाके शिलालेखोमे चौहानवंशी राजाओका उल्लेख आया है। ये पहले ब्राह्मण थे, पर बादमे क्षत्रिय हो गये।[६९] इसी प्रकार पल्लव, कदम्ब एवं गुहिल मूलत' ब्राह्मण थे, पर बादमे क्षत्रिय धर्ममे[७०] दीक्षित हो गये।

अतएव यह आश्चर्य नहीं कि जिनसेन भी ब्रह्मक्षत्रिय रहे हों। निश्चयत: इनका पाण्डित्य ब्राह्मणका है और तपश्चरण क्षत्रियका। एक बात यह भी है देवपाराके अभिलेखमे वीरसेनको सेनराजाओका पूर्वज कहा गया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेन नामान्त जैनाचार्य सेनराजाओसे सम्बद्ध थे। इस परिस्थितिमे जिनसेनको ब्रह्मक्षत्रिय बनानेमे कोई विप्रतिपत्ति नही दिखलायी पडती। आदिपुराणके उल्लेखसे भी इनका ब्रह्मक्षत्रिय होना ध्वनित होता है। इस ग्रन्थमे अक्षत्रियको क्षत्रिय कर्ममे दीक्षित होने तथा सम्यक्चारित्रका पालन कर क्षत्रिय होनेकी चर्चा आयी है[७१]। यहाँ अक्षत्रियका अर्थ हमारी दृष्टिमे ब्राह्मण है; क्योकि प्रकरणसे यही अर्थ ध्वनित होता है।

जिनसेन मूलसंघके पञ्चस्तूपान्वयके आचार्य है। इनके गुरुका नाम वीरसेन और दादा गुरुका नाम आर्यनन्दि था। वीरसेनके एक गुरुभाई जयसेन थे। यही कारण है कि जिनसेनने अपने आदिपुराणमे 'जयसेन' का भी गुरुरूपमे स्मरण किया है। जिनसेनके सतीर्थ दशरथ नामके आचार्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमे गुणभद्राचार्यने बताया है कि जिस प्रकार चन्द्रमाका सधर्मी सूर्य होता है, उसी प्रकार जिनसेनके सधर्मी या सतीर्थ दशरथ गुरु थे, जो कि संसारके पदार्थोका अवलोकन करानेके लिए अद्वितीय नेत्र थे। इनकी वाणीमे जगत्का स्वरूप अवगत किया जाता था।[७२]

जिनसेन और दशरथ गुरुका सुप्रसिद्ध शिष्य गुणभद्र हुआ, जो व्याकरण,

---

६६. देवपारा अभिलेख, श्लो० ५। ६७. एपीग्राफीइंडिका, जिल्द १८, पृ० ४६, पृ० १११। ६८. इंडियन एन्टीक्वेरी ६० पृ० २५। ६९. सेक्रेटबुक्स, भाग ३, पृ० ४५१। ७० हिस्ट्री ऑव इण्डिया पृ० १३५—१५० ७१. अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताः। यतो रत्नत्रयायत्तजन्मना तेऽपि तद्गुणाः॥ आदि० ४२।२८। ७२. उत्तरपुराण प्रशस्ति श्लोक ११-१३ तक।

सिद्धान्त और काव्यका पारगामी था। गुणभद्रने आदिपुराणके अवशिष्ट अंशको आरम्भ करते समय जिनसेनके प्रति अपनी बडी भारी श्रद्धा-भक्ति समर्पित की है तथा उनके ज्ञान-चारित्रको मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है।

जिनसेनका चित्रकूट, वंकापुर और वटग्रामसे सम्बन्ध रहा है।[७३] वंकापुर उस समय वनवास देशकी राजधानी था, जो वर्तमानमें धारवाड जिलेमे है। इसे राष्ट्रकूट अकालवर्षके सामन्त लोकादित्यके पिता वंकेयरसने अपने नामसे राजधानी बनाया था। [७४] वटग्राम या वटपदको एक मानकर कुछ विद्वान् वडौदाको वटग्राम या वटपद मानते है। अतएव चित्रकूट भी वर्तमान चित्तौड (राजस्थान) से भिन्न नही है। इसी चित्रकूटमे एलाचार्य निवास करते थे, जिनके पास जाकर वीरसेनस्वामीने सिद्धान्त ग्रन्थोका अध्ययन किया था।

जिनसेनके समयमे राजनैतिक स्थिति सुदृढ थी तथा शास्त्र-समुन्नतिका यह युग था। इनके समकालीन नरेश राष्ट्रकूटवंशी जगत्तुंग और नृपतुंग अपरनाम अमोघवर्ष (सन् ८१५-८७७ ई०) थे। इनकी राजधानी मान्यखेटमे उस समय विद्वानोका अच्छा समागम होता था। अमोघवर्ष स्वयं कवि और विद्वान् था, उसने 'कविराजमार्ग' नामक एक अलंकार विषयक ग्रन्थ कन्नड भाषामे लिखा है। अमोघवर्ष जिनसेनका वडा भक्त था। महावीरगणितसारसंग्रह[७५] और संस्कृत-काव्य प्रश्नोत्तररत्नमालाके उल्लेखोसे स्पष्ट है कि अमोघवर्षने जैनदीक्षा ग्रहण कर ली थी। अमोघवर्षके समयमे केरल, मालवा, गुर्जर और चित्रकूट भी राष्ट्रकूट राज्यमे सम्मिलित थे। स्व० पं० नाथूराम प्रेमीका अनुमान है कि वडौदा भी अमोघवर्षके राज्यमे सम्मिलित था। आनतेन्द्र कोई राष्ट्रकूट राजा या सामन्त रहा होगा, जिसके वनवाये मन्दिरमे धवलाटीका लिखी गयी[७६]। अतएव जिनसेनका सम्बन्ध चित्रकूटके साथ रहनेसे तथा अमोघवर्ष द्वारा सम्मानित होनेसे, इनका जन्मस्थान महाराष्ट्र और कर्णाटककी सीमाभूमिको अनुमानित किया जा सकता है।

समय-विचार

हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेनने वीरसेन और जिनसेनका गौरवके साथ उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है—"जिन्होने परलोकको जीत लिया है और जो कवियोके चक्रवर्ती है, उन वीरसेन गुरुकी कलंकरहित कीर्ति प्रकाशित हो रही है। जिनसेन स्वामीने श्रीपार्श्वनाथ भगवान्‌के गुणोकी स्तुति वनायी है—

---

७३. आगत्य चित्रकूटात्तत· स भगवान् गुरोरनुज्ञानात्। ७४. वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ श्रुतावतार श्लो० १७९। ७४ श्रीमति लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथित शत्रुसतमसे।· ··· ·· वंकापुरे पुरेष्वधिके। उत्तरपुराण प्रशस्ति ३२—३४। ७५. महावीर गणितसार १।३; १।८। ७६. आदिपुराण प्रस्तावना, पृ० १६।

पार्श्वाभ्युदयकी रचना की है, वही उनकी कीर्त्तिका वर्णन कर रही है। इन जिनसेनके वर्धमानपुराणरूपी उदित होते हुए सूर्यकी उक्तिरूपी रश्मियाँ विद्वत्पुरुषों-के अन्त.करणरूपी स्फटिक-भूमिमे प्रकाशमान हो रही है[७७]।

उपर्युक्त सन्दर्भमे प्रयुक्त 'अवभासते', 'संकीर्तयति', 'प्रस्फुरन्ति' जैसे वर्तमान-कालिक क्रियापद हरिवंशपुराणके रचयिता जिनसेनका इनको समकालीन सिद्ध करते है। हरिवंशपुराणकी रचना शक संवत् ७०५ (ई० ७८३) मे पूर्ण हुई है। अत. जिनसेन स्वामीका समय ई० सनकी आठवी शती है। जयधवला टीकाकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि इसकी समाप्ति जिनसेनने शक सवत् ७५९ फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वाह्नमे की थी। इस टीकाको वीरसेन स्वामीने आरम्भ किया था, पर वे चालीस हजार श्लोक प्रमाण ही लिख सके थे। अपने गुरुके इस अपूर्ण कार्यको जिनसेनने पूर्ण किया था। जिनसेनने आदिपुराणका प्रारम्भ अपनी वृद्धा-वस्थामे किया होगा, इसी कारण वे इसके ४२ पर्व ही लिख सके। अतः जयध-वलाटीकाके अनन्तर आदिपुराणकी रचना माननेसे जिनसेनका अस्तित्व ई० सन् की नवमशतीके उत्तरार्ध तक माना जा सकता है। गुणभद्रने उत्तरपुराणकी समाप्ति ई० सन् ८९७ मे की है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणभद्रने आदि-पुराणके ४३वें पर्वके चतुर्थ पद्यसे समाप्ति पर्यन्त कुल १६२० श्लोक रचे है। महापुराणके द्वितीय भाग स्वरूप उत्तरपुराणको गुणभद्रने पूर्ण किया है। आदि-पुराणमे आदितीर्थकरका जीवनवृत्त है और उत्तरपुराणमे अजितनाथ तीर्थकरसे महावीर पर्यन्त २३ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ वलभद्र और ९ प्रति-नारायण तथा जीवन्धर स्वामी आदि विशिष्ट पुण्यात्मा पुरुषोके कथानक अंकित किये गये है। उत्तरपुराणकी समाप्ति शक संवत् ८२० श्रावण शुक्ला पचमी गुरु-वारको हुई है। अत. गुणभद्रका समय भी ई० सन् की नवम शतीका उत्तरार्द्ध माननेमें किसी प्रकारकी वाधा नही आती है। वास्तवमे वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र इन तीनो आचार्योका साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त महनीय है और ये तीनों एक दूसरेसे लघु आयुके है तथा उत्तरोत्तर एक दूसरेके अपूर्ण कार्यको पूर्ण करने-वाले है।

रचनाएँ

जिनसेनाचार्य काव्य, व्याकरण, नाटक, अलंकार, दर्शन, आचार, कर्म-सिद्धान्त प्रभृति अनेक विषयोके वहुज्ञ विद्वान् थे। इनकी केवल तीन ही रचनाएँ

---

६७ जितात्मपरलोकस्य कवीना चक्रवर्तिन. . . . स्फुटस्फटिकभित्तिपु ।—हरिवंश पुराण १।३९–४१।

उपलब्ध है। वर्धमानचरितकी सूचना अवश्य प्राप्त होती है, पर वह कृति अभी तक देखनेमे नही आयी है। आदिपुराणका सक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है, अत. अवशिष्ट दो रचनाओका परिचय दिया जा रहा है।

पार्श्वभ्युदय

यह कालिदासके मेघदूत नामक काव्यकी समस्यापूर्ति है। इसमे कही मेघदूतके एक और कही दो पादोको लेकर पद्य-रचना की गयी है। इस काव्य-ग्रन्थमे सम्पूर्ण मेघदूत समाविष्ट है। अतः मेघदूतके पाठशोधनके लिए भी इस ग्रन्थका मूल्य कम नही है।

दीक्षा धारणकर पार्श्वनाथ प्रतिमायोगमें विराजमान है। पूर्वभवका विरोधी कमठका जीव शँवर नामक ज्योतिष्क देव अवधिज्ञानसे अपने शत्रुका परिज्ञानकर नाना प्रकारके उपसर्ग देता है। इसी कथावस्तुकी अभिव्यञ्जना पार्श्वभ्युदयमें की गयी है। शृंगाररससे ओत-प्रोत मेघदूतको शान्तरसमे परिवर्तित कर दिया है। साहित्यिक दृष्टिसे यह काव्य बहुत ही सुन्दर और काव्यगुणोसे मण्डित है। इसमे चार सर्ग हैं—प्रथम सर्गमे ११८ पद्य; द्वितीय सर्गमे ११८; तृतीय सर्गमे ५७ और चतुर्थमे ७१ पद्य है। इस काव्यमें शंवर (कमठ) यक्षके रूपमे कल्पित है। कविता अत्यन्त प्रौढ और चमत्कारपूर्ण है। यहाँ उदाहरणार्थ एक दो पद्य उद्धृत किये जाते है—

तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
रवाङ्गुल्यग्रैः कुसुममृदुभिर्वल्लरीमस्पृशन्ती।
ध्यायं ध्यायं त्वदुपगमनं शून्यचिन्तानुकण्ठी,
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्छनां विस्मरन्ती ॥—पार्श्व० ३।३९

आम्रकूट पर्वतके शिखरपर मेघके पहुँचनेपर कवि पर्वत-शोभाका वर्णन करता हुआ कहता है—

कृष्णाहिः किं वलयिततनुः मध्यमस्याधिशेते;
किं वा नीलोत्पलविरचितं शेखरं भूभृतः स्यात्।
इत्याशङ्कां जनयति पुरा मुग्धविद्याधरीणां,
त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ॥—पार्श्व० १।७०

समस्यापूर्तिमे कविने सर्वथा नवीन भावयोजना की है। मार्गवर्णन और वसुन्धराकी विरहावस्थाका चित्रण मेघदूतके समान ही है। परन्तु इसका सन्देश मेघदूतसे भिन्न है। शंवर पार्श्वनाथके धैर्य, सौजन्य, सहिष्णुता और अपारशक्ति-से प्रभावित होकर स्वयं वैरभावका त्यागकर उनकी शरणमे पहुँचता है और

पश्चात्ताप करता हुआ अपने अपराधकी क्षमायाचना करता है। कविने काव्यके बीचमे "पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव" जैसी सूक्तियोंकी भी योजना की है। इस काव्यके कुल ३६४ मन्दाक्रान्ता पद्य हैं।

२. जयधवला टीका—कपायप्राभृतके प्रथम स्कन्धकी चारों विभक्तियों पर जयधवला नामकी वीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेके अनन्तर आचार्य वीरसेनका स्वर्गवास हो गया, अतः उनके शिष्य जिनसेनने अवशिष्ट भागपर चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर उसे पूर्ण किया। यह टीका भी वीर-सेन स्वामीकी शैलीमे मणि-प्रवाल (संस्कृत मिश्रित प्राकृत) भापामे लिखी गयी है। टीकाकी भापा प्रवाहपूर्ण और स्वच्छ है। स्वयं ही विकल्प और शंकाएँ उठा-कर विपयोका स्पष्टीकरण किया गया है।

गुणभद्राचार्यकी रचनाएँ

आचार्य गुणभद्रने आदिपुराणके अतिरिक्त उत्तरपुराण, आत्मानुशासन और जिनदत्त-चरित नामक काव्य ग्रन्थ लिखे है।

१. उत्तरपुराणके विपयका कथन पूर्वमे हो चुका है। वस्तुत. कविने इस ग्रन्थमे काव्यगुणोकी अपेक्षा कथाके प्रवाहको महत्त्व दिया है।

२. आत्मानुशासन—यह नीति सम्बन्धी ग्रन्थ है, इसमे २६९ पद्य है। इस ग्रन्थपर प्रभाचन्द्राचार्यने संस्कृत टीका और पण्डित टोडरमलने हिन्दी वचनिका लिखी है। उत्थानिकाके रूपमे सुख-दु खविवेक, सम्यग्दर्शन, दैवकी प्रवलता, सत्साधु प्रशंसा, मृत्युकी अनिवार्यता, तपसाधन, ज्ञानाराधना, समीचीन गुरु, साधुओकी असाधुता, मनोनिग्रह, कपायविजय, यथार्थ तपस्वी प्रभृति विपयोपर पद्य रचना की है। इस ग्रन्थकी काव्यशैली भर्तृहरिके शतकत्रयके समान है। इस सूक्तिकाव्य-मे अन्योक्तियोका असाधारण प्रयोग किया गया है—

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं
तद्वान् भवे किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्या ॥—आत्मा० पद्य १४०

हे चन्द्रमा, तू मलिनतारूप दोषसे सहित क्यो हुआ ? यदि तुझे मलिन ही होना था, तो पूर्णरूपसे उस भक्ति स्वरूपको क्यों नही प्राप्त हुआ। तेरी उस मलिनताके अतिशयको प्रकट करनेवाली चाँदनीसे क्या लाभ ? यदि तू सर्वथा मलिन हुआ होता तो वैसी अवस्थामे राहुके समान दोष तो दिखलायी ही पड़ता।

इस पद्यमे चन्द्रमाको लक्ष्यकर ऐसे साधुकी निन्दा की गयी है, जो साधु वेश

मे रहकर साधुत्वको मलिन करता हैं। ऊपरसे स्वच्छ और भीतरसे मलिन रहना अहितकर है।

> सत्यं वदात्र यदि जन्मनि वन्धुकृत्य-
> माप्तं त्वया किमपि वन्धुजनाद्धितार्थम्।
> एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्
> संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ॥—आत्मा०प० ८३

हे प्राण, यदि तूने संसारमे भाई-वन्धु आदि कुटुम्वीजनोसे कुछ भी हितकर वन्धुत्वका कार्य प्राप्त किया है, तो उसे सत्य वतला। उनका इतना ही कार्य है कि मर जानेपर वे एकत्र हो तेरे अहितकारक शरीरको जला देते हैं।

इस पद्यमे अन्योक्ति द्वारा वतलाया गया है कि वन्धुजन राग-द्वेपके कारण ही वनते है। अतएव वन्धुजनोमे अनुरक्त रहकर आत्मकल्याणसे वंचित रहना उचित नही।

> तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे
> रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत्।
> ननु शुचिषु शुभेपु प्रीतिरेष्वेव साध्वी
> मदनमधुमदान्धे प्रायश को विवेकः ॥—आत्मा० १२६

इस पद्यमे कविने शाश्वत सत्यका उद्घाटन किया है। कवि कहता है कि चन्द्रादि पदार्थोके साधर्म्यके कारण यदि स्त्रीशरीरसे अनुराग हैं तो उन्ही चन्द्रादि पदार्थोसे अनुराग क्यो न किया जाय। कामरूपी मद्यके नशेसे मत्त हुए व्यक्तिमे विवेक नही रहता। अतएव विपयभोगोकी उत्पत्तिके साधक रागभावका त्याग करना चाहिए।

जिनदत्तचरित—यह प्रवन्धकाव्य है, इसमे ९ सर्ग है। समस्त काव्य अनुष्टुप छन्दमे लिखा गया है, पर सर्गान्तमे छन्द परिवर्तन भी पाया जाता है। इसमे जिनदत्तकी कथावस्तु अंकित है। कथावस्तुमे संघर्प और अरोहावरोहकी स्थिति वर्तमान है।

कवि कल्पनाका धनी है। एक पद्यमे उसके कल्पना—चमत्कारको देखा जा सकता है—

> प्राचीकुंकुममण्डनं किमथवा राव्यङ्गनाविस्मृतं
> रक्ताम्भोजमथो मनोजनृपते रक्तातपत्रं किमु।
> चक्रं ध्वान्तविभेदक द्युवनितामाङ्गल्यकुम्भः किमु,
> इत्थ शङ्कितमम्वरे स्फुटमभूद्भानोस्तदा मण्डलम् ॥–जिनदत्त च० २।१२७

सूर्यका उदय होने जा रहा है, कवि इस उदयका विभिन्न उत्प्रेक्षाओं द्वारा चित्रण करता है। यह सूर्य पूर्वदिशाके कुंकुमभूषणके समान, रात्रिरूपी अँगनाके विस्मृत लोहित कमलके समान, कामदेव नृपतिके रक्त आतपपत्रके समान, अन्धकार नाशक चक्रके समान और आकाशरूपी स्त्रीके माङ्गल्य कलशके समान परिलक्षित हो रहा है।

इस प्रकार रचनाओके अध्ययनसे जिनसेन और गुणभद्रकी विद्वत्ता सहजमे प्रकट होती है। आदिपुराणके रचयिता दोनो ही विद्वान् सकलशास्त्रपरंगत और चिन्तनशील है। इनकी अमरलेखनीका स्पर्श प्राप्तकर ही आदिपुराण सभी प्रकारसे उपादेय वन सका है।

आदिपुराणमे वर्णित समाज, राजनीति, संस्कृति, कला, अर्थनीति, रीति-रिवाज एवं सामाजिक संस्थाओके अध्ययनार्थ इस प्रथम अध्यायकी सामग्री भूमिकाके रूपमे ग्रहण की जा सकती है। ग्रन्थके वर्ण्य विषय एवं रचयिताके परिचय और व्यक्तित्वसे भी आदिपुराणमे प्रतिपादित भारतको अवगत करनेमे सौकर्य प्राप्त होगा। वस्तुतः इस महाग्रन्थमे विभिन्न दृष्टिकोणोसे भारतके अनेक रूपोंको उपस्थित किया गया है। शाश्वत सुख, ज्ञान और जीवनसमस्याओके समाधान अंकित करनेका पूरा प्रयत्न विद्यमान है।

एक-एक चैत्यालय रहनेसे अञ्जनगिरि सम्बन्धी चार, दधिमुख सम्बन्धी सोलह और रतिकर सम्बन्धी बत्तीस; इस प्रकार कुल बावन चैत्यालय है। ये समस्त चैत्यालय पूर्वाभिमुख, सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौडे और पचहत्तर योजन ऊँचे है।[९]

नन्दीश्वर द्वीप-समुद्रसे आगे अरुणद्वीप-अरुणसागर, अरुणोद्भासद्वीप-अरुणोद्भाससागर, कुण्डलवरद्वीप-कुण्डलवरसागर, शंखवरद्वीप-शंखवरसागर, रुचकवरद्वीप-रुचकवरसागर, भुजगवरद्वीप-भुजगवरसागर, कुशवरद्वीप-कुशवरसागर और क्रौञ्चवरद्वीप-क्रौञ्चवरसागर है। इन सोलह द्वीप-सागरोके पश्चात् मन शिल, हरिताल, सिन्दूर, श्यामक, अञ्जन, हिङ्गुलक, रूपवर, सुवर्णवर, वज्रवर, वैडूर्यवर, नागवर, भूतवर, यक्षवर, देववर और इन्दुवर नामक द्वीप-सागरोका निर्देश मिलता है। सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप तथा स्वयंभूरमण सागर है।[१०] लवणसमुद्र, कालोदधि और स्वयम्भूरमण इन तीन समुद्रोके अतिरिक्त अन्य समुद्रो मे मगर, मत्स्य आदि जलचर जीव नही है।[११]

जम्बूद्वीपके अन्तर्गत षट् कुलाचल, सात क्षेत्र और गंगा, सिन्धु आदि चौदह नदियाँ वर्णित है।[१२] भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यक और ऐरावत ये सात क्षेत्र तथा हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छ कुलाचल है। क्षेत्रोमे भरत क्षेत्रकी स्थिति सबसे दक्षिण और ऐरावतकी उत्तर मानी गयी है। प्रथम चार क्षेत्रोका विस्तार क्रमशः उत्तरोत्तर द्विगुणित है और शेष क्षेत्र विस्तारमे पूर्वके क्षेत्रोके तुल्य है। तात्पर्य यह है कि रम्यक क्षेत्रका विस्तार हरिके तुल्य; हैरण्यवतका हैमवतके तुल्य और ऐरावतका भरतके समान है। इसी प्रकार कुलाचलोंमे प्रथम तीनका विस्तार, अन्तिम तीनके तुल्य है। अर्थात् हिमवन्त शिखरीके समान, महाहिमवन्त रुक्मीके समान और नील निषधके समान है। क्षेत्र और कुलाचल द्विगुणित विस्तारवाले है।।

---

९. कोटीशत त्रिपष्टथग्रमशीतिश्चतुरुत्तरा.। लक्षा नन्दीश्वरद्वीपो विस्तीर्णो वर्णिता जिनै॰ ॥ षट्त्रिशच्च सहस्र च कोटियो नियुतानि च। द्वादशैव सहस्रे द्वे तथा सप्त शतानि च ॥

× × × ×

अष्टोत्सेधचतुर्व्यासगाहत्रिद्वारभास्वरा.। ते द्विपञ्चाशदाभान्ति नन्दीश्वरजिनालयाः ।। —हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ संस्करण ५।६४७, ६४८, • ६७८• •६८२। १०. अरुण नवम द्वीप सागरोऽरुणसंज्ञक॰। अरुणोद्भासनामानमरुणोद्भाससागरः ॥ द्वीप॰ तु कुण्डलवर स कुण्डलवरोदधि.।

× × × ×

तत॰ शखवरद्वीप स शङ्खवरसागरः।। स्वयम्भूरमणाभिख्यो सर्वान्त्यौद्वीपसागरौ। •• वही ५।६१७,६१८,•••६२६ ११. जलयरजीवा लवणे काले यंतिमसयंभुरमणे य। कम्ममहीपडिबद्धे ण हि सेसे जलयरा जीवा॥ १२. आदिपुराण ४।४६—त्रिलोकसार, माणिकचन्द्र दि॰ जैन ग्रन्थमाला, वीर. नि॰ २४४४, गाथा ३२०।

वैदिक पुराणोंमें वर्णित भूगोलके साथ तुलनात्मक समीक्षा

विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराण प्रभृति पुराणोमे सप्तद्वीप और सप्तसागर वसुन्धराका वर्णन आया है। यह वर्णन जैन हरिवंश-पुराण और आदिपुराणकी अपेक्षा बहुत भिन्न है। महाभारतमे तेरह द्वीपोका निर्देश उपलब्ध होता है।[13] विष्णुपुराणमे जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीपके नाम आये है।[14] इन द्वीपोको लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और मधुर जलके सात समुद्र वेष्टित किये हुए है।[15] ये द्वीप और समुद्र गोलाकार है और क्रमश. एक दूसरेसे द्विगुणित है। द्वीपावरोधक वलयाकार समुद्रोका विस्तार द्वीपोके समान है। अर्थात् जम्बूद्वीप-का विस्तार लवणसमुद्रके समान, प्लक्षका इक्षुद्वीपके तुल्य, शाल्मलद्वीपका सुरा-समुद्रके समान, कुशद्वीपका घृत समुद्रके समान. क्रौञ्च द्वीपका दधिसमुद्रके समान, शाकद्वीपका दुग्ध समुद्रके समान और पुष्करद्वीपका मधुर जलसमुद्रके समान है। जैन मान्यतानुसार प्रतिपादित असंख्यात द्वीप-समुद्रोमे जम्बूद्वीप, क्रौंचद्वीप और पुष्कर द्वीपके नाम वैदिक पुराणोमे सर्वत्र आये है।

समुद्रोके वर्णन-प्रसंगमे विष्णुपुराणमे जलके स्वादके आधारपर सात समुद्र बतलाये गये है। जैन परम्परामे भी असंख्यात समुद्रोको जलके स्वादके आधार-पर सात ही वर्गोमें विभक्त किया गया है। बताया गया है कि लवणसमुद्रके जलका स्वाद लवणके तुल्य, वारुणीवर समुद्रके जलका स्वाद सुराके समान, घृतवर समुद्रके जलका स्वाद घृतके समान, क्षीरवर समुद्रके जलका स्वाद दुग्धके समान, कालोदधि तथा स्वयंभूरमण समुद्रके जलका स्वाद शुभ स्वच्छ जलके समान और पुष्करवर समुद्रके जलका स्वाद मधुर-जलके समान है।[16] इस प्रकार (१) लवण (२) सुरा (३) घृत (४) दुग्ध (५) शुभोदक (६) इक्षु और (७) मधुरजल इन सात वर्गोमे समस्त समुद्र विभक्त है। विष्णुपुराणमे 'दधि'का निर्देश है, जैन परम्परामे इसीको 'शुभोदक' कहा गया है। अत जलके स्वादकी दृष्टिसे सात प्रकारका वर्गीकरण दोनो ही परम्पराओमे पाया जाता है।

विष्णुपुराणमे शाल्मली द्वीपका कथन आया है। हरिवंशपुराणमे मेरु-पर्वतके दक्षिण—पश्चिम—नैऋर्त्य कोणमे सीतोदा नदीके दूसरे तटपर निष-

---

१३. त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन् पुरूरवा.—महाभारत, गीताप्रेस संस्करण, आदि० ७५।१९ १४. जम्बूप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलश्चापरो द्विजः। कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः॥—विष्णुपुराण, गीता प्रेस संस्करण, द्वितीय अंश, २ अ० ५ श्लो० १५. एते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृत्ता॰। लवणेक्षुसुरासर्पिदधिदुग्धजलैः समम्॥ वही, २।२।६ १६. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, ५।६२८–६२९ तथा लवणं वारुणिनियमिदि काल-दुगंतिमसयंभुरमणमिदि। पत्तेयजलसुवादा अवसेसा होंति इच्छुरसा॥—त्रिलोकसार. माणिक-चंद ग्रन्थ० ३१९ गा०।

वाचलके समीप रजतमय शाल्मली बताया है। जम्बू स्थलकी समानता रखने वाले इस शाल्मली स्थलमें शाल्मली वृक्ष है।[१७] यह वृक्ष पृथ्वीकाय है। अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि इस शाल्मली स्थलको ही शाल्मली द्वीप कहा गया है।

जिस प्रकार वैदिक पौराणिक मान्यतामे अन्तिम द्वीप पुष्करवर माना गया है उसी प्रकार जैन मान्यतामे मनुष्यलोकका सीमान्त यही पुष्करार्द्ध है। तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि मनुष्यलोकका सीमा मानकर ही वैदिक मान्यतामे द्वीपोका कथन किया है। जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीपके अन्तर्गत ही सातो द्वीप समाविष्ट हो जाते हैं। यद्यपि क्रौञ्चद्वीपका नाम दोनो ही मान्यताओमें समान रूपसे आया है, पर स्थान निर्देशकी दृष्टिसे दोनोमें भिन्नता है।

जम्बूद्वीपमे कुलाचल और क्षेत्रोका वर्णन भी आदिपुराणके समान ही उपलब्ध होता है। विष्णुपुराणमे बताया है कि जम्बूद्वीपके मध्यमें सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है। इसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन और पृथ्वीतलमें सोलह हजार योजन प्रविष्ट है।[१८] इसके दक्षिणमे हिमवान्, हेमकूट और निषध एवं उत्तरमें नील, श्वेत और शृंगी नामक पर्वत स्थित है।[१९]

मेरु पर्वतके दक्षिणकी ओर पहला भारतवर्ष, दूसरा किम्पुरुष और तीसरा हरिवर्ष है। इसके उत्तरकी ओर प्रथम रम्यक, द्वितीय हिरण्मय और तृतीय उत्तरकुरुवर्ष है।[२०] भरत क्षेत्र या भारतवर्षकी आकृति धनुषाकार है।[२१]

विष्णुपुराणमे मेरुकी चारो दिशाओमे केसराचलोका वर्णन आया है।[२२] केसराचल नाम और वर्णनकी दृष्टिसे जैन मान्यताके मेरु-कूटोके तुल्य है। मेरुकी चारो दिशाओमे क्रमश चैत्ररथ, गन्धमाधन, वैभ्राज और नन्दन वनका निर्देश आया है।[२३] इनकी तुलना भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वनोंसे की जा सकती है।

---

१७. दक्षिणापरतो मेरो सीतोदायास्तटे परे। निषधस्य समीपस्थ राजत शाल्मलीस्थलम् ॥ जम्बूस्थलसमे तत्र शाल्मलीवृक्ष इष्यते। वक्तव्या तस्य नि.शेषा जम्बूवृक्षस्य वर्णना ॥—हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ स० ५।१८७-१८८। १८. चतुराशीतिसाहस्रो योजनैरस्य चोच्छ्रय.। प्रविष्ट षोडशाधस्ताद् द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि विस्तृत ॥—विष्णुपुराण, गीता प्रेस, २।२।८, २।२।९। १९. हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्चास्य दक्षिणे। नील. श्वेतश्च शृङ्गी च उत्तरे वर्षपर्वताः ॥ वही २।२।१० २०. भारतं प्रथमवर्षं तत किम्पुरुषं स्मृतम्। हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज ॥ रम्यकं चोत्तरं वर्षं तस्यैवानु हिरण्मयम्। उत्तरा कुरवश्चैव यथा वै भारत तथा ॥ —वही २।२।१२-१३ २१. वही २।२।१०—१४। २२. शीताम्भश्च कुमुन्दश्च कुररी माल्यवास्तथा। वैकङ्कप्रमुखा मेरो. पूर्वत केसराचला. ॥ त्रिकूटः शिशिरश्चैव पतंगो रुचकस्तथा। निषदाद्या दक्षिणतस्तस्य केसरपर्वता ॥ शिखिवासा. सवैडूर्य कपिलो गन्धमादन.। जारुधिप्रमुखास्तद्वत्पश्चिमे केसराचला। शङ्खकूटोऽथ ऋषभो हसो नागरतथापर.। कालञ्जाद्याश्चतथा उत्तरे-केसराचला. ॥ —वही २।२।२६—२९ तथा आगेके पद्य भी। २३. वन चैत्ररथं पूर्वे दक्षिणे गन्धमादन। वैभ्राज पश्चिमे तद्वदुत्तरे नन्दन स्मृतम् ॥—वही २।२।२४।

बौद्धपरम्परामे केवल चार द्वीप ही माने गये है। बताया जाता है कि समुद्रमे एक गोलाकार सोनेकी थाली पर स्वर्णमय सुमेरुगिरि स्थित है। सुमेरुके चारो ओर सात पर्वत और सात समुद्र है। उन सात स्वर्णमय पर्वतोंके बाहर क्षीरसागर है और उस सागरमे (१) कुरु, (२) गोदान (३) विदेह और (४) जम्बू नामक चार द्वीप अवस्थित है।[२४] इन द्वीपोके अतिरिक्त छोटे-छोटे दो हजार द्वीप और भी माने गये है।

जम्बूद्वीप

जैन परम्परामे जम्बूद्वीपका विशेष महत्त्व वर्णित है। जम्बूवृक्षके कारण इस द्वीपका नामकरण हुआ है। इसका आकार गोल है और मध्यमे नाभिके समान मेरु पर्वत स्थित है। इस द्वीपका विस्तार एक लाख योजन और परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोश एक सौ अट्ठाईस धनुष साढ़े तेरह अंगुल बतायी गयी है।[२६] जम्बूद्वीपका घनाकार क्षेत्र सात सौ नव्वे करोड़ छप्पन लाख चौरानवे हजार एक सौ पचास योजन है।[२७]

जम्बूदीपके अन्तर्गत देवकुरु और उत्तरकुरु नामक दो भोगभूमियाँ बतलायी है। उत्तरकुरुकी स्थिति सीतोदा नदीके तटपर है। यहाँ धरणी नामका एक सरोवर है। यहाँके निवासी मंगलावती नामक विशालभवनमे सभाएँ करते है, इनकी इच्छाओ और समस्त आवश्यकताओंकी पूर्ति कल्पवृक्षोसे होती है। वहाँ दस प्रकारके कल्पवृक्ष वस्त्र, आभूषण, वाद्य, भोजन आदि समस्त पदार्थ प्रदान करते है। यहाँके मनुष्य स्वभावसे कोमल और भद्र परिणामी होते है। अकाल-मृत्यु यहाँ नही होती। पूर्ण आयु समाप्त करके स्वर्ग प्राप्त करते है।

तुलनात्मक समीक्षा

उत्तरकुरुका उल्लेख महाभारत, विष्णुपुराण, वामनपुराण, ब्रह्माण्डपुराण प्रभृति ग्रन्थोमे भी पाया जाता है। महाभारतके अनुसार उत्तरकुरु मेरुके उत्तर-मे अवस्थित है, जिसकी स्थिति वालुकार्णवके समीप है और जहाँ हिमवन्तको पार कर पहुँचते है। मेरुके पूर्वमे सीता और पश्चिममे वंक्षु नदियाँ प्रवाहित होती है।[२८]

रामायण और महाभारतके मतमे यह स्थान मणिमय और काञ्चनकी वालुका-से सम्पन्न है। यहाँ हीरक, वैडूर्य और पद्मरागके तुल्य रमणीय भूखण्ड है।

24 Ray chaudhory, H. C. Studies in Indian Antiquities.66 P.T. 5 । 25. Ray Davids, T.N. Pali–Inglish Dictionary. Page 159 । २६. हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ सस्करण ५।४–५ । २७. वही ५।६–७ । २८. मार्कण्डेयपुराण-का सास्कृतिक अध्ययन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृ० १३६ ।

यहाँ कामफलप्रद वृक्ष समस्त मनोरथोको पूर्ण करनेवाले है। क्षीरी नामक वृक्षसे क्षीर टपकता है। और फलके गर्भमे वस्त्र तथा आभूषण उत्पन्न होते हैं। यहाँ-की पुष्करिणी पंकशून्य और मनोरम है। चक्रवाक-चक्रवाकीके समान दम्पती एक कालमे जन्म ले समभावसे वृद्धिगत होते है। वे एकादश सहस्र वर्ष पर्यन्त जीवित रहते हैं और एक दूसरेको कभी नही छोड़ते। मरनेपर भारुण्ड पक्षी उन्हे उठा गिरिदरीमे फेंक देते है।[२९]

उत्तरकुरुकी स्थिति महाभारतमें सुमेरुसे उत्तर और नील पर्वतके दक्षिण पार्श्वमे मानी है। राजतरंगिणीमे वताया गया है कि काश्मीरराज ललितादित्य-के काम्बोज, भू खार, दरद, स्त्रीराज्य प्रभृतिके जीत लेने पर उत्तरकुरुवासियोने भयसे पर्वत प्रदेशका आश्रय लिया। इस कथनसे यह ज्ञात होता है कि उत्तरकुरु-की स्थिति स्त्रीराज्यके वाद है। स्त्रीराज्य गन्धमादनसे उत्तरपश्चिम प्रतीत होता है, जिसका वर्तमान स्थान तिव्वतका पश्चिमांश है।[३०]

टलेमिने उत्तरकोर्ह (Ottarokorrha) नामक एक जनपदकी वात कही है। वह संस्कृत उत्तरकुरु शव्दका रूपान्तरमात्र है। इनके मतसे उत्त स्थान सेरिका (चीन) का कियदश है।[३१] (Ptolemy. Goeg Vı 16)

पालित्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओमे उत्तरकुरुका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता हैं। सोणनन्द जातकमे उसे स्पष्टत. हिमालयके उत्तरमे वताया है।[३२] महात्मा वुद्ध अनेक वार उत्तरकुरुमे भिक्षाचर्याके लिए गये थे। विनयपिटकमे कहा गया है कि तीन जटिल साधुओंको वुद्धधर्ममें श्रद्धालु वनानेके लिए जव वुद्ध उरुवेलामे गये तो उस समय उरुवेल काश्यप एक महान् यज्ञ कर रहा था, उसकी यह आन्तरिक इच्छा थी कि महाश्रमण वुद्ध इस समय यहाँ निवास न करें। उसकी इस इच्छाको ज्ञातकर वुद्ध उत्तरकुरु चले गये, यहाँ उन्होने भिक्षा की और अनोततदह (मानसरोवर) पर भोजन कर वही दिनका विहार किया।[३३]

इसी पिटकमे वताया है कि एक वार जव वेरंजामे अकाल पड़ा तो स्थविर महामोग्गलानने महाश्रमण वुद्धसे प्रार्थना की कि वे उत्तरकुरु चलें।[३४] दीर्घायु उपा-सकके पिता राजगृहवासी ज्योतिपीकी पत्नी उत्तरकुरुकी वतायी गयी हैं।[३५]

---

२९ महाभारत भीष्मपर्व ७ अध्याय तथा वाल्मीकि रामायण किष्किन्धाकाण्ड ४३ वां सर्ग। ३०. स्त्रीराज्यदेवास्तस्याग्रे वीक्ष्य कम्पादिविक्रियाम्। उत्तराकुरवोऽविक्षस्तद्भयाज्जन्मपादपान् ॥—राज० त० ४।१७५। ३१. हिन्दी विश्वकोप-तृतीयभाग, पृ० २०८, उत्तराकुरु शव्द। ३२-३३. विनयपिटक (हिन्दी अनुवाद) पृ० ९१ तथा महावंश (हिन्दी अनुवाद) १।१८। ३४. "साधु भन्ते, सव्वो भिक्खुसघो उत्तरकुरु पिण्डाय गच्छेय्याति।—विनयपिटक-पाराजिक पालि, नालन्दा संस्करण, पृष्ठ १०। ३५. धम्मपदट्ठकथा, जिल्द चौथी, पृष्ठ २०९।

जिमरने कश्मीरको उत्तरकुरु कहा है।[३६] डॉ० काशीप्रसाद जायसवालने उत्तरकुरुको वर्तमान साइबेरियासे मिलाया है।[३७] डॉ० मललसेकर ऋग्वेदके उत्तरकुरुको पालिका उत्तरकुरु मानते है। अध्यापक लासेनके कथनानुसार यह जनपद तिव्वतमे ब्रह्मपुत्र नदीके तटपर होना चाहिऐ।[३८] विलफोर्ड हिमालयके सानुदेशमे इसे तिव्वतका एक नगर मानते है।[३९]

हरिवंशपुराणमे नील और सुमेरुके मध्यमे उत्तरकुरुकी स्थिति मानी गयी है[४०] तथा निषध और सुमेरुके मध्यमे देवकुरुकी। अत आदिपुराण और हरिवंशपुराणमे वर्णित उत्तरकुरु यारकन्द या जरफ्गा नदीके तट पर होना चाहिए।

जैन, वौद्ध, और वैदिक तीनो ही मान्यताओके आधारपर उत्तरकुरुमे भोगभूमि सिद्ध होती है। दीघनिकायके आटानाटिय-सुत्तमे वताया गया है कि उत्तरकुरुवासी व्यक्तिगत सम्पत्ति नही रखते थे। उन्हे अपने जीवन निर्वाहके लिए परिश्रम नही करना पडता और अनाज अपने-आप उत्पन्न होता है। वहाँके मनुष्योंका जीवन निश्चिन्त और सुखमय है।[४१] अंगुत्तर-निकाय और मज्झिम निकायकी अट्ठकथाओमे वताया गया है कि उत्तरकुरुमे कल्पवृक्ष है (कप्परुक्ख), जो एक कल्प पर्यन्त रहता है। एक अन्य विवरणके अनुसार इस देशके निवासियोंके घर नही होते और वे भूमिपर शयन करते है। इसी कारण वे भूमिसया—भूमिपर शयन करनेवाले कहलाते है। सम्पत्तिका परिग्रह वहाँ नही है। व्यक्ति निर्लोभ वृत्तिके नियतायुष्क होते है।[४२]

उपर्युक्त वर्णनसे ज्ञात होता है कि आदिपुराणमे उत्तरकुरु भोगभूमिके सम्बन्ध मे जो रहन-सहनकी व्यवस्था प्रतिपादित की गयी[४३] है, वह वौद्धागममे भी पायी जाती है। वाल्मीकिरामायण और महाभारतके सन्दर्भोमे भी भोगभूमिकी स्थिति स्पष्ट की गयी है। वस्तुत. तीनो परम्पराओमे उतरकुरुमे भोगभूमि मानी गयी है।

भरतक्षेत्र

जैन परम्परामे भरतक्षेत्रका व्यवहार उसी अर्थमे किया गया है, जिस अर्थमे वौद्ध परम्परामे जम्बूद्वीपका व्यवहार पाया जाता है। आदिपुराणमे भरतक्षेत्रको हिमवन्तके दक्षिण और पूर्वी-पश्चिमी समुद्रोके वीच स्थित माना है।

इस क्षेत्रमे सुकोशल, अवन्ती,, पुण्ड्र, अश्मक, कुरु, कागो, कलिङ्ग, अङ्ग,

---

३६. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द पहली पृ० ८४। ३७. इण्डियन एटिक्वेरी जि० ६२, पृ० १७०। ३८ डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपरनेम्स, जिल्द प्रथम, पृ० ३५६। ३९. Asiatic Research, vol IX. P. 63. 67. xiv 387। ४०. नीलमन्दरमध्यस्था उत्तराः कुरवो मताः। स्थितास्तु देवकुरवः सुमेरुनिषधान्तरे ॥—हरिवंशपुराण. ज्ञानपीठ संस्करण ५।१६७। ४१. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, स० २०१८ पृ० ६७। ४२. थेरीगाथा-अट्ठकथा, जिल्द दूसरी पृ० १८७-१८८। ४३. आदिपुराण ३।३४-४०।

वङ्ग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजंगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाटक, कोशल, चोल, केरल, दास, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय देशोंकी रचना मानी गयी है।[४४] भरत चक्रवर्तीके द्वारा विजित देशोके वर्णनमें उपर्युक्त जनपदोका निर्देश आया है। काशिकामें गाँवोंके समुदायको जनपद कहा है।[४५] यहाँ ग्राम शब्दमें नगरका भी अन्तर्भाव किया गया है। जनपदोको एक दूसरेसे पृथक् करने वाली नदी, पर्वतोकी प्राकृतिक सीमाएँ थी। बौद्ध साहित्यमें[४६] अंग, मगध, काशी, कोशल, वज्ज, मल्ल, चेति, वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ती, गन्धार और कम्बोज इन सोलह जनपदोके नाम मिलते हैं। वृहत्कल्पसूत्र भाष्यमें[४७] मगध, अंग, वंग, कलिंग, काशी, कोशल, कुरु, कुशार्त, पाँचाल, जंगल, सौराष्ट्र, विदेह, वत्स, शाण्डिल्य, मलय, मत्स्य, वरणा, दशार्ण, चेदि, सिन्धुसौवीर, शूरसेन, भंगि, वट्टा, कुणाल, लाढ और केकय-अर्ध इन साढे पचीस आर्यदेशोंका उल्लेख मिलता है।

अङ्ग (आदि० १६।१५२ तथा २९।४७)

भागलपुरसे मुंगरे तक फैले हुए भूभागका नाम अंगदेश है।[४८] इस देशकी राजधानी चम्पापुरी थी, जो भागलपुरसे पश्चिम दो मीलपर स्थित है। कनिंघमने भागलपुरसे २४ मील दूर पत्थरघाटा पहाड़ीके पास चम्पानगर या चम्पापुरकी स्थिति मानी हैं। यह गङ्गातटपर स्थित है। प्राचीन भारतमें चम्पा एक अत्यन्त सुन्दर और समृद्ध नगर था। यह व्यापारका केन्द्र था और यहाँ वणिक बहुत दूर-दूरसे सामान खरीदनेके लिए आते थे।[४९] बुद्धपूर्वकालमें राज्यसत्ताके लिए मगध और अंगमें संघर्ष होता रहता था।[५०] बुद्धके समयमें अंग मगधका ही एक अंग था। श्रेणिक बिम्बिसार अंग और मगध दोनोंका स्वामी माना जाता था। पालि त्रिपिटकमें अग और मगधको एक साथ रखकर "अंग मगधा" द्वन्द्व समासके रूपमें प्रयुक्त हुआ है।[५१] चम्पेय जातकके अनुसार चम्पानदी अंग और मगध-

---

४४ वही १६।१५२-१५६। ४५. ग्रामसमुदायो जनपदः—काशिका ४।२।१। ४६. अंगुत्तर निकाय, पालि टैक्स्ट सोसायटी सस्करण पहली जिल्द पृ० २१३ तथा चौथी जिल्द पृ० २५२। ४७. वृहत्कल्पसूत्र भाष्य १-३२६३ वृत्ति, तथा १.३२७५-३२८९। ४८ एन्शियन्ट ज्योग्रेफी ऑव इण्डिया, पृ० ५४६; नन्दलाल दे-ज्योग्रेफीकल डिक्शनरी ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडीवल इण्डिया, पृ० ७ तथा स्मिथ-अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चतुर्थ संस्करण पृ० ३२। ४९ ओपपातिक सूत्र १। ५०. जातक, पालिटैक्स्ट् सोसायटी, जिल्द चौथी पृ० ४५४, जिल्द पाँचवीं पृ० ३१६, छठी जिल्द पृ० २७१। ५१. दीघनिकाय ३।५ मज्झिमनिकाय २।३।७, थेरीगाथा—बम्बई विश्वविद्यालय सस्करण, गा० ११०।

की विभाजक प्राकृतिक सीमा थी, जिसके पूर्व और पश्चिममे ये दोनों जनपद बसे हुए थे। अंग जनपदकी पूर्वी सीमा राजमहलकी पहाड़ियाँ, उत्तरी सीमा कौसी नदी और दक्षिणमे उसका समुद्र तक विस्तार था। पार्जिटरने पूर्णिया जिलेके पश्चिमी भागको भी अंग जनपदमे सम्मिलित माना है।[५२]

अंग जनपदके नामका कारण बतलाते हुए 'सुमंगलविलासिनी'[५३]मे बताया गया है कि इस प्रदेशमे अंग (अंगा) नामक लोग रहते थे। अत यह जनपद उसके नामपर 'अंग' कहलाया। अंगलोगोने यह नाम अपने अगो-शरीरावयवोंकी सुन्दरताके कारण पाया था। शनैः शनै यह नाम रूढि-द्वारा उन लोगोके स्थानपर प्रयुक्त होने लगा। महाभारतमे[५४] बताया गया है कि अंग नामक राजाके नामपर इस जनपदका नाम अंग पडा है। रामायणके[५५] अनुसार अंग देशका नाम पड़नेका कारण यह है कि क्रुद्ध शिवसे भयभीत होकर मदन यहाँ भागकर आया था और यही अपने अंग (शरीर)को छोडकर वह अनंग हुआ था। अतः मदनके अंगका त्याग होनेसे यह प्रदेश अंग कहलाया। जैन ग्रन्थोमे अंग देश और चम्पाके साथ अनेक कथाओंका सम्बन्ध बताया गया है। चम्पानागरी बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्यके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पञ्चकल्याणकोसे पवित्र हुई है। कहा जाता है कि श्रेणिककी मृत्युके पश्चात् कुणिक (अजातशत्रु)-को राजगृहमे रहना अच्छा न लगा। अतः उसने चम्पाको अपनी राजधानी बनाया।[५६] भगवान् महावीरके आर्यासंघकी प्रधान श्रमणिका चन्दनबाला यहीकी राजपुत्री थी। पृष्ठचम्पाके राजा शाल और छोटे भाई महाशालने भगवान् महावीरसे श्रमण दीक्षा ग्रहण की थी। इनके राज्यका उत्तराधिकारी इनका भानजा गागलि हुआ। चम्पाका सम्बन्ध महावीरके अतिरिक्त तीर्थंकर मल्लि, मुनिसुव्रत और नेमिनाथके साथ भी है। तीर्थंकर महावीरने चम्पा और पृष्ठचम्पाकी निश्रामे तीन वर्षावास व्यतीत किये थे। चम्पाके व्यापारी अपना माल लेकर मिथिला, अहिच्छत्रा, पिहुंड आदि अनेक स्थानोमे व्यापारके लिए जाते थे।[५७]

अपरान्तक (आदि० १६।१५५)

पश्चिमी समुद्रतटपर बम्बईसे लेकर सौराष्ट्र अथवा कच्छतकके प्रदेशको अपरान्त या अपरान्तक कहा गया है। बताया गया है कि चक्रवर्ती राजा मान्धाताके साथ अपरगोयान महाद्वीपके कुछ निवासी चले आये थे। उन लोगोने जिस

---

५२. जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, सन् १८९७ पृ० ९५। ५३ प्रथम जिल्द, पृ० ७२९। ५४. महाभारत गीता प्रेस संस्करण १।१०४।५३–५४। ५५. रामायण–गीता प्रेस संस्करण १।२३।१४। ५६. आवश्यकचूर्णि २, पृ० १७१। ५७ चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—जैन कथासाहित्यमें चम्पा, पृ० ६४५–६४८। ५८. नायाधम्म कहा ८,९, १५ तथा उत्तराध्ययन सूत्र २१।२।

जनपदको बसाया, उसीका नाम बादमें अपरान्तक पड़ गया।[५९] अशोकके पाँचवें शिलालेखमें अपरान्तकका विस्तृत क्षेत्रके रूपमें उल्लेख आया है। इस जनपदमें योन, कम्बोज और गन्धार तक सम्मिलित थे। युवान् च्वांगने अपरान्तक प्रदेशका जो विवरण दिया है, उसके अनुसार सिन्धु, पश्चिमी राजपूताना, कच्छ, गुजरात और नर्मदाके दक्षिण तटका भाग अर्थात् सिन्धु, गुर्जर और वलभि उसमें सम्मिलित थे।[६०] अपरान्तकका जैसा वर्णन आया है, उसके अनुसार इसकी स्थिति समुद्रके पास होनी चाहिए। बौद्ध साहित्यमें अवगत होता है कि अपरान्तकमें लालरट्ठ, सुरट्ठ, सूनापरान्त और महारट्ठ ये चारों जनपद सम्मिलित थे।[६१]

अभिसार (आदि० १६।१५५)

अभिसारकी पहिचान दर्वाभिसारके साथ की जा सकती है। इस जनपदके अन्तर्गत राजपुरी (रजौरी) का प्रदेश लिया जाता था।[६२]

अवन्ती (आदि० १६।१५२)

अवन्ती जनपद वर्तमान मालवाका वह भाग है, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। मत्स्य पुराणमें इसका नाम वीतिहोत्र कहा गया है। बाणभट्टने वेत्रवती या बेतवा नदीके तटपर स्थित विदिशा नगरीको अवन्ती देशकी राजधानी माना है। महाभारतमें नर्मदाके दक्षिण तटपर इस प्रदेशका अस्तित्व माना गया है, जो महानदीके पश्चिम तटपर है। मत्स्यपुराणके अनुसार कार्तवीर्यार्जुनके कुलमें अवन्ति नामक राजकुमार उत्पन्न हुआ था, उसीके नामपर इस प्रदेशका नामकरण हुआ।[६३] पाणिनिने इसे मध्य भारतका प्रसिद्ध जनपद माना है।[६४] बौद्धसाहित्यमें उज्जयिनीसे माहिष्मती तकका प्रदेश अवन्ती जनपदके अन्तर्गत माना गया है। दीघनिकायके महागोविन्दसुत्तसे यह ज्ञात होता है कि बुद्धपूर्व कालमें यह जनपद दक्षिणमें नर्मदानदीकी घाटी तक फैला हुआ था, क्योंकि इस नदीके किनारे स्थित माहिष्मती नगरीको इस सुत्तमें अवन्तीकी राजधानी बताया गया है, जिसे राजा रेणुके ब्राह्मण मन्त्री महागोविन्दने बुद्धपूर्व कालमें स्थापित किया था। निस्सन्देह अवन्ती जनपद एक समृद्ध भूभाग था।[६५]

---

५९ बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग वि० सं० २०१८ पृ० १५३। ६०. कनिंघम, एन्शियन्ट ज्योग्रेफी ऑव इण्डिया, पृ० ६९०। ६१ बु० भा० भू० पृ० १५४। ६२. स्थनिक सेटिलमेन्ट इन् एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १३०। ६३. हरिभद्रके प्राकृत कथासाहित्यका आलोचनात्मक अध्ययन, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली, सन् १९६५ ई०, पृ० ३५३। ६४. अष्टाध्यायी ४।१। १७६ तथा गणपाठ ४।२।८२, ४।२।१२७। ६५. बु० भा० भू० पृ० ४५०।

अश्मक आदि० १६।१५२)

अश्मक जनपदको गोदावरीके तटपर वसा हुआ वताया गया है। राजशेखरने काव्यमीमांसामे अश्मक देशकी स्थिति दक्षिणभारतमे मानी है[६६]। कूर्मपुराण और वृहत्संहिताने अश्मकको उत्तरभारतका एक अंग माना है, जो पंजावके समीप था। दशकुमारचरित, हर्पचरित और कौटिल्य अर्थशास्त्रके टीकाकार भट्टस्वामी इसे महाराष्ट्रका एक प्रदेश मानते है। अश्मक जनपद गोदावरी और माहिष्मती नदीके मध्यका विदर्भदेशका भूभाग है[६७]। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने गोदावरीके दक्षिण सह्याद्रि पर्वत शृंखलातक अश्मक जनपदका विस्तार माना है और इस जनपदकी राजधानी प्रतिष्ठान वतलायी है[६८]। पाणिनिने अष्टाव्यायी ४।१।१७३मे अश्मकका निर्देश किया है। डॉ० हेमचन्द्रराय चौधरीका मत है कि अश्मक (अस्सक) राज्यका प्रदेश अवन्तीकी दक्षिणी सीमातक फैला था[६९]। चुल्लकालिंग जातकमे अश्मक जनपदकी राजधानी पोटलि (पोतलि) नामक नगरी वतायी गयी है। नन्दलालदेने इसे प्रतिष्ठानसे मिलादा है[७०]। डॉ० सुक्थंकरने पोतन या पोटलिको आधुनिक वोधन नगर कहा है, जो हैदरावाद राज्यमे मंजिरा और गोदावरी नदियोके संगमके दक्षिणमे स्थित है[७१]।

महाभारतके आदिपर्वके अनुसार पोतन, पोदन या पौदन्य नगरको इक्ष्वाकुवंशीय राजा कल्मापपादकी पत्नी मदयन्ती और वशिष्ठके संयोगसे उत्पन्न पुत्र राजर्पि अश्मकने वसाया था। इस प्रकार अश्मक और पौदन्यका संवंध सुनिश्चित है।

दीघनिकायके महागोविन्द सुत्तमे वुद्धपूर्वकालके भारतमे अश्मक जनपद और उसकी राजधानी पोतनका उल्लेख मिलता है। सुत्तनिपातकी अट्ठकथासे अभिव्यक्त होता है कि अश्मक जनपद गोदावरी नदीके दक्षिणमे स्थित था। अस्सक जातकमे कहा गया है कि एकवार अस्सक राज्य और उसकी राजधानी पोतन नगरी काशी राज्यकी अधीनतामे आगये थे। चुल्लकालिंग जातकमे अश्मक राजाको कलिंग राज्य पर विजय प्राप्त करानेका निर्देश आया है।[७२] आदिपुराणमे उल्लिखित अश्मक जनपद गोदावरीके उत्तरमे अवस्थित होना चाहिए।

आनर्त्त (आदि० १६।१५३)

उत्तरी गुजरातसे मिला हुआ मालवाका एक भूभाग है। रुद्रदामनके जूना-

---

६६. काव्यमीमासा, विहार राष्ट्रभापा परिषद् पटना, संस्करण १७ अध्याय पृ० २२७। ६७. वही. परिशिष्ट–२ पृ० २८० । ६८. पाणिनिकालीन भारतवर्प, हिन्दी सस्करण २ अध्याय ४ परिच्छेद पृ० ७६। ६९. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १४३। ७०. ज्योग्रेफीकल डिक्शनरी पृ० १५७-१५६। ७१. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इण्डिया, पृ०८९, १४३। ७२. वुद्ध० भा० भू० पृ० ४४६–४४९।

गढ शिलालेखमें काठियावाढके दो विभाग—आनर्त और सौराष्ट्रका कथन है। आनर्तकी प्रसिद्ध नगरी कुशस्थली रही है।[७३] कुछ विद्वानोके मतमे आनर्तकी राजधानी आनर्तपुर या आनन्दपुर थी, जो वर्तमानमें वड़नगरके नामसे प्रसिद्ध है।[७४]

आन्ध्र (आदि० १६ । १५४, २९ । ९२)

सामान्यत. कृष्णा और गोदावरीके मध्यवर्ती प्रदेशको आन्ध्र कहा जा सकता है।[७५] बौद्ध साहित्यसे ज्ञात होता है कि कलिंग जनपदके दक्षिणमें आन्ध्र प्रदेश था। आदिपुराणमें उल्लिखित आन्ध्र सम्भवत. आधुनिक आन्ध्र जनपदके लिए व्यवहृत हुआ है। इसकी स्थिति हैदराबाद राज्यके अन्तर्गत भी मानी गयी है। इसे तैलिङ्ग (तेलंग) प्रदेश भी कहा है।

आभीर (आदि० १६ । १५४)

इस जनपदकी स्थिति महाभारतके अनुसार सरस्वतीके तटपर सिद्ध होती है।[७६] तृतीय शतीमे आभीरोका शासन महाराष्ट्र एवं कोकण प्रदेश पर रहा है।[७७] मध्यप्रदेश एवं खानदेशमे भी आभीरोंकी सत्ताके प्रमाण मिलते हैं। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त द्वारा आभीरोंपर आधिपत्य करनेसे आभीर जनपद झासी एवं भेलसाके मध्य ज्ञात होता है।[७८] कई प्रमाणोसे आभीरोका शासन नैपालमे भी सिद्ध होता है।[७९] आदिपुराणमे उल्लिखित आभीर प्रदेश महाराष्ट्रका एक अंग प्रतीत होता है।

आरट्ट (आदि० (१६।१५६, ३०।१०७)

आरट्टका संस्कृतरूप आराष्ट्र होता है। सम्भवतः यह जनपद पंजावका वह भूभाग है जो पंचनद द्वारा प्लावित होता है।[८०] इस जनपदमे उत्तम कोटि-के घोडे उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्तीके अभियानमें पश्चिम देशके राजाओने उन्हें आरट्ट जनपदके घोडे उपहारस्वरूपमे दिये थे। वस्तुत. आरट्टको स्थिति पंजाव और सिन्धके मध्यमे रही होगी।

---

७३ ट्रायनिक सेटिलमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया पृ० १५ टिप्पण ६। ७४. काव्यमीमांसा, परिशिष्ट–२ पृ० २८०। ७५. स्टडीज इन दि ज्योग्रेफी ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ० ८७ ८८, १३६-१३७। ७६. महाभारत ९।३२।१०। ७७. न्यू हिस्ट्री आव इण्डियन पीपुल जिल्द ५ पृ० ५१। ७८ जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १८९७ ई०, पृ० ८६१। ७९. डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नादर्न इण्डिया पृ० १८७–१९१। ८०. महाभारत द्रोणपर्व अ० ४०–४५ तथा कर्ण पर्व अ० ४५।

आवर्त (आदि० ३२।४६)

आदिपुराणमे इस जनपदका उल्लेख जनपदके राजाके नामसे आया है। आवर्त जनपदमे म्लेच्छ राजाओका निवास वताया गया है। चक्रवर्तीकी सेनाके आक्रमण करनेपर आवर्त म्लेच्छराजने चिलात म्लेच्छराजसे सन्धि कर ली थी और दोनो जनपदोके राजाओने मिलकर चक्रवर्तीकी सेनाका सामना किया था। अन्तमे चक्रवर्तीकी वृद्धिगत शक्तिके समक्ष उन्हे परास्त होना पड़ा। इन राज्योंकी सीमा हिमालयसे विजयार्घ तथा गंगासे सिन्धु तक वतलायी गयी है।[८१] भौगोलिक वर्णनोके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि आवर्त आनर्त होना चाहिए। सम्भवत. यह आनर्तके लिए प्रयुक्त हुआ है।

उशीनर (आदि० २९।४२, १६।१५३)

पाणिनिके अनुसार उशीनर वाहीकका जनपद था[८२]। काशिकाने उशीनरके सुदर्शन और आह्वजाल नामक नगरोका उल्लेख किया है। महाभारतमे शिविको उशीनरका राजा कहा गया है[८३]। शिविकी राजधानी शिविपुर थी, जिसकी पहचान वर्तमान शेरकोट–झंग जिलेकी तहशीलसे की जा सकती है।

उड्र (आदि० १६।१५२)

सुह्म और गौड जनपदको जीतनेके पश्चात् चक्रवर्तीने उड्र प्रदेशको विजय किया था। सोमेश्वरके एकशिलालेखमे दक्षिण कोशलके राज्योकी दी गयी नामावली मे उड्रका नाम आया है। उड्रदेशका समीकरण उडीसा अथवा उडीसाके एक खंड से किया जा सकता है।[८४] वैतरणी नदी द्वारा इसकी सीमा निर्धारित की जाती थी।

ओलिक (आदि० २९।८०)

आदिपुराणमे ओलिकका उल्लेख महिप जनपदके साथ आया है। अत: अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रदेश महिपके उत्तरमे होना चाहिए।

औण्ड्र (२९।४१)

यह जनपद उत्तरी उडीसामे होना चाहिए। पालिग्रन्थ अपदानमे[८५] औण्ड्र और उत्कल जनपदोंका संयुक्तरूपमे उल्लेख किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि औण्ड्र उड़ीसाका ही एक भाग था। युआन्-चुआङ्के यात्राविवरणसे भी इस तथ्यकी पुष्टि होती है।[८६]

---

८१. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, ३२।५५। ८०. अष्टाध्यायी ४।२।११७–११८। ८३. महाभारत वनपर्व १९४।२, द्रोणपर्व २८।१। ८४. एपीग्रेफिया इण्डिका जिल्द ८ पृ० १४१, जिल्द ३ पृ० ३५३। ८५. अपदान जिल्द दूसरी, पृ० ३५८–५९। ८६. वाटर्स औन यूआन् चुआङ्स् ट्रेविल्स इन इण्डिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९३।

औद्र (आदि० २९।७९)

आदिपुराणमे इस जनपदकी स्थिति दक्षिण दिशामें बतलायी गयी है। लामा तारानाथ इस जनपदकी पहचान बौद्ध साहित्यमें निर्दिष्ट ओडिविश—ओद्रविषसे करते है।[८७] यह जनपद उडीसाके दक्षिण भागमे निहित था।

ककूश (आदि० २९।५७)

रेवा प्रदेशके मध्यभागमें ककूश रहते थे। रेवा प्रदेशका तात्पर्य बघेल खण्ड से है। इसकी स्थितिके अनुसार उत्तरमे काशी, पश्चिममें चेदि, पूर्वमें मगध और दक्षिण-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्वमें कैमूरकी पहाड़ियाँ थी। ककूश जनपदका पूर्वाञ्चल विहारकी दक्षिण-पश्चिमी सीमा—शाहाबादसे मिलता रहा होगा।[८८] इस जनपदमें हाथी उत्पन्न होते थे, भरत चक्रवर्तीने ककूश देशमे उत्पन्न हाथियोको अपने अधीन किया था। ककूशको कशेरू भी कहा गया है, यह मलय द्वीपका सिंगापुर होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि आदिपुराणके ककूश जनपदकी पहचान सिंगापुरसे हो सकती है।

कच्छ (आदि० १६।१५३; २९।७९)

सिन्धके दक्षिणमे कच्छ जनपद है। पाणिनिने कच्छी मनुष्योको काच्छक कहा है[८९] और वहाँके लोगोकी कुछ विशेषताओका भी संकेत किया है।[९०] कच्छ जनपदमे लोहाने क्षत्रियोका निवास था। पाणिनिने नडादिगणमे नाडायन, चारायणके समान लौहायन भी सिद्ध किया है। लोहाने अभी तक अपने सिरके बालोका अगला आधा भाग मुडा हुआ रखते है, यही काच्छिका चूडाकी विशेपता है। आदिपुराणमे चक्रवर्ती दक्षिण अभियानमे समुद्रके किनारे चलते हुए कच्छ देशमे पहुँचा था। अतएव इस जनपदकी पहचान भृगुकच्छसे की जा सकती है। समुद्र तटवर्ती किसी जनपदविशेपसे भी इस प्रदेशकी पहचान की जा सकती है। वस्तुतः आदिपुराणमे दो कच्छ जनपदोका निर्देश आया है। एक तो स्पष्टत. भृगुकच्छ है और दूसरा दक्षिणी समुद्रतटवर्ती कोई प्रदेश है।

कमेकुर (आदि० २९।८०)

यह जनपद दक्षिणभारतमे चोल प्रदेशके आस-पास रहा है। आदिपुराणमे

---

८७. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग सं० २०१८ पृ० ४६७। ८८. एथनिक सेटिलमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया पृ० ३७; जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसयटी ऑव बगाल, १८६५, पृ० २७५; जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१४ पृ० ३७१; अष्टाध्यायी ४।१।१७८ तथा ज्योंग्रेफिकल डिक्शनरी ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ० ९५। ८९. अष्टाध्यायी ४।२।१३३; ४।२।१२६; ४।२।१३४
९०. काच्छकं हसितम्; काच्छक जल्पितम् तथा काच्छिका चूडा—काशिका ४।२।१३४।

इस जनपदका उल्लेख पाण्डय और अन्तरपाण्डय प्रदेशोंके साथ आया है। अतः क्रमेकुरकी अवस्थिति कांजीवरमके आस-पास होनी चाहिए।

करहाट (आदि० १६।१५४)

करहाटके दक्षिणमे वेदवती तथा उत्तरमे कोहनाकी स्थिति वतलायी गयी है। इसकी पहचान सतारा जिलेके कराडसे की जा सकती है। यह जनपद कृष्णा एवं कोहनाके संगमपर अवस्थित रहा होगा। महाभारतसे ज्ञात होता है कि पाण्डवकुमार सहदेवने करहाटको जीता था।[९१] आदिपुराणके अध्ययनसे भी करहाटकी अवस्थिति महाराष्ट्रमे ज्ञात होती है, अत 'कराडके' साथ इसकी तुलना की जा सकती है। इस जनपदमे सतारा जिलेका कुछ भूभाग ही सम्मिलित था।

कर्णाट (आदि० १६।१५४)

यह प्रसिद्ध कर्णाटक प्रदेश है। इन जनपदमे मैसूर, कुर्ग आदि जिले सम्मिलित थे। यह आन्ध्रके दक्षिण और पश्चिमका जनपद था। इसकी राजधानी श्रीरंगपत्तन थी। इसका उल्लेख काव्यमीमासामे भी आया है।

कलिङ्ग (आदि० १६।१५२; २९।८२)

कलिंग जनपद उत्तरमे उड़ीसासे लेकर दक्षिणमे आन्ध्र या गोदावरीके मुहाने तक फैला था। राजशेखरने काव्यमीमासामे दक्षिण और पूर्वके सम्मिलित भूप्रदेशको कलिंग माना है। पाणिनिने भी कलिंग जनपदका उल्लेख किया है।[९४] बौद्ध साहित्यमें कलिंगकी राजधानी दन्तपुरका उल्लेख आया है। दन्तपुरको जगन्नाथपुरीके साथ मिलाया जा सकता है। कुम्भकार जातकमे कलिंग देशके राजा करण्डका नाम आया है और उसे विदेहराज निमिका समकालीन वताया गया है। कलिंगवोधि जातकके अनुसार कलिंग देशके एक राजकुमारने मद्र देशकी एक राजकुमारीसे विवाह किया था। महावंशमे कलिंग और वंग देशके राजाओके बीच वैवाहिक सम्बन्धोका वर्णन आया है।[९५] कालिंगाधिपति खारवेलके शिलालेखसे ज्ञात होता है कि उसने अँग-मगधसे जिनप्रतिमाएँ लाकर यहाँ स्थापित की थी। कलिंगकी राजधानी कंचनपुर (भुवनेश्वर) थी।[९६] जैन ग्रन्थोके अनुसार यह जनपद एक व्यापारिक केन्द्र था और यहाँके व्यापारी लंका तक जाते थे। पूरी (जगन्नाथपुरी) मे जीवन्त स्वामीकी प्रतिमा विद्यमान थी।[९७] वज्रस्वामीने यहाँ उत्तरापथसे आकर माहेसरीके लिए विहार किया था। कलिंग जनपदका एक

---

९१. महाभारत स० प० अध्याय ३१; एपेग्राफी इण्डिया जिल्द ३ पृ० २३२। ९२. काव्यमीमासा, परिशिष्ट–२ पृ० २८२। ९३ वही, अध्याय १७, देशविभाग पृ० २२६ तथा परिशिष्ट–२ पृ० २८२। ९४. अष्टाध्यायी ४।१।१७०। ९५. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल पृ० ४९४–४९५। ९६. वसुदेवहिण्डी, पृ० १११; ओघनिर्युक्ति भाष्य ३०। ९७, ओघनिर्युक्ति टीका, ११९।

महत्त्वपूर्ण स्थान तोसलि था, तीर्थङ्कर महावीरने यहाँ विहार किया था। यहाँका तोसलिक नामक क्षत्रिय राजा था, जो जैनधर्मका प्रेमी था। तोसलिमें एक सुंदर जिनप्रतिमा थी, जिसकी देखरेख यह राजा करता था।

खारवेलके राज्यकालमे कलिंग जनपदकी वहुत समृद्धि हुई। खारवेलने अपने प्रवल पराक्रम द्वारा उत्तरापथसे पाण्ड्यदेश तक अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई थी। वह एक वर्ष विजयके लिए निकलता था और दूसरे वर्ष महल वनवाता, दान देता तथा प्रजाके हितार्थ अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करता था। खारवेलने एक वड़ा जैन सम्मेलन वुलाया था, जिसमे भारतके जैन यति, तपस्वी, ऋपि और विद्वान् एकत्र हुए थे।[९८] इस प्रकार कलिंगकी प्राचीन समृद्धिका परिज्ञान होता है।

आदिपुराण तथा अन्य कथा सम्वन्धी साहित्यसे भी कलिंगकी समृद्धि एवं धार्मिक आस्थाका परिज्ञान होता है। इस श्रेणीके साहित्यसे यह भी ध्वनित होता है कि नवम-दशम शतकमे कलिंगमे वौद्ध और वैदिक प्रभाव व्याप्त हो चुका था।

कामरूप (आदि० २९।४२)

इस जनपदकी पहचान असम या आसाम प्रदेशसे की जा सकती है। कामरूपकी राजधानी प्राग्ज्योतिपपुर थी। कामरूप पर्वतके कारण ही इस देशका नाम कामरूप पड गया है। कहा जाता है कि महाभारतके समय यहाँका राजा भगदत्त था।[९९] और हर्षवर्धनके समयमे उसका मित्र भास्करवर्मा यहाँका शासक था। कामरूप जनपदकी सीमा पूर्वमें चीन तक थी। ह्वेनसाग और अलवरूनीके लेखोसे ज्ञात होता है कि कामरूपको चीन और चीनका महाचीन कहा जाता था। आदिपुराणमे जिस कामरूपका निर्देश आया है, वह अत्यन्त विस्तृत भूभाग था और इसका विस्तार चीन तक व्याप्त था।

काम्वोज (आदि० १६।१५६)

अफगानिस्तान या उसके आस-पासका उत्तरी भाग कम्वोज या काम्वोज कहा गया है। यह हिमालय और सिन्धु नदीके वीचका जनपद है। कालिदासने रघुवंशके चतुर्थसर्गमे कम्वोजमे अखरोटके वृक्षोका वर्णन किया है। यह जनपद हिन्दुकुश पर्वत तक फैला हुआ था। कनिंघम और राय चौधरीके अनुसार वर्तमान रामपुर-राजौरी काम्वोजोकी राजधानी थी। महाभारतके अनुसार काम्वोज गण-

---

९८. [सु] कति समणासुविहितान (नुं १) च सतदिसानं (नु०) जातिनं तपासइसिन सधियन (नु ०१) अरहतनिसोदिया समीपे पभारे वराकर समुथपिताहि अनेक योजनाहि ताहि प० सि० ओ‥सिलाहि सिंहपथरानिसि· ·फुडाय निसयानि। खारवेल शिला० प० १५।

९९. काव्यमीमासा-परिशिष्ट २ पृ० २८२।

राज्य था। कम्बोज जनपदके क्षत्रिय काम्बोज कहलाते थे तथा इन्हीके नामपर इस प्रदेशका उक्त नाम पडा था। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवालने आधुनिक पामीर और बदख्शाँका सम्मिलित प्राचीन नाम कंबोज जनपद माना है।[100] प्रो० लामेंने काम्वोजकी पहचान काशगरके दक्षिणी प्रदेशसे की है। पाणिनिने भी इसे एक जनपद माना है। वस्तुत. काम्वोज पामीर देश है। आदिपुराणमे इस प्रदेशका विशेप वर्णन नही मिलता है।

कालकूट (आदि० २९।४८)

कालकूट जनपदमें जंगली जातियाँ निवास करती थी। सम्भवत. यह जनपद कुलिद प्रदेशमे अवस्थित था। महाभारतमे वताया गया है कि जव अर्जुन, भीम और कृष्ण जरासन्वको जीतनेके लिए गुप्तरूपसे निकले तो वे कुरु जनपदसे पूर्वकी ओर न जाकर पश्चिम कुरुजांगल—रोहतक, हिसारकी ओर गये। वहाँसे उत्तरकी ओर कुरुक्षेत्रमे पद्मसरकी ओर मुडे, अनन्तर कालकूट जनपद पार करके तराईके साथ सटे हुए मार्गसे सरयू और गँडक नदियाँ पार करते हुए मिथिला पहुँचे, पश्चात् वहाँसे नीचे गंगा पार कर गोरथगिरि और राजगिरिमे पहुँच गये थे।[101] इस मार्गमे कालकूट टोस–तमसा और यमुनाके प्रदेश–देहरादून, कालसीमे पडता है। यह यमुनाकी ऊपरी धाराका प्रदेश था। अथर्ववेदमे[102] हिमालयपर उत्पन्न होनेवाले यामुन अंजनका उल्लेख आया है। इस अंजनके कारण यामुन पर्वतका नाम कालकूट होना स्वाभाविक था। आदिपुराणके अनुसार भरत चक्रवर्तीका सेनापति कालिन्द और कालकूट जनपदोंमें पहुँचा है। ये दोनों जनपद तमसा और यमुनाके तटपर अवस्थित थे। पाणिनिके अनुसार कलकूट या कालकूट कुलिदके अन्तर्गत था।[103]

काशी (आदि० १६।१५१; २९।४७)

इस जनपदमे वाराणसी, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ और गाजीपुर जिलेका भूभाग सम्मिलित है। जैन साहित्यमे काशी जनपदका महत्त्वपूर्ण स्थान है। काशी और कोशलके अठारह गणराजाओने वैशालीके राजा चेटककी ओरसे कुणिकके विरुद्ध युद्ध किया था। काशीके राजा शंखका उल्लेख इस जनपदकी समृद्धि और कलाप्रियतापर प्रकाश डालता है। पार्श्वनाथका जन्म इसी जनपदकी प्रसिद्ध नगरी वाराणसीमे हुआ था। पौराणिक साहित्यमे काशी जनपदकी पवित्रता और महत्ता सूचक अनेक कथाएँ आई है। भरतके सेनापतिने काशी देशको अपने

---

१००. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, हिन्दी सस्करण पृ० ६१। १०१. महाभारत सभापर्व २०।२४–३०। १०२. अथर्ववेद मथुरा संस्करण ४।९।१०। १०३. अष्टाध्यायी ४।१।१७३, काशिका वृत्ति।

अधीन किया था। आदिपुराणसे इस जनपदका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है।

काश्मीर (आदि० १६।१५३)

प्रसिद्ध कश्मीर जनपदको काश्मीर कहा गया है। तन्त्रशास्त्रमें इसकी सीमाका वर्णन करते हुए लिखा लिखा गया है—

शारदामठमारभ्य कुंकुमाद्रितटान्तक‌:।
तावत्कश्मीरदेशः स्यात् पञ्चाशद्योजनात्मक.॥[104]

किरातदेश (आदि० २९।४८)

डॉ० डी० सी० सरकारने विहार प्रान्त स्थित राजगिरिके तप्तकुण्डोसे आरम्भ कर रामगिरि पर्यन्त विन्ध्याचल प्रदेशको किरात जनपद कहा है।[105] पुलिन्द हिमालय भूभागमे निवास करते थे और किरात विन्ध्याचल भूभागमे। किरातोंके निवास करनेके कारण ही यह प्रदेश किरात जनपदके नामसे प्रसिद्ध हुआ है। आदिपुराणमे भी किरात जनपदको भीलोका प्रदेश माना गया है।

कुरु (आदि० १६।१५२)

आदिपुराणमें कुरु और कुरुजांगल (आदि० १६।१५३) इन दो जनपदोंका उल्लेख आया है। गंगा—यमुनाके बीच मेरठ कमिश्नरीका भूभाग कुरु जनपद था, इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। थानेश्वर, हिसार अथवा सरस्वती-यमुना-गंगाके वीचका प्रदेश कुरुजागल कहलाता था। वस्तुत. कुरु जनपद और कुरुजागल एक दूसरेसे सटे हुए थे। पाणिनिने भी कुरुजनपदका निर्देश किया है।[106] आदिपुराणके अनुसार श्रावस्तीसे लेकर गंगा तकका प्रदेश कुरुजनपदमें सम्मिलित था। तीर्थंकर ऋषभनाथने एक वर्ष तपस्याका पूर्ण होनेपर इस कुरुजनपदमें विहार किया था। पौराणिक साहित्यमे हस्तिनापुरको प्राचीन तीर्थ माना गया।

कूट (आदि० २९।८०)

आदिपुराणमें कूटजनपदको पश्चिम-दक्षिणमे माना गया है। इस जनपदकी स्थिति बम्बई प्रदेशमें सम्भव है।

केकय (आदि० १६।१५६)

पञ्जाबके व्यास और सतलजके मध्यका भाग केकय कहा गया है। यह सिन्ध देशकी सीमामे मिलता है। पार्जिटरने केकयकी स्थिति मद्रदेशके पास

---

१०४. काव्यमीमासा—परिशिष्ट–२ पृ० २८३। १०५. विष्णुपुराणका भारत, चौखम्बा सस्करण १९६७ ई०, पृ० ३१; तथा स्टडीज़ इन दि ज्योग्रेफी ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, सन् १९६० ई०, पृ० ९५। १०६. अष्टाध्यायी ४।१।१७२ तथा ६।२।१०१।

मानी है। कनिंघमने इसकी पहचान झेलम जिलेके 'गिरिजक' से की है।[१०७] इस जनपदकी स्थिति गान्धारके उत्तर तथा मद्रके पश्चिममे सम्भव है। पाणिनिने भी केकय जनपदका निर्देश किया है।[१०८] यह झेलम, शाहपुर और गुजरातका पुराना नाम है।[१०९] केकय प्राचीनतम देश है। उपनिषदोंमे ब्रह्मवादी केकय-अश्वपतिका नाम मिलता है। जैनागमोमे केकय अर्धको आर्य देश कहा गया है, पर यह केकय पूर्व-उत्तरका कोई जनपद है, जिसके अर्ध भागमे जैनधर्मका प्रचार था। डॉ० जगदीशचन्द्र जैन[११०] का अनुमान है कि यह केकय श्रावस्तीके उत्तर पूर्वमें नैपालकी तराईमे अवस्थित था तथा इसे उत्तरके केकयसे भिन्न मानना चाहिए। आगमोके उक्त उल्लेखसे ऐसा प्रतीत होता है कि आगमोमे प्रतिपादित केकय नैपालमें कही अवस्थित था; पर आदिपुराणका केकय जनपद उत्तरमे गान्धारके आस-पास अवगत होता है।

केरल (आदि०२९।७९; १६।१५४)

दक्षिणका मालावार प्रान्त केरल जनपद कहा जाता है, इसमे मालावार, कोचीन और ट्रावंकोरके जिले सम्मिलित है। इस जनपदमे कोंकणके दक्षिण भागमे गोकर्ण क्षेत्रसे कन्याकुमारी तकका क्षेत्र अन्तर्भुक्त होता था। डॉ० सरकारके मतानुसार मलयालम भाषी समस्त भूभाग केरल जनपद है।[१११] आदिपुराणमे केरलकी समृद्धिका भी चित्रण आया है।

कोशल (आदि० १६ । १५४; २९ । ४७)

अवध देशको कोशल जनपद माना गया है, आदिपुराणमे इसके दो विभाग पाये जाते हैं—उत्तरकोशल और दक्षिणकोशल। अयोध्या, श्रावस्ती, लखनऊ आदि नगर कोशल जनपदमे सम्मिलित थे। रामायणके अनुसार श्रीरामचन्द्रजीने श्रावस्तीका राज्य लवको और दक्षिण कोशलकी कुशावतीका राज्य कुशको दिया था। दक्षिणकोशलको विदर्भ या महाकोशल भी कहा गया है। बौद्ध साहित्यमें सोलह जनपदोंमें कोशलकी गणना की गयी है। अचिरावती नदी कोशल तथा मल्लदेशकी सीमाको विभिक्त करती थी। जिस प्रकार वैशालीमे जन्म होनेके कारण तीर्थंकर महावीरको वैशालिक कहा जाता है, उसी प्रकार कोशलमे जन्म होनेके कारण ऋषभनाथको कौशलिक (कोसलिय) कहा है। जैन परम्पराकी दृष्टिसे कोशल जनपद बहुत पवित्र माना जाता है। शताधिक कथाओंका सम्बन्ध

---

१०७. आरक्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट भाग २, पृ० १४ तथा एथनिक सेटिलमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया पृ० ८६। १०८. अष्टाध्यायी ७।३।२। १०९ पाणिनिकालीन भारतवर्ष, हिन्दी-संस्करण पृ० ६७। ११०. प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० २६४। १११. स्टडीज़ इन दि ज्योग्रेफी ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ० २६ टि०६, पृ० १०४।

कोशल देश और साकेत नगरीसे है अयोध्यामें तो तीर्थंकरोके जन्म लेनेका विधान वर्णित है।

कोंकण (आदि० १६ । १५६)

कोकण जनपदके अन्तर्गत काठियावाड तथा अपरान्तका कुछ भाग माना जाता है। इस जनपदकी भूमि सह्याद्रि—पश्चिमीघाटसे अरबसागर तक फैली हुई है। रघुवशके चतुर्थसर्गमे कालिदासने इसे अपरान्त देश कहा है।[११२] कल्याण, बम्बई आदि नगर इसी जनपदके अन्तर्गत थे। अष्टाङ्गहृदयके टीकाकार अरुणदत्तने लिखा है—"अपरान्ता कोकुणा."[११३]। शक्तिसंगमतन्त्रमे कोकणमे पश्चिम सौराष्ट्र और पश्चिमोत्तर आभीर जनपदकी स्थिति मानी गयी है।[११४] आदिपुराणका यह जनपद पश्चिम समुद्रके तटपर और पश्चिमीघाटके पश्चिमीय तीर पर अवस्थित था। वर्तमानमें इस जनपदको परशुराम क्षेत्र भी कहा जाता है।[११५] जिनसेनके समयमे कोकण जनपदकी पृथक् स्थिति थी। यह अपरान्तसे पृथक् तो था ही, साथ ही इसका सीमाविस्तार अपरान्तसे अधिक था।

गान्धार (आदि० १६ । १५५)

गान्धार जनपदका सोलह जनपदोंमे उल्लेख आया है। इस जनपदका निर्देश अशोकके पञ्चम शिलालेखमें भी पाया जाता है। मज्झिमनिकायकी अट्ठकथामे गान्धार जनपदको सीमान्त जनपद कहा गया है।[११६] गान्धारकी स्थिति स्वात नदीसे झेलम नदी तक थी। इस प्रकार इस जनपदमे पश्चिमी पजाब और पूर्वी अफगानिस्तान सम्मिलित थे। गान्धारकी राजधानी तक्षशिला नगरी थी। तक्षशिला शिक्षा और व्यापार इन दोनो ही दृष्टियोसे महत्त्वपूर्ण थी। जीवकवैद्य तक्षशिलाका प्रसिद्ध स्नातक था। छान्दोग्य उपनिषद्[११७] और शतपथ ब्राह्मणमे गान्धारका उल्लेख आया है।

गौड (आदि० २९ । ४१)

गौड जनपद पूर्वमे स्थित था। इस जनपदमे वाराणसीसे बंगाल तकका भूभाग अन्तर्भुक्त था। नन्दलाल देके अनुसार समग्र बंगाल देश गौड जनपद है। ईशानवर्मन्के हरहा अभिलेखसे अवगत होता है कि गौड प्रमुखरूपसे उत्तरी एवं

११२. अपरान्त-महीपाल-व्याजेन रवत्रे करम्—रघुवंश ४।५८। ११३. काव्यमीमासा-परिशिष्ट—२, पृ० २८५। ११४. कोंकणात्पश्चिम तीर्वा समुद्रप्रान्तगोचर.। हिंगुलाजान्तको देवि शतयोजनमाश्रितः॥ सौराष्ट्रदेशो देवेशि नाम्ना तु गुर्जराभिधः ॥ ..॥ शाक्तितन्त्र ३।७।१३ औ कोंकनादधोभागे तापीत. पश्चिमोत्तरे। आभीरदेशो देवेशि विन्ध्यशैले व्यवस्थितः ॥—वही २।७।२०। ११५. काव्यमीमासा-परिशिष्ट २ पृ० २८५। ११६. मज्झिमनिकाय जिल्द दूसरी, पृ० ९८२ (पपंचसूदनी)। ११७. छान्दोग्य-उपनिषद् गीताप्रेस, ६।१४। ११८. शतपथब्राह्मण ११।४।१।१।

पश्चिमी बंगालके लिए प्रयुक्त होता था।[११९] गौड देशके अन्तर्गत राढ, वारेन्द्र और सुवर्ण भूमिको भी सम्मिलित कर लिया जाता था। शक्तिसंगमतन्त्रमे गौड देशका विस्तार वंगसे भुवनेश्वर तक वतलाया गया है—

वंगदेशं समारभ्य भुवनेशान्तग' शिवे।
गौडदेश: समाख्यात. सर्वविद्याविशारद ॥ ३।७।३८

यही पद्य स्वकन्दपुराणमे भी पाया जाता है। अतएव आदिपुराणमे जिस गौड देशका उल्लेख आया है, उसकी सीमा आशनसोलसे वंगाल तक मानी जा सकती है। वंगालके पश्चिमी भागको गौड देश मानना अधिक तर्कसंगत है।

चिलात (आदिपुराण ३२।४६)

आदिपुराणमे इसका उल्लेख आवर्त राज्यके साथ आया है। यह कोई पहाड़ी राज्य है।

चेदि (आदि० २९।५५)

चेदि जनपद वत्स जनपदके दक्षिणमे, यमुना नदीके पास अवस्थित था। इसके पूर्वमे काशी, दक्षिणमे विन्ध्यपर्वत, पश्चिममे अवन्ती और उत्तर-पश्चिममे मत्स्य तथा सूरसेन जनपद स्थित थे। चेदि जनपदका सवसे पार्श्ववर्ती प्रदेश वत्स्य जनपद था। इस जनपदके अन्तर्गत मध्यप्रदेशका कुछ भाग एवं बुन्देलखण्ड-का कुछ प्रदेश लिया जाता था। विभिन्न कालोमे इसकी सीमा वदलती रही है। चेतीयजातकके अनुसार इस जनपदकी राजधानी सोत्थिवती नगरी थी, जिसे नन्दलाल देने महाभारतकी शुक्तिमती नगरीसे मिलाया है।[१२०] पार्जिटर इस जनपदको वाँदाके समीप वतलाते हैं,[१२१] जिससे डॉ० राय चौधरी भी सहमत है।[१२२] पालिसाहित्यमे 'चेदि' राष्ट्रका विस्तृत वर्णन आया है। तथा इसके प्रसिद्ध नगरोंका भी कथन किया गया है। वताया गया है कि चेदि जनपदसे काशी जनपदको जानेवाला मार्ग वनमे होकर जाता था और लुटेरोसे व्याप्त था।[१२३]। आदिपुराणके अनुसार भरतकी सेनाने लीलापूर्वक नागप्रिय पर्वतका उल्लंघन कर चेदि देशमे उत्पन्न हुए हाथियोको अधीन कर लिया था। इसमे सन्देह नही कि जिनसेनके समयमे चेदिराज्य समृद्ध था। शिशुपाल इस 'चेदि' जन-पदका सम्राट था।[१२४] पुराणोमे चेदि राज्यकी विभूतिका सम्यक् वर्णन आया है। चन्देरी नगरीका समीपवर्ती प्रदेश चेदि जनपद कहलाता था।

---

११९. एपीग्राफी इडिका जिल्द १४ पृ० ११७, जिल्द २२ पृ० १३५। १२०. ज्योग्रेफीकल डिक्शनरी ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया पृ० १९६। १२१. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १२९ तथा स्टडीज इन इण्डियन एण्टिक्विरीज, पृ० ११४। १२२. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १२९। १२३. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ४२७ तथा अगुत्तर निकाय ३ जिल्द, पृ० ३५५। १२४. शिशुपालवध महाकाव्य सर्ग २–१५, १६ और १७।

चेर (आदि० २९ । ७९)

केरलके लिए चेरका प्रयोग पाया जाता है। कन्नटमें केरलको बोलचालमें चेर भी कहा जाता था। चेर जनपदमे मैसूर, दक्षिणी मालावार, ट्रावंकोर एवं कोचीनके भूभागको लिया जा सकता है। चेर प्रदेशकी राजधानी स्कन्दपुरी रही है, जिसकी स्थिति आधुनिक कोयम्बटूर जिलेके पश्चिममे वतलायी गयी है।[१२५]

चोल (आदि० १६ । १५४; २९ । ९४)

चोल या चोड जनपदका विस्तार तंजोर और दक्षिण आरकाटके जिले तक माना गया है। अशोकके द्वितीय शिलालेखमें सुदूर दक्षिणके चोल, पाण्ड्य आदि राष्ट्रोका उल्लेख आया है। ग्यारहवी शतीमे चोल राज्यकी राजधानी तंजोर थी। चोलराज्य द्रविड़के नामसे भी पुकारा जाता था।[१२६] इस जनपदमे मद्रास, उसके उत्तरके कुछ प्रदेश एवं मैसूर राज्यका कुछ अंश सम्मिलित था।

तुरुष्क (आदि० १६ । १५६)

इसकी पहिचान पूर्वी तुर्किस्तानसे की जा सकती है। इसे चीनी तुर्किस्तान-भी कहा गया है। इस जनपदमे तुर्क निवास करते थे, जो बौद्ध धर्मानुयायी और भारतीय संस्कृतिके रक्षक थे। इनके अनेक सास्कृतिक भग्नावशेष चीनी तुर्किस्तानमे मिले है। यह भारतका जनपद था। आदिपुराणके अनुसार ऋषभदेवने इस जनपदको सुसंस्कृत किया था।

तैतिल (आदि ३० । १०७)

आदिपुराणके वर्णनसे स्पष्ट है कि तैतिल जनपदमे घोडे उत्पन्न होते थे। इस जनपदका महत्त्व घोडोकी दृष्टिसे था। भरत चक्रवर्तीको सौराष्ट्रमे तैतिल जनपदसे घोडे भेंटमें प्राप्त हुए है। अतः तैतिलकी स्थिति ऐसे स्थानपर होनी चाहिए, जहाँ उत्तम अश्व उत्पन्न होते हो। हमारा अनुमान है कि इस जनपदकी स्थिति पंजाव, सिन्ध और काम्बोजके निकट होनी चाहिए।

त्रिकलिंग (आदि २९ । ७९)

राढासे लेकर उडीसा तकका प्रदेश कलिंगके अन्तर्गत लिया जाता था। प्लिनीने कलिंगके ही तीन खण्ड माने है—कलिंग, मध्यकलिंग और त्रिकलिंग।[१२७] पुराणोमे भी कलिंगके कई भेद वतलाते है। वायुपुराणमे—"कलिङ्गाश्चैव सर्वश."[१२८] लिखा है। प्राचीन अभिलेखोमें त्रिकलिंगका उल्लेख मिलता है। त्रिकलिंग जनपदको राढप्रदेश माना जा सकता है। राढ या लाट देश भगवान्

---

१२५. ज्योग्रेफीकल डिक्शनरी ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ० ९८। १२६. वही पृ० ५१। १२७, जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव वंगाल १८३७; पृ० २६८। १२८. वायुपुराण ४५।१२५।

महावीरके समयमे भी प्रसिद्ध था। यहाँ उनका विहार होता रहा था। त्रिकलिंगकी राजधानी सप्तग्राम थी। आदिपुराणमे त्रिकलिंगको विजयके साथ कलिंग विजयका कथन आया है। त्रिकलिंगको विजित कर भरत सेनापतिने कलिंगकी समीपवर्त्तिनी अनेक नदियोको पार किया था। त्रिकलिंगके साथ जैनश्रमणोंका सम्बन्ध विशेषरूपसे रहा है। खारवेलके समयसे ही वहाँ श्रमण-सम्मेलन होने लगे थे।

दशार्ण (आदि० २९।४२)

इसकी उत्पत्ति ऋक्ष पर्वतसे मानी गयी है। वैदिक पुराणोमे ऋक्षसे निकलने वाली नदियोंमें दशार्णका निर्देश आया है। पुराणोंके दशार्णकी पहिचान सागर जिलेके धसानसे की जा सकती है। वायुपुराणमें दशार्णका उल्लेख कालिञ्जरके साथ किया गया है। बौद्धग्रन्थ महावस्तुमे दशार्ण जनपदको जम्बूद्वीपके सोलह महाजनपदोंमें गिनाया गया है। कालिदासने मेघदूतमे[१२९] दशार्ण जनपदका परिचय देते हुए लिखा है कि इस जनपदकी राजधानी विदिशा (भेलसा) नामक नगरी थी। कालिदासके इस कथनके आधारपर दशार्णकी पहचान विदिशाके आसपासके प्रदेशसे की जा सकती है। बुन्देलखण्डमे वर्तमानमे प्रवाहित होनेवाली धसान नदी दशार्ण जनपदकी पहचान करानेमें समर्थ है। आदिपुराणमे जिस दशार्णका निर्देश आया है, वह धसान नदीका पार्श्ववर्ती प्रदेश माना जा सकता है। पूर्व मालवा भी दशार्णको कहा जा सकता है। वास्तवमे ई०पू० २-५वी शती तक दशार्ण जनपद बहुत समृद्ध था और इस देशकी राजधानी विदिशा विलासिताके वातावरणसे युक्त थी। इसी कारण कालिदासने विदिशाकी केलि-क्रीडाओंका चित्रण किया है।

दारु (आदि० १६।१५४)

दारु जनपदको भगवान् ऋषभदेवने बसाया था। इस जनपदकी समता 'दार्व' से की जा सकती है, चिनाव और रावीके बीच दार्व जनपद था। यह जम्मू राज्य प्रतीत होता है।[१३०]

पंचाल (आदि० १६।१५३)

पंचाल प्राचीनकालसे ही प्रसिद्ध जनपद रहा है। यह इन्द्रप्रस्थसे तीस योजन दूरीपर कुरुक्षेत्रके पश्चिम और उत्तरमे अवस्थित था। पंचाल जनपद तीन

---

१२९. सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥ तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा। तीरोपान्तस्तनितसुभग पास्यसि स्वादु यस्मात्– सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥—पूर्वमेघ २३-२४। १३०. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ६१, टि० २।

हिस्सोमें विभक्त था—(१) पूर्वपंचाल, (२) अपर पंचाल और (३) दक्षिण पंचाल। महाभारतके अनुसार दक्षिण और उत्तर पंचालके बीच गंगानदी सीमा थी। एटा और फर्रुखाबादके जिले दक्षिण पंचालमें थे। वर्णनोंसे ज्ञात होता है कि उत्तर पंचालके भी पूर्व और अपर दो भाग थे, इन दोनोंको रामगंगा विभक्त करती थी। अहिच्छत्रा उत्तरी पंचाल तथा काम्पिल्य दक्षिणी पंचालकी राजधानी रही है।[131] काम्पिल्य नगर जैन संस्कृतिकी दृष्टिसे अत्यन्त पवित्र और महत्त्वपूर्ण माना गया है। जैनधर्मकी दृष्टिसे पंचाल जनपदका महत्त्व कम नहीं है। आदि तीर्थंकरका विहार भी इस प्रदेशमें हुआ था।

पल्लव (आदि० १६। १५५)

दक्षिण भारतके कुछ भागपर पल्लव वंशका शासन पाँचवीं शताब्दीसे नवीं शताब्दी तक रहा है। काँची पल्लव वंशकी राजधानी थी। काँचीके चारों ओरका प्रदेश पल्लव जनपद कहा जाता था। आदिपुराणमें पल्लवको स्वतन्त्र जनपद माना गया है।[132] राजशेखरकी काव्यमीमांसासे भी पल्लव जनपदका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। काचीके समीपवर्ती प्रदेशको पल्लव जनपद माना जा सकता है।

पुण्ड्र (आदि० १६। १५२)

यह जनपद पूर्व बंगालके मालदा जिलेमें स्थित था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें भी इस देशका नाम आया है। वर्तमान बोगरा जिलेका महास्थानगढ़ नामक ग्राम पुण्ड्र जनपदमें था। इस ग्राममें अशोकका एक शिलालेख मिला है, उसमें पुण्ड्रनगरके महामात्यके लिए आज्ञा दी गयी है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें (३२ अ०) लिखा है कि पुण्ड्र देशका वस्त्र श्याम और मणिके समान स्निग्ध वर्णका होता है। महाभारतमें[133] पुण्ड्र राजाओंका दुकूल आदि लेकर महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें उपस्थित होना लिखा है। पुण्ड्र देशको आदि तीर्थंकर द्वारा बसाया गया लिखा है। वस्तुतः आदिपुराणके समयमें पुण्ड्र जनपद पूर्वीय बंगालका एक अंश था तथा यह स्वतन्त्र जनपदके रूपमें प्रसिद्ध था।

पुन्नाग (आदि० २९। ७९)

यह दक्षिण प्रदेशका जनपद है। भरत चक्रवर्तीने दक्षिणके जिन राज्योंको अपने अधीन किया था, उनमें पुन्नागका भी वर्णन आया है। अत: इस जनपदकी दक्षिणमें अवस्थिति सिद्ध है। इसकी पहचान पुंगल जनपदसे की जा सकती है।

---

१३१ स्टडीज इन दि ज्योग्रेफि ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ० ६२। १३२. काव्यमीमांसा १७ अध्याय देश विभाग, तथा परिशिष्ट-२ पृ० २९। १३३. महाभारत सभापर्व ७८, ९३।

प्रातर (आदि० २९ । ७९)

इस जनपदकी दक्षिणमे स्थिति होनी चाहिए। भरत चक्रवर्तीने दक्षिणके केरल, केर, पुन्नाग प्रभृति देशोके साथ प्रातरको भी जीता था। आदिपुराणके अनुसार इस जनपदकी स्थिति दक्षिणमे मैसूर राज्यके अन्तर्गत होनी चाहिए। यह समुद्र तटवर्ती प्रदेश है। वहुत सम्भव है कि वैगलौरके आस-पास यह जनपद रहा हो।

वाण (आदि० ३० । १०७)

आदिपुराणके अनुसार यह जनपद कुलीन अश्वोके लिए प्रसिद्ध माना गया है। भरत चक्रवर्तीको यहाँ भेंटमे इस देशके अश्व प्राप्त हुए थे। यह जनपद दक्षिण-पश्चिममे स्थित होना चाहिए।

मगध (आदि० १६ । १५३; २९ । ४७)

मगध जनपदका वर्णन जैन वाङ्मयमे सर्वत्र पाया जाता है। इस जनपदकी सीमा उत्तरमे गंगा, दक्षिणमें शोण नदी, पूर्वमे अंग और उत्तरमे सघन जंगल तक फैली हुई थी। एक प्रकारसे दक्षिण विहार मगध जनपद था। इसकी राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी। महाभारतमे मगधका नाम कीटक आया है। वायुपुराणके अनुसार राजगृहको कीकट कहा गया है। शक्तिसंगमतन्त्रमे कालेश्वर—कालभैरव-वाराणसीसे तप्तकुण्ड–सीताकुण्ड, मुंगेर तक मगध देश माना गया है।[१३४] इस तन्त्रके अनुसार मगधका दक्षिणी भाग कीकट[१३५] और उत्तरीय भाग मगध वताया गया है। प्राचीन मगधका विस्तार पश्चिममे कर्मनाशा नदी और दक्षिणमे दमूद नदीके स्रोत तक रहा है। हुयान्-त्संगकी गणनाके अनुसार मगध जनपदकी परिधि मण्डलाकार रूपमे ८३३ मील थी। इसके उत्तर मे गंगा, पश्चिममे वाराणसी, पूर्वमे हिरण्य पर्वत और दक्षिणमे सिंहभूमि वर्तमान थी। मगध जनपदके नामकरणका कारण वतलाते हुए आचार्य बुद्धघोषने कहा है—"वहुधा पपंचानी"—अनेक प्रकारकी किंवदन्तियाँ प्रचलित है। एक किंवदन्तीमे कहा गया है कि जव राजा चेतिय असत्य भाषणके कारण पृथ्वीमे प्रविष्ट होने लगा, तव जो व्यक्ति उसके पास खडे हुए थे, उन्होने कहा—"मागधं पविस"—पृथ्वीमे प्रवेश मत करो। इसीके समान एक अन्य किंवदन्ती है कि जव राजा चेतिय धरतीमे प्रवेश कर गया तो जो लोग पृथ्वी खोद रहे थे, उन्होंने देखा तो वह वोला—"मागधं करोथ"। इन अनुश्रुतियोके साथ तथ्य यही है कि मगधा

---

१३४. कालेश्वरं समारभ्य तप्तकुण्डान्तकं शिवे। मगधाख्यो महादेशो यात्राया न हि दुष्यति ॥—शक्तितंत्र ३।७।१०। १३५. दक्षिणोत्तरक्रमेणैव क्रमात्कीकटमागधौ ॥—वही ३।७।११।

नामक क्षत्रिय जातिकी निवास भूमि होनेके कारण यह जनपद 'मगध' कहलाया।[१३६]

इसमे सन्देह नही कि मगध जेनधर्मकी प्रवृत्तियोका प्रधान केन्द्र था। राजगृह व्यापारिक केन्द्र था। तीर्थकर महावीरने इस नगरीमे १४ वर्षावास किये थे। मगधाधिपति राजा श्रेणिक भगवान् महावीरकी सभाका प्रमुख श्रोता था। तीर्थकर वर्धमानकी प्रथम समवशरणसभा मगधके विपुलाचल पर्वत पर ही हुई थी। महाकवि अर्हद्दासने अपने मुनिमुव्रत महाकाव्यमे मगधका अत्यन्त अलंकृत और हृदयग्राह्य चित्रण किया है। कविने मगध देशको जम्बूद्वीपका भूपण माना है। इस देशके पर्वत राजाओके समान सुशोभित होते हैं। यहाँ वृक्षपक्तियोसे युक्त नदियोके सुन्दर विकसित कमलदलोसे चिह्नित विस्तृत पुलिन अत्यन्त रमणीक प्रतीत होते है। सघन वनोके कारण यहाँ सूर्यरश्मियोकी तीव्रताका प्रभाव नही पडता है। कल्पवृक्षके समान फलयुक्त वृक्ष गगनका स्पर्श करते हैं। यहाँ धान्यकी खेती सदा होती रहती है। इक्षु, तिल, तीसी, गुड, कोदो, मूँग, गेहूँ, एव उर्द आदि विविध प्रकारके अन्नादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। आम्र, जामुन, नीबू केला प्रभृति फल सदैव पथिकोको आकृष्ट करते रहते हैं। मगध देश सभी प्रकारकी आर्थिक, धार्मिक और राजनैतिक विभूतिसे युक्त था। यहाँके निवासी तत्त्वचर्चा, स्वाध्याय, प्रभुअर्चा आदिमे प्रवृत्त रहते थे। कविने श्लेपालंकारमे मानवीयकरणकर मगधका यथार्थ निरूपण किया है। वास्तवमे प्रत्येक जैन पुराण, कथा अथवा तात्त्विक चर्चाके सन्दर्भमे मगधका उल्लेख आता है। बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत नाथका जन्म मगध जनपदमें ही हुआ था।[१३७]

मध्यदेश (आदि० २९।४२)

मध्यदेशकी सीमा कुरुक्षेत्र, प्रयाग, हिमालय और विन्ध्यके समीपमे प्रवाहित होनेवाली सरस्वती नदी तक मानी गयी है। मनुस्मृतिमे गगा और यमुनाकी मध्यवर्तिनी धारा मध्यप्रदेशके अन्तर्गत मानी गयी है।[१३८] बौद्ध साहित्यके अनुसार पूर्वमे कजंगल, वहिर्भागमे महासाल, दक्षिण-पूर्वमे सलावती नदी, दक्षिणमे सेतकन्निक नगर, पश्चिममे थन नामक नगर और उत्तरमे उसिरध्वज पर्वत मध्य-

---

१३६. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, साहित्य सम्मेलन प्रयाग सस्करण, पृ० ३६१। १३७ अथास्ति जम्बूविटपिच्छलेन द्वीपेपु गर्वोन्नतमस्तकस्य। द्वीपस्य भर्माभरणेऽत्र खण्डे रत्नायमानो मगधाख्यदेश ॥ यक्ष्माधरा भूतलसेव्यपादा भूपा इवाक्रान्तदिगन्तराला:। इन्दन्ति मत्तद्विपकैरवाक्षिकस्तूरिकाकाञ्चनरत्नखट्गै. ॥ यस्योर्वरासारगुणस्य मूर्ता: पुञ्जा इवाभान्ति समन्ततोऽपि। तिलातसीकोद्रवमुद्गमापगोधूमवल्लक्षवशालिशैला: ॥—मुनिसुव्रतकाव्य—श्री जैनसिद्धान्तभवन, आरा, सन् १९२९ ई० १।२२,२३ तथा ३३। १३८. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेश: प्रकीतित: ॥—मनु०२।२१।

देशकी सीमा है।[१३९] भरत चक्रवर्तीने मध्यदेशके राजाको अपने अधीन कर शासन-की स्थापना की थी।

मद्र (आदि०२९।४१)

मद्र जनपद बहुत बड़ा था। रावीसे झेलम तक उसका विस्तार था। बीचकी चिनाव नदी उसे दो हिस्सोंमें बाँटती थी। स्वभावत. झेलम और चिनावके बीच का पश्चिमी भाग अपरमद्र गुजरात जिला और चिनाव एवं रावीके बीचका भाग —स्यालकोट, गुजरावाला, पूर्वमद्र कहलाता था। मद्र जनपदकी राजधानी शाकल थी। महाभारतमे बताया गया है कि भीष्म मन्त्रियो, ब्राह्मणों और सेनाके साथ इस देशमे आये तथा उन्होने मद्रराज शल्यसे पाण्डुके लिए माद्रीका वरण किया।[१४०] मद्र जनपदके व्यक्ति युधिष्ठिरके लिए भेंट लेकर आये थे।[१४१] सती सावित्रीके पिता अश्वपति मद्रदेशके ही नरेश थे।[१४२] कर्णने मद्र और वाहीक आदि देशोंकी आचारभ्रष्टताके कारण निन्दा की है।[१४३] आदिपुराणमे बताया गया है कि भरत चक्रवर्तीके सेनापतिने मद्र जनपदमे जाकर भरतकी आज्ञा प्रचारित की थी।

मल्ल (आदि० २९।४८)

मल्ल प्राचीन गणतन्त्र राज्य है। कुशीनगर (कसया) इस राष्ट्रकी राजधानी बताया गया है। राजशेखरने काव्यमीमासामे पूर्वीभारतके जनपदोमे मल्लकी गणना की है। बौद्धसाहित्यमे कोशल राज्यके उत्तर-पूर्वमे मल्ल और वज्जि राष्ट्रको बताया गया है। महात्मा बुद्धकी मृत्युके समय मल्ल पावा एवं कुशीनगरमे रहते थे। पावा एवं कुशीनगरकी स्थिति आधुनिक गोरखपुर जिलेमे मानी जा सकती है। और इसे ही मल्ल जनपद मानना उपयुक्त होगा। दीघनिकायकी अट्ठकथाके "तीर्ण गावुतानि कुसीनारा नगरं" उद्धरणसे प्रतीत होता है कि पावा और कुशीनगर आस-पास ही स्थित थे।[१४४] वास्तवमे मल्लदेशकी स्थिति वजिजगण एवं कोशल राज्यके मध्यमे मानी जा सकती है। पूर्व और दक्षिणमे गण्डक नदी मल्ल जनपद तथा वज्जि जनपदकी सीमा थी। अचिरावती नदी मल्ल जनपदको कोशलसे पृथक् करती थी। मल्लोंके दक्षिणमे प्राचीन मगध स्थित था।

महाकच्छ (आदि० ५।१९२)

आदिपुराणमे इसे पूर्वविदेहका जनपद वतलाया है। पर भारतीय भूगोलकी दृष्टिसे इसकी पहचान कच्छ और कठियावाड़के संयुक्त प्रदेशसे की जा सकती है।

---

१३९. नन्दलाल दे—ज्योग्रेफिकल डिक्शनरी ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, सन् १९६०ई० पृ० ११६। १४०. महाभारत, आदि पर्व ११२।२–७। १४१. वही, सभापर्व ५२।१४। १४२. वही, वनपर्व २९३।१३। १४३. वही, कर्ण० अध्याय ४४-४५। १४४. बुद्ध-कालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३१५।

महाराष्ट्र (आदि० १६।१५४)

इसकी पहचान वर्तमान मराठा प्रदेशसे की जा सकती है। इस प्रदेशका विस्तार गोदावरीके ऊपरी भागसे लेकर कृष्णा नदी तकके विस्तृत भूभागको माना जा सकता है। दण्डकारण्यकी स्थिति महाराष्ट्र जनपदमें थी। इस जनपद-की राजधानी प्रतिष्ठान मानी गयी है।

महिष (आदि० २९।८०)

यह दक्षिण भारतका जनपद है। इसकी पहचान वर्तमान मैसूरसे की जा सकती है। महाभारतमें इस जनपदको आचार-व्यवहारहीन माना गया है। यह जनपद 'माहिषक' जनपदसे पृथक् है। आदिपुराणमें दक्षिणभारतके जनपदोंके साथ इसका उल्लेख आया है, अत मैसूरके साथ इसका सम्बन्ध जोडना तर्कसंगत है।

मालव (आदि० १६।१५३;२९।४७)

यह पश्चिम भारतका जनपद है। महाभारतके अनुसार नकुलने इस जनपद-को पराजित किया था। यहाँके राजा और निवासी युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें सम्मिलित हुए थे। मालवगणोंने भीष्मकी आज्ञानुसार किरीटधारी अर्जुनका सामना किया था।[१४५] परशुरामने मालवदेशके क्षत्रियोंका अपने तीक्ष्ण वाणों-द्वारा सहार किया था।[१४६] मालव जनपदके अन्तर्गत उज्जयिनी, धौलपुर और धारको परिगणित किया जा सकता है। आदिपुराणमें काशी, कोशल, मगध आदिके साथ मालवका उल्लेख आया है, अत मालवकी उपर्युक्त पहचान मान लेनेमें किसी भी प्रकारका विरोध उत्पन्न नहीं होता है। शक्तिसंगमतन्त्रमें अवन्ती से पूर्व और गोदावरीके उत्तर इस जनपदकी स्थिति मानी गयी है।[१४७] यह स्थिति आदिपुराणके वर्णनके साथ पूर्णतया मेल खाती है।

यवन देश (आदि० १६।१५५)

पश्चिमी भागमें यवन जनपदकी स्थिति होनी चाहिए। यों तो यवन शब्द-का प्रयोग आधुनिक यूनानके लिए पाया जाता है। महाभारतमें बताया गया है कि नन्दिनीने योनि देशसे यवनोंको प्रकट किया तथा उसके पार्श्वभागसे भी यवन जातिकी उत्पत्ति हुई।[१४८] कर्णने दिग्विजयके समय पश्चिममें यवनोंको जीता था।[१४९] काम्बोजराज सुदक्षिण यवनोंके साथ एक अक्षौहिणी सेनाके लिए दुर्यो-धनके पास आया था।[१५०] यवन भारतीय जनपद है, ये पहले क्षत्रिय थे, परन्तु

---

१४५. महाभारत, गीताप्रेस संस्करण, सभापर्व ३२।७, ३४।११। १४६. वही, द्रोणपर्व ७।११–१३। १४७ अवन्तीत. पूर्वभागे गोदावर्यास्तथोत्तरे। मालवाख्यो महादेशो धनधान्य-परायण. ॥—शक्तिस० त० ३।७।२१। १४८. महाभारत आदिपर्व १७४।३६–३७। १४९. वही, वनपर्व २५४।१८। १५०. वही उद्योगपर्व १९।२१–२२।

ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेके कारण शूद्रभावको प्राप्त हो गये थे[१५१] आदिपुराणमें बताया गया है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेवने यवन देशकी प्रतिष्ठा की थी ।

रम्यक आदि० (१६।१५२)

नीलगिरिको पार करनेपर रम्यक जनपदकी स्थिति प्राप्त होती है । महाभारतमे बताया गया है कि अपनी उत्तर दिग्विजयके समय अर्जुनने इस जनपदको जीतकर वहाँके निवासियोको करद बनाया था ।[१५२] आदिपुराणमे कहा गया है कि तीर्थङ्कर ऋषभनाथने इस जनपदकी स्थापना की थी । इस जनपदकी स्थिति दक्षिणभारतमे होनी चाहिए ।

लाट (आदि० ३०।९७)

लाट देशकी स्थिति अवन्तिके पश्चिम तथा विदर्भके उत्तरमे बतलायी गई है । वस्तुतः इस जनपदमे गुजरात और खानदेश सम्मिलित थे । माही और महोवाके निचले भाग लाट देशमे सम्मिलित थे । वर्तमान भड़ोच, बडौदा, अहमदाबाद एवं खेड़ाके जिले लाट देशके अन्तर्गत थे ।

वंग(आदि० २९।४७;१६।१५२)

वंगकी गणना प्राचीन जनपदोमे की गयी है । यह बड़ा व्यापारिक केन्द्र था, यहाँ जलमार्ग और स्थल मार्गसे माल आता-जाता था । यह जनपद अंगके पूर्व और सुह्मके उत्तर-पूर्वमे स्थित था । महावंश नामक बौद्धग्रन्थमे वंग जनपदके राजा सिंहबाहुका उल्लेख आया है, जिसके पुत्र विजयने लंकामे जाकर प्रथम राज्य स्थापित किया था ।[१५३] मिलिन्दपन्होमे अनेक जनपदोके साथ वंगका भी उल्लेख आया है और वहाँ नाविकोका नावें लेकर व्यापारार्थ जाना दिखाया गया है ।[१५४] 'दीपवंस'[१५५] और 'महावंस'[१५६] मे वर्द्धमान नामक नगरका उल्लेख है । यह आधुनिक बंगालके वर्द्धमान नगरसे मिलाया जा सकता है । वंग जनपदको पूर्वी बंगाल सरलतापूर्वक माना जा सकता है । भरत चक्रवर्तीके सेनापतिने वंग जनपदको अधीन किया था । इस जनपदका उल्लेख पूर्वके जनपदोके साथ आया है ।

वत्स (आदि० १६।१५३; २९।६०)

वत्सदेशमे प्रयागके आस-पासकी भूमि परिगणित की गयी है । यह जनपद

---

१५१. महाभारत, अनुशासन पर्व ३५।१८। १५२. महाभारत, सभापर्व २८।६ के अनन्तर ।
१५३ महावंस (हिन्दी अनुवाद) ६।१, १६,२०,३१ । १५४. मिलिन्दपन्हो [बम्बई वि० वि० संस्करण] जिल्द पहली, पृ० १५४ । १५५. दीपवंस पृ० ८२ । १५६. महावंस हिन्दी अनुवाद] १५।९२ ।

यमुनाके किनारे अवस्थित था। इस जनपदमें तीर्थङ्कर महावीर, आर्य सुहस्तिन् और आर्य महागिरिने विहार किया था।[१५७] इस जनपदकी राजधानी कौशाम्बी नगरी थी। इस नगरीमें शतानीक राजा राज्य करता था। उज्जयिनीके राजा प्रद्योतने इसपर आक्रमण किया था। राजा शतानीककी रोगविशेषके कारण मृत्यु हो गयी, जिससे रानी मृगावती अपने पुत्र उदयनको राज्याधिकारी नियत कर तीर्थङ्कर महावीरके पासमें आकर आर्यिका बन गयी थी।[१५८] जैन परम्परामें वत्सदेश और कौशाम्बी नगरीका अत्यधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। महाभारतमें भी वत्स देशका उल्लेख कई स्थानोंपर आया है। भीमसेनने पूर्व-दिग्विजयके समय इस जनपदको जीता था।[१५९] वत्सदेशीय पराक्रमी भूपाल पाण्डवोंके सहायक थे और उनकी विजय चाहते थे।[१६०] काशिराज प्रतर्दनके पुत्रका पालन गोशालामें वत्सों—बछडों द्वारा किया गया था, इसीके नामपर इस जनपदको वत्स कहा जाने लगा है।[१६१] आदिपुराणके अनुसार भी इस जनपदकी स्थिति प्रयागके आस-पास यमुना तटपर घटित होती है।

वनवास (आदि० १६।१५४)

कर्णाटक प्रान्तका एक भाग वनवास जनपदके अन्तर्गत था। नन्दलाल देने वनवास जनपदकी स्थिति वरदा नदीके तटपर मानी है।[१६२] सम्भवतः यह आजकल वनवासी कहलाता है। गुणभद्राचार्यके समय इसकी राजधानी वंकापुर थी, जो धारवाड जिलेमें है। महाभारतमें भी वनवास जनपदका उल्लेख आया है।[१६३] वरदा नदी तुंगभद्राकी सहायक नदी है। वनवासी कदम्ब वंशके राजाओंकी राजधानी थी।

वानायुज (आदि० ३०।१०७)

इस जनपदकी स्थिति भारतके उत्तर-पश्चिमी छोरपर होनी चाहिए। वानायुज सम्भवतः अरब देशके लिए प्रयुक्त हुआ है। यह जनपद उत्तम अश्वोंके लिए प्रसिद्ध था।

वापि (आदि० ३०।१०७)

यह जनपद दक्षिण दिशामें स्थित था। हरिवंश पुराणमें भरतचक्रवर्तीके द्वारा विजित देशोंकी नामावलीमें एक वाणमुक्त देशका नाम आया है।[१६४] भौगोलिक

---

१५७. निशीथ चूर्णि, ५ पृ० ४३७। १५८. आवश्यक टीका (मलयगिरि) पृ० १०२। १५९. महाभारत सभापर्व ३०।१०। १६० वही, उद्योग पर्व ५३।१-२। १६१. महाभारत, शान्तिपर्व ४९।७९। १६२ ज्योग्रेफिकल डिक्शनरी ऑव एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया पृ० २००, बुद्धकालीन भा० भू० पृ० १६२-१६३। १६३. महाभारत, भीष्म पर्व ९।५८। १६४. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, ११।६९।

स्थितिके अनुसार इस देशकी वाणमुक्तके साथ समता की जा सकती है। इसकी समता वातपि (वादामी) से भी की जा सकती है।

वाल्हीक (आदि० ३०।१०७; १६।१५६)

महाभारतमे सम्पूर्ण पंजावके लिए वाल्हीकका प्रयोग हुआ है। महरौलीके लौहस्तम्भ लेखमे चन्द्रद्वारा सिन्धुके सात मुहानोको पारकर वाल्हीकको जीतनेका निर्देश किया गया है।[१६५] इस जनपदको व्यास और सतलजके मध्यका भूभाग माना जा सकता है, यह कैकय देशके उत्तरमे अवस्थित था। वाल्हीकका ही अपर नाम वाहीक माना गया है। महाभारतके कर्णपर्वमे आया है कि वाहीक वलखकी ओरसे भारतमे आये ओर उन्होने रावीके पश्चिममे शाकल या स्यालकोट को अपनी राजधानी वनाया था। आदिपुराणके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि सिन्धुके पार उत्तर-पश्चिममे वाल्हीक जनपद रहा है। इस जनपदके घोडे प्रसिद्ध होते थे।

विदर्भ (आदि० १६।१५३)

इस जनपदको आधुनिक वरार माना जा सकता है। उज्जयिनीके उत्तर-पश्चिमका प्रदेश विदर्भके नामसे पुकारा जाता था। वरदा नदी विदर्भको दो भागोमे विभक्त करती थी। उत्तरीय भागका प्रधान स्थान अमरावती और दक्षिणी भागका प्रतिष्ठान—पैठन था। आदिपुराणके समयमे इस जनपदकी सीमा कुंतल-देशके उत्तरीय भागसे तथा कृष्णा नदीके तटसे नर्मदाके मध्य भाग तक व्याप्त थी। निस्सन्देह यह एक समृद्ध जनपद था।

विदेह (आदि० १६।१५५)

वौद्ध साहित्यमे उल्लिखित सोलह जनपदोमे विदेहको परिगणित किया गया है। इसकी पहचान विहार प्रदेशके तिरहुत जनपदसे की जा सकती है। इसकी राजधानी मिथिला थी। यह प्रदेश मगधके पूर्वोत्तरमे था। सीतामढ़ी, जनक-पुर और सीताकुण्ड तिरहुतका उत्तरीय भाग तथा चम्पारनका पश्चिमोत्तर भाग प्राचीन विदेहमें परिगणित था। भगवान् महावीरका जन्म विदेहमे हुआ था। विदेह निवासिनी होनेके कारण महावीरकी माता त्रिशला 'विदेहदिन्ना'[१६७]—विदेहदत्ता कही जाती थी तथा रानी चेलनाके पुत्र कूणिकको विदेहपुत्र कहा जाता था। मिथिलाका जैन साहित्यमे वडा भारी महत्त्व है। इस नगरीमे दो तीर्थकरोका जन्म हुआ था। १९ वे तीर्थकर मल्लिनाथ और २१ वें तीर्थकर

---

१६५. तीर्त्त्वा सप्तमुखानि येन [स] म [रे] सिन्धोर्जिता [व] ल्हिका—सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, भाग ३ पृ० २७६। १६६. महाभारत कर्ण पर्व अध्याय ४४। १६७. कल्पसूत्र ५।१०९।

नमिनाथकी चरण-रजसे यह नगरी पावन हुई है।[१६८] उत्तराध्ययनमें वताया गया है कि मिथिलामे शीतल छाया, मनोहर पत्र-पुष्पोंसे सुशोभित तथा यहाँके मनुष्योको सदा वहुत लाभ पहुँचानेवाला एक चैत्यवृक्ष था। इस जनपदके निवासी सदा प्रेम और सदाचार पूर्वक निवास करते थे। धनधान्यकी प्रचुरता थी। राजा-प्रजामे पिता-पुत्रका सम्बन्ध था। विदेह जनपद और उसकी राजधानी मिथिलामे सर्वदा आनन्द, सुख और समृद्धि व्याप्त रहती थी।

यह विचारणीय है कि गुणभद्राचार्यने मिथिलाकी स्थिति वंगदेशमें मानी है,[१६९] अत ऐसा ज्ञात होता है कि गुणभर्दाचार्यके समयमे विदेहकी सीमा परिवर्तित थी। इनके समयमे वैशाली, मुजफ्फरपुर एवं हाजीपुर जिलेका भूभाग विदेहमें परिगणित किया जाता था। इसी कारण गुणभद्रने तीर्थकर महावीर के जन्म स्थान कुण्डपुरकी गणना तो विदेहमें की है,[१७०] पर मल्लि और नमि-तीर्थंकरकी जन्मभूमि मिथिलाको वंगमें वतलाया है। जिनसेनके समयमें विदेह जनपद मुजफ्फरपुर, हाजीपुर, तुर्की-वैशाली तक सीमित था। तिरहुतका प्रदेश वंगमें मिल गया था।

शक (आदि० १६ । १५६)

इस जनपदका आधुनिक नाम वेक्ट्रिया माना जा सकता है। शक लोगोने भारतमे प्रवेश कर जहाँ सर्वप्रथम अपना स्थान वनाया था, वह शकस्थान कहलाया। भारतमे प्रथम आनेवाले ग्रीक राज दमित्रस्, मिहिरकुल और हूण सभी पहले-पहल इसी देशमे आये। यह आवागमनकी परम्परा पाँचवीं शती तक चलती रही। दरद देशसे पश्चिमकी ओर वक्षु (आक्सस) या चक्षु (जिहूँ) नदीके तटपर शकोका निवास था। पुराणोमे इस प्रदेशको शकद्वीप कहा गया है। नन्दलाल देन शकद्वीपकी यूनानी लेखक टालमीके सीथियासे तुलना की है। इसमे सन्देह नही कि टालमीका वर्णन पुराणोके लेखोसे अत्यधिक मिलता है। महाभारतमे वताया गया है कि शक देश और जातिके राजा युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमे भेंट लेकर उपस्थित हुए थे।[१७१] सात्यकिने वहुतसे शक सैनिकोका संहार किया था।[१७२] यह जनपद भारतकी उत्तर-पश्चिमी सीमापर स्थित था। अतः पंजावका भूभाग इस जनपदमे माना जा सकता है।

---

१६८ मिहिलाए मल्लिजिणा ।—तिलोयपण्णत्ति, सोलापुर सस्करण ४।५४४ मिहिलापुरिए जादो विजयणरिंदेण ॥—वही, ४।५४६ । १६९. अत्रैव भरते वङ्गविपये मिथिलाधिप.। —उत्तरपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, ६६।२० वङ्गाख्यदेशे मिथिलानगरे नमिनायक·। भावितीर्थंकरः पुण्यादवतीर्णोऽपराजितात् ॥—वही, ६९।४१ । १७०. भरतेऽस्मिन्विदेहाख्ये विपये भवनाङ्गणे ॥ राज्ञ. कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथु·।—वही ७४।२५१-५२ । १७१. महाभारत, सभापर्व ५१।३२ । १७२. वही, द्रौणपर्व ११९।४५ ।

शूरसेन (आदि० १६ । १५५)

शूरशेन जनपदकी स्थिति मथुराके आस-पास थी । मथुरा, गोकुल, वृन्दावन, आगरा आदि इस जनपदमे सम्मिलित थे । महाभारतमे आया है कि दक्षिण दिग्विजयके समय सहदेवने इन्द्रप्रस्थसे चलकर सर्वप्रथम शूरसेनवासियो पर आक्रमण किया था और विजय प्राप्त की थी ।[१७३] इस जनपदके लोग युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें भी सम्मिलित हुए थे ।[१७४] जैन परम्पराकी दृष्टिसे शूरसेन देश की प्रसिद्ध नगरी मथुराका अत्यधिक महत्त्व है । यहाँ देवनिर्मित स्तूप था, जिसके अवशेप अव भी मथुरा म्यूजियममे पाये जाते है । श्वेताम्वर आगमोकी माथुरी वाचना प्रसिद्ध है । आर्यमंगु और आर्यरक्षित आदि श्रमणोने यहाँ विहार किया था । यह नगर व्यापारका भी अच्छा केन्द्र था । यहाँ स्थल मार्गसे माल आता-जाता था । ग्रीक इतिहासकारोने भी शूरसेन देश और उसकी मथुरा नगरीका उल्लेख किया है ।[१७५] शक्तिसंगमतन्त्रमे शूरसेनका विस्तार उत्तरपूर्व में मगध तथा पश्चिममे विन्ध्य तक वतलाया गया है । पर आदिपुराणके समय-में इतना विस्तार सम्भव नही जान पड़ता है ।

समुद्रक (आदि० १६ । १५२)

आदिपुराणके अनुसार इस जनपदकी स्थापना तीर्थंकर ऋषभनाथने की थी । इस जनपदकी स्थिति समुद्र तटपर होनी चाहिए । वहुत संभव है कि यह जनपद लंका हो ।

सुकोशल (आदि० १६ । १५२)

इस जनपदकी पहचान 'महाकोशल'[१७६] से की जा सकती है । सम्भवतः इस जनपदमें मध्यप्रदेशका वहुभाग सम्मिलित हो जाता है । आदिपुराणमे कोशल और सुकोशलको पृथक् पृथक् राष्ट्र माना गया है । कोशलमे अयोध्या, लखनऊका पार्श्ववर्ती प्रदेश ग्रहण किया जाता था और सुकोशलमे जवलपुर, सागर, कटनी, सतना आदि स्थान ग्रहण किये जाते थे ।

सिन्धु (आदि० १६ । १५५)

भारतके उत्तरी भागमें सिन्ध नामक जनपदसे इसे मिलाया जा सकता है । महाभारतमे सिन्धु देशका नृपति जयद्रथ वताया गया है । यह नृपति द्रौपदीके स्वयंवरमें सम्मिलित हुआ था ।[१७७] शक्तिसंगमतन्त्रमे इस जनपदका विस्तार

---

१७३. महाभारत, सभापर्व ३१ । १-२ । १७४. वहीं, सभापर्व ५३ । १३ । १७५. एधनिक सेटिलमेन्ट इन् एन्शियन्ट इंडिया, पृ० २३ । १७६. गोकर्णशाद्दक्षभागे आर्यावर्त्ताच्तु चोत्तरे ॥ तैरभुक्तात्पश्चिमे तु महापुर्याश्च पूर्वत. । महाकोशलदेशश्च सूर्यवंशपरायणे ॥— शक्तिसंगमतन्त्र ३।७।३६ । १७७. महाभारत, आदि पर्व १८५।२१ ।

लंकासे आरम्भकर मक्का पर्यन्त बताया है।[१७८] सिन्धु जनपद उत्तरी और दक्षिणी दो भागोमे विभक्त था। उत्तरीसिन्धु डेरा इस्माईलखाँकी ओर था तथा दक्षिणी सिन्धु जनपदमे क्षीरपानका वहुत प्रचार था। उत्तरी सिन्धुको सक्तु-सिन्धु और दक्षिणीको पान-सिन्धु कहा है। भौगोलिक दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि चिनाव नदीके पश्चिममे सिन्धु जनपद और पूर्वमें उशीनर जनपद स्थित था। भारतीय साहित्यमे सिन्धु-सौवीरका नाम एक साथ आता है, जिससे ज्ञात होता है कि इन दोनो देशोकी सीमाएँ एक दूसरेसे सटी हुई थी। आदिपुराणके अध्ययनसे स्पष्ट है कि सिन्धु और सौवीर दोनो पृथक्-पृथक् जनपद थे। यह प्रदेश झेलम एवं सिन्धु नदीके वीचमे स्थित था।

सुराष्ट्र (आदि० १६ । १५४)

आदिपुराणमे ही इस जनपदका एक अन्य नाम सौराष्ट्र भी आया है। इस जनपदका व्यवहार सामान्यत· उत्तरी काठियावाड़के लिए पाया जाता है। पर भौगोलिक दृष्टिसे विचार करने पर काठियावाड़ और गुजरातका कुछ प्रदेश सुराष्ट्रके अन्तर्गत होना चाहिए। महाभारतमे दक्षिण दिशाके तीर्थोके वर्णन-प्रसंग मे सुराष्ट्र देशके अन्तर्गत चमसोद्भेद, प्रभास क्षेत्र, पिण्डारक एवं उर्ज्जयन्त (रैवतक) पर्वत आदि पुण्यस्थानोका उल्लेख आया है।[१७९] सुराष्ट्र जनपद व्यापारका भी केन्द्र था और यहाँ दूर-दूरके व्यापारी माल खरीदनेके लिए आते थे। गिरिनार पर्वतके कारण इस देशका धार्मिक दृष्टिसे भी कम महत्त्व नही है।

सुह्म (आदि० १६ । १५२)

महाकवि कालिदासने इस जनपदकी चर्चा कपिशा नदीके समीप की है।[१८०] यह वंगाल और उत्कल देशके मध्यमे स्थित वंगालकी खाड़ीका समीपवर्ती प्रदेश है। छन्दन्त जातकसे सुह्मकी स्थिति गंगातट पर ज्ञात होती है।[१८१] आचाराग सूत्रके अनुसार यह जनपद राढ देशके दो भागोमेसे एक भाग था। महाभारतमें वताया गया है कि भीमसेनने पूर्वदिग्विजयके समय इस जनपदको जीता था।[१८२] अत· यह स्पष्ट है कि इस जनपदकी स्थिति पूर्वी भारतमे होनी चाहिए। राय चौधरीके अनुसार हुगली जिलेका त्रिवेणी तथा सप्तग्रामका भूभाग सुह्मका मध्यभाग रहा है। आदिपुराणमे जो साक्ष्य प्राप्त है, उससे इसकी सीमा निश्चित नही की जा सकती, पर वौद्ध साहित्यके आधार पर इसकी सीमा निश्चित की जा सकती है। इस जनपदको दक्षिण-पूर्वमे वताया गया है। सुह्म जनपद मध्यप्रदेशके दक्षिण पूर्वमे, अंग देशके नीचे एवं वग और उत्कलके वीच स्थित था।

---

१७८. लङ्काप्रदेशमारभ्य मक्कात परमेश्वरि। सैन्धवाख्यो महादेश: पर्वते तिष्ठति प्रिये॥—शक्तिसंगमतन्त्र ३।७।५७। १७९. महाभारत, वनपर्व ८८।१९-२१। १८०. रघुवश महाकाव्य ४।३५, ३८। १८१ छन्दन्त जातक १; पृ० २३२। १८२, महाभारत सभापर्व ३०।१६।

प्राचीन प्रसिद्ध वन्दरगाह ताम्रलिप्तिको भी सुह्म जनपदके अन्तर्गत माना गया है।[१८३]

सौवीर (आदि० १६ । १५५)

सौवीर प्राचीन समयका एक प्रसिद्ध जनपद है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सिन्धु प्रान्त या सिन्ध नदके निचले काँठेका पुराना नाम सौवीर माना है। इसकी राजधानी रोरुव, वर्तमान रोडी मानी गयी है।[१८४] पाणिनिने सौवीर देशका निर्देश किया है।[१८५] इस जनपदमे मुल्तान और जहूरावारके प्रदेश सम्मिलित थे। सौवीर जनपद व्यापारकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण था। सौवीरको सिन्धु और झेलम या सिन्धु नदीके पूर्वमे मुलतान तक फैला हुआ मान सकते है।

●

द्वितीय परिच्छेद

ग्राम और नगर

ग्राम

आदिपुराणमे ग्राम और नगरोंका भी उल्लेख आया है। इस उल्लेखसे आदिपुराणमे प्रतिपादित भारतके गाँवों और नगरोकी समृद्धि, आर्थिक स्थिति एवं उनकी सास्कृतिक अवस्थाका वोध होता है। वताया गया है कि जिनमे वाडसे घिरे हुए गृह हो, किसानो और शिल्पियोंका निवास हो तथा वाटिका और तालावोसे युक्त हो, वे ग्राम कहलाते है। जिस ग्रामने सौ घर हो अर्थात् सौ कुटुम्ब निवास करते हो, वह छोटा गाँव एवं जिसमे पाँच सौ घर हों अर्थात् पाँच सौ कुटुम्ब निवास करते हो, वह वडा गाँव कहलाता है।[१८६] वड़ा गाँव छोटे गाँवकी अपेक्षा धन-सम्पत्तिसे अधिक समृद्ध होता है। वड़े ग्राममे सभी प्रकारके पेशेवाले व्यक्ति निवास करते है, पर छोटे ग्राममे कृषक, चर्मकार और कुम्भकार ही

---

१८३. वुद्धकालीन भारतीय भूगोल पृ० ४६६-६७। १८४. पाणिनिकालीन भारत, पृ० ६४। १८५. अष्टाध्यायी ४।१।१४८। १८६. ग्रामावृतिपरिक्षेपमात्राः स्युरुचिताश्रया.। शूद्रकर्षकभूयिष्ठाः सारामाः सजलाशयाः ॥ ग्रामा. [ग्रामा.] कुलशतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः। परस्तत्पञ्चशत्या स्यात् सुसमृद्धकृषीवलः ॥—आदि० १६।१६४–१६५।

रहते हैं। छोटे गाँवकी सीमा एक कोसकी और बड़े गाँवकी सीमा दो कोसकी होती है।[१८७] गाँवोमे अन्नकी खेती होती है, खेतोमें मवेशीके लिए घास उत्पन्न होती है तथा जलाशय भी प्रत्येक गाँवमें रहता है। नदी, पर्वत, गुफा, श्मशान, क्षीरवृक्ष, कटीले वृक्ष, वन एवं पुल प्रभृति गाँवोंकी सीमाके चिन्ह माने गये है।[१८८] तथ्य यह है कि ग्रामोकी सीमाका विभाजन नदी, पर्वत, गुफा, श्मशान एवं वृक्ष-विशेषोसे किया जाता है। इस प्रकार आदिपुराणसे गाँवकी विशेषता निम्नलिखित तथ्योके आधारपर अवगत की जा सकती है —

१ कृषक, कुम्भकार, चर्मकार, लुहार, बढई प्रभृति पेशेवरोका निवास।
२ वृक्षोका सद्भाव, वाटिका और उपवनकी स्थिति।
३ जलाशय—कुँआ, तालाब आदिका निर्माण।
४ निवासियोकी आवश्यकताकी वस्तुओंकी उत्पत्ति।
५ बड़े गाँवोमे संसाधन—सामुदायिक विकास-कार्यक्रमकी व्यवस्था।
६ सिंचाई, एवं भूमिसुधार सम्बन्धी योजनाओंका सद्भाव।
७ जलकी सुगमता, भूमिकी उर्वरता आदिका अस्तित्व।
८ चरागाहो एवं पशुओके विचरण करनेकी भूमिकी व्यवस्था।
९ अनेक परिवारोका निवास।
१० घास-फूस, मिट्टी-ईंट, पत्थर-चूना आदिसे घरोंका निर्माण।
११ कम-से-कम सौ परिवारोंका निवास।
१२ आर्थिक दृष्टिसे स्वातन्त्र्य।
१३ सांस्कृतिक कार्योंके सम्पादनार्थ देवालयोंका निर्माण।
१४ आर्थिक समृद्धिके लिए कृषिके साथ व्यापारकी व्यवस्था।
१५ आवश्यकताकी वस्तुओकी उपलब्धिके लिए गाँवके बीच बाजारकी व्यवस्था।

नगर

नगरकी परिभाषा बतलाते हुए आदिपुराणमें लिखा है कि जिसमे परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकार निर्मित हो तथा सुन्दर-सुन्दर भवन बने हुए

---

१८७ क्रोशद्विक्रोशसीमानो ग्रामाः स्युरधमोत्तमाः। सम्पन्नसस्यसुक्षेत्राः प्रभूतयवसोदकाः॥ —वही १६।१६६। १८८. सरिद्गिरिदरीगृष्टिक्षीरकण्टकशाखिनः। वनानि सेतवश्चेति तेषां सीमोपलक्षणम्॥ वही, १६।१६७। तुलनीय—शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यरक्षं निवेशयेत्। नदीशैलवनगृष्टिदरीसेतुबन्धशाल्मलीशमीक्षीरवृक्षानन्तेषु सीम्नां स्थापयेत्। कौटिल्य—अर्थशास्त्र, चौखम्बा १७ प्रकरण, १ अध्याय पृ० ९३।

हों, वह नगर है। नगरमे वाटिका, वन, उपवन और सरोवरोंका रहना आवश्यक है। नालियाँ भी इस प्रकारसे बनवानी चाहिए, जिससे पानीका प्रवाह पूर्व और उत्तरके बीचवाली ईसान दिशाकी ओर हो प्रवाहित होता हो।[१८९] नगर शब्दकी व्युत्पत्ति —"न गच्छतीति नग.; नग इव प्रासादा. सन्त्यत्र" की जा सकती है। जिनमें उन्नत प्रासाद हो और जो पक्के बनाये गये हों तथा जिनकी दीवालें और छतें पापाण शिलाओंसे निर्मित हो, उन्हे नगर कहा जाता है। मानसारमें जिनसेनकी परिभाषाके तुल्य ही नगरकी परिभापा दी गई है। बताया है—"जहाँपर क्रय-विक्रय आदि विभिन्न व्यवहार सम्पन्न होते हैं, अनेक जातियों और परिवारोंके व्यक्ति निवास करते है। विभिन्न श्रेणियोके कर्मकार (Artisans) बसते हों और जहाँ सभी धर्मावलम्बियोंके धर्मायतन स्थित हो, वह नगर है।"[१९०]

वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोणके अनुसार चारों दिशाओंपर द्वार (gates) होने चाहिए। ये सब द्वार गोपुरोसे परिवेष्टित रहने चाहिए। नगरमें वासभवनोका सम्यक् विन्यास रहता है। यातायात एवं क्रय-विक्रय आदिके कारण तत्परता, संकीर्णता एवं सम्पन्नता पद-पदपर परिलक्षित होती है।[१९१] आदिपुराणकी परिभापाका स्फोटन करनेपर नगरकी निम्नलिखित विशेपताएँ उपलब्ध होती है।

१ यथोचित एवं उपयुक्त विन्यास-योजना।
२ प्रासाद, हर्म्य, निकुञ्ज आदिसे समृद्ध।
३ प्रचुर जलव्यवस्था तथा जलाशयोंका सुन्दर रूपमें निर्माण।
४ आवादीकी असंकीर्णता।
५ विस्तृत मार्ग।
६ गन्दगी, जल एवं दूपित पदार्थोंको दूर करनेके हेतु नालियोंकी व्यवस्था।
७ विपुल वायुसंचरार्थ एवं वायुसेवनार्थ वाटिका और उपवनोका सद्भाव।
८ सौविध्यपूर्ण यातायातके साधन।
९ सुरक्षार्थ परिखा, गोपुर, कोट और प्राकारका संघटन।
१० पूजा, शिक्षा, क्रीडा एवं मनोरञ्जनके उपयुक्त स्थानोंकी यथोचित व्यवस्था।

---

१८९. परिखागोपुराट्टालवप्राकारमण्डितम्। नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम्॥ पुरमेवंविधं शस्तमुचितोद्देशसुस्थितम्। पूर्वोत्तरप्लवाम्भस्कं प्रधानपुरुपोचितम्॥ —आदि० १६। १६९–१७०। १९०. जनै. परिवृत्तं द्रव्यक्रयविक्रयकादिभिः। अनेकजातिसंयुक्त कर्मकारैः समन्वितम्। सर्वदैवतसंयुक्त नगर चाभिधीयते"—मानसार, अध्याय १० (नगरविधान)। १९१. दिक्षु चतुर्द्वारयुतं गोपुरयुक्तं तु शालाढ्यम्। क्रयविक्रयकैर्युक्तं सर्वजनावाससंकोर्णम्॥ सर्वसुरालयसहितं नगरमिदं केवलं प्रोक्तम्॥ —मयमत, भारतीयवास्तुशास्त्र, लखनऊ पृ० १०२ पर उद्धृत।

११ औद्योगिक भवनोंके समान चिकित्सालयोंकी योजना।
१२ सुन्दर भवनो, प्रासादों, मण्डपों एवं सभागृहो द्वारा सौन्दर्यवृद्धि।
१३ नागरिकता एवं सभ्यताके विकासके लिए कलाओंकी योजना।
१४ चतुष्पथो एवं साधारण मार्गोंपर दीपस्तम्भोंका विन्यास।
१५ चौराहो एवं सार्वजनीन स्थानोपर जलस्रोत और लघु-उपवनोंका निर्माण।

आदिपुराणमें अनेक नगरोंकी नामावली आयी है। आये हुए नगरोंमें अधिकाश नगर पौराणिक है, इनकी स्थिति भारतवर्षके बाहर मानी गयी है। यद्यपि विजयार्द्धकी दक्षिणश्रेणी और उत्तरश्रेणीके नगरोमें कई नगरोके नाम भारतके नगरोसे मिलाये जा सकते है, पर उन नगरोकी भौगोलिक सीमा प्रामाणिक नही मानी जा सकती है। विदेहक्षेत्र, ऐरावत प्रभृति क्षेत्रोकी नगर नामावली इतनी अधिक पौराणिक और सीमित संकलित है कि उसकी भौगोलिक स्थितिका निर्धारण करना असम्भव है।

आदिपुराणके नगरोके नाम पुर, अग्नि, मित, कर, नगर, ध्वज, ज्वाल, क्षीर, आभ, कूट, मणि, गीत, उद्योतन, तिलक, केतुक या केतु, अर्गल, हार प्रभृति शब्द अन्तमे जोडकर बनाये गये है। यथा—महा + कूट = महाकूट(१९।५१); महा + ज्वाल = महाज्वाल (१९।८४); वज्र + पुर = वज्रपुर (१९।८६); रत्न + पुर = रत्नपुर (१९।८७), महेन्द्र + पुर = महेन्द्रपुर (१९।८६) आदि। कतिपय नगर नाम वि, विगत, सु आदि उपसर्ग जोडकर भी बनाये गये है। यथा—वि + शोका = विशोका (१९।८१); विगत + शोका = विगतशोका, वीत + शोका = वीतशोका (१९।८१)। कुछ नगरोंके नाम व्युत्पत्तियोके आधारपर भी ग्रथित किये गये है। यथा—शिवङ्कर—शिवं करोतीति = शिवङ्कर, (१९।७९) रत्नसञ्चय—रत्नाना सञ्चयः—रत्नसञ्चय (७।१४), रत्नाकर—रत्नाना आकर. रत्नाकर (१९।८६) आदि।

इस प्रकार आदिपुराणमें आये हुए नगरके नामोको निम्नलिखित वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है:—

१ प्रत्यय या शब्दाश जोडकर
२ उपसर्ग जोडकर
३ व्युत्पत्तिके आधारपर
४ सास्कृतिक महत्ताके आधारपर
५ भौगोलिक विशेषताके अनुसार

पूर्वमे जिन जनपदोंका प्रतिपादन किया गया है, वे सभी जनपद भरत क्षेत्रमे ही वर्तमान है, किन्तु नगरोके सम्बन्धमे यह नही कहा जा सकता। नगर जम्बू-

द्वीप, धातुकीखण्ड और विदेह इन तीनों द्वीपोके वर्णित है। इसमे सन्देह नहीं कि जनपदोंका केवल नाम ही उपलब्ध होता है, पर नगरोका सास्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक महत्त्व भी प्राप्त होता है। अतएव हम नगरोंकी नामावली-का प्रतिपादन करते समय उनकी भौगोलिक स्थितिपर विशेष विचार न कर उनकी समृद्धिगत विशेपतापर विचार करेंगे।

नगरोके विकासका इतिहास अवगत करनेके लिए खेट, मडम्व, द्रोण और पत्तन आदिका स्वरूप अवगत कर लेना आवश्यक है।

नगरका विकास विभिन्न धाराओ—स्वरूपो, आकृतियों एवं श्रेणियोमे पाया जाता है। प्रत्येक नगरकी अपनी निजी विशेपता होती है। सरितातटपर विकसित और समृद्ध हुए नगरकी अपेक्षा पार्वत्य प्रदेश अथवा उपत्यका भूमिमे उत्थित नगर भिन्न होता है। आश्रय, उटज और औद्योगिक वातावरणमे समृद्ध हुआ नगर सागर-वेलापर विकसित नगरकी अपेक्षा संस्कृति और अर्थ-समृद्धिमे भिन्न होता है। ग्राम और नगरोंमें अन्तर केवल आकारका नही है, प्रकारका है। तथ्य यह है कि नगरका विकास प्राकृतिक वातावरणके सम्वन्धसे होता है। जहाँ पापाण पट्टिकाएँ एवं भवन-निर्माणकी अन्य सामग्री जितनी सहज सुलभ होती है, नगरका विकास उसी रूपमे होता है। भवन-सामग्रीके अतिरिक्त जनपदविशेपकी संस्कृतिका भी प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि द्रविड, महाराष्ट्र, वंगाल, विहार, उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश और राजस्थान प्रभृति जनपदोमे विकसित नगर स्थापत्यकी दृष्टिसे भिन्न है।

ग्रामोका विकसित रूप ही नगर है। पर ग्रामोका एकाएक इतना विस्तार और विकास होने पर पर्याप्त समय लगा होगा तथा वीचकी कई स्थितियोको पार करना पड़ा होगा। आदिपुराणके अनुसार खेट, खर्वट, द्रोण आदि विकासकी मध्यवर्ती स्थितियाँ ही है।

खेट

आदिपुराणमे नदी और पर्वतसे घिरे हुए नगरको खेट कहा है।[१९१] समराङ्गण-सूत्रधारके अनुसार खेट ग्राम और नगरके वीचका है। यह नगरसे छोटा और ग्रामसे वड़ा होता है। अतएव नगरके विष्कम्भके आधेके प्रमाण खेटका विष्कम्भ प्रतिपादित किया गया है।[१९३] व्रह्माण्डपुराणमें वताया गया है कि नगरसे एक योजन की दूरी पर खेटक या खेटका निवेश अभीष्ट है। नगरके मार्गोका विष्कम्भ ३० धनुप होता है, पर खेटके मार्गोका २० धनुष। अतएव व्रह्माण्डपुराण और समरा-

---

१९१. सरिद्गिरिभ्या सरुद्धं खेटमाहुर्मनीपिणः॥—आदि० १६।१७१। १९३.–१९४. नगरा-दर्धविष्कम्भ. खेटं परं तदूर्धतः। नगरादर्धयोजनं खेटं खेटाद् ग्रामोऽर्धयोजनम्॥—व्रह्माण्डपुराण,

ङ्गणसूत्रधारसे यह स्पष्ट है कि खेट छोटा नगर है, जो समतल भूमिपर किसी सरिताके तटपर स्थित होता है तथा इसकी स्थिति छोटी-छोटी पहाड़ियोंके समीप भी रह सकती है। खेट वस्तुतः खेडाका रूप है, इसके चारों ओर ग्राम होते है। शिल्परत्नमें बताया गया है—"ग्रामयोः खेटकं मध्ये राष्ट्रमध्ये खर्वटम्[१९४]"— ग्रामोंके मध्य अथवा ग्राम-समूहोंके मध्यमें एक समृद्ध लघुकाय नगरको खेट कहा जाता है तथा राष्ट्रमध्यमें उसीको खर्वटकी संज्ञा दी गयी है। खेटकी एक अन्य विशेषता भी है कि इसकी आबादी शूद्रों तथा कर्मकारोंकी होती है।[१९५] आदिपुराणके अनुसार खेटकी निम्नलिखित विशेषताएँ होती है।

१. नदी तट या पर्वतकी तलहटीमें अवस्थिति।
२. खेटका ग्रामसे बडा होनेके कारण नगररूपमें विकास।
३ नदी-पर्वतसे संरुद्ध होनेसे औद्योगिक विकासके साधनोंकी प्रचुरता।
४. कृषि तथा सभी पेशेके लोगोंका निवास।

खर्वट

आदिपुराणमें खर्वट या खर्वटककी प्रमुख विशेषताका प्रतिपादन करते हुए उसे पार्वत्य प्रदेशसे वेष्टित माना है।[१९६] मयने सब प्रकारके मनुष्योंसे आवासित एवं चारों ओर पर्वतोंसे आच्छादित नगरोंको खर्वट कहा है।[१९७] इस नगरका आकार बहुत बडा न होकर साधारण रहता है, यत. जिस नगरके चारों ओर पहाड़ियाँ हों, उसका प्राकार तो स्वयं ही पहाडियोंसे बन जायगा। कौटिल्यने खर्वटको एक दुर्गके रूपमें कहा है, यह दो सौ ग्रामोंके रक्षार्थ निविष्ट होता था।[१९८] मानसारमें खर्वटका प्रयोग ग्रामविशेषके साथ राजकोय भोजनशालीय-मण्डपके लिए भी आया है—

नृपाणां भोजनार्थं स्यात् खर्वटाख्यन्तु मण्डपम्॥[१९९]

खर्वटके लिए कर्वट शब्दका भी प्रयोग होता है। खर्वट पर्वतोंसे घिरी

--भारतीय वास्तुशास्त्र, लखनऊ, पृ० १०४ पर उद्धृत तथा समरा० पुरनिवेश १०वाँ अध्याय। १९५ वने जनपदे चैव केवले शूद्र-सेवित.। कण्टकः खेटको ग्रामः क्रमात् त्रिविधमीरितः॥—कामिकागम-भारतीय वास्तुशास्त्र, पृ० १०५, तथा शूद्रैरधिष्ठितं यन्नद्यचलावेष्टित, तत्तु खेटकम् --मयमत १० वाँ अध्याय। १९६. केवल गिरिसरुद्धं खर्वटं तत्प्रचक्षते॥--आदि० १६।१७१। परिवृतमभित कर्वट पर्वतेन--बृहत्कथाकोष ६४।१७। वृत्त कर्वटमद्रिणा—वही, ६४।१५ शकटमुनिकथानकम्। १९७. परित· पर्वतयुतं खर्वटकं सर्वजनसहितम्॥—मयमत, दशम अध्याय क्षुल्लकप्राकारवेष्टित खर्वटम्--वही, पुरनिवेश अध्याय। १९८. द्विशतग्राम्याः खार्वटिकम्—कौटिल्य अर्थशास्त्र प्रकरण १७, अध्याय १, सूत्र ३ (जनपदनिवेशप्रकरण)। १९९. मानसार ३४ वाँ अध्याय तथा Dr. Acharya-Encyclo. of Hindu Architecture, Page 137।

वस्ती कहलाती है। अनेक ग्रामोकी रक्षा एवं व्यापार समृद्धिके लिए खर्वट स्थापित किये जाते थे। खर्वट अनेक गाँवोके व्यापारका केन्द्र रहता था। कौटिल्यने दोसौ ग्रामोके मध्य खर्वटकी बात कही है, इसका भी यही तात्पर्य है कि खर्वट दोसौ ग्रामोके व्यापारका केन्द्र होता था। वस्तुत. नगर विकासकी परम्पराको अवगत करनेके लिए खर्वटके स्वरूपका ज्ञान आवश्यक है। खर्वट वर्तमान नगरोंकी अपेक्षा कुछ भिन्न आकार-प्रकारका होता था। हमारा विश्वास है कि इसका महत्त्व सामरिक दृष्टिसे जितना अधिक सम्भव है उतना आर्थिक दृष्टिमे नही। जिनसेनने आदिपुराणके आगेवाले सन्दर्भमे खर्वटको दोसौ ग्रामोके मध्य माना है।[200] संक्षेपमे खर्वटकी निम्नलिखित विशेपताएँ होती है —

१. चारो ओर पर्वतोंसे वेष्टित।
२. दोसौ ग्रामोके मध्यमे स्थित।
३. सभी प्रकारके व्यक्तियोका निवास।
४ रक्षाकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण स्थान।
५ खेटकी अपेक्षा वड़ा।

मडम्ब

आदिपुराणमे उस वड़े नगरको मडम्व कहा गया है, जो पाँचसौ ग्रामोंके मध्यमे व्यापार आदिका केन्द्र हो।[201] मडम्ब वस्तुत व्यापार प्रधान वडे नगरको कहा गया है। इसमे एक वडे नगरकी सभी विशेपताएँ वर्तमान रहती है।

पत्तन

जो समुद्रके तट पर वसा हो और जहाँ नाँवोके द्वारा आवागमन हो, उसे पत्तन कहते हैं।[202] समराङ्गणसूत्रमें राजाओके उपस्थान अर्थात् ग्रीष्मकालीन अथवा शीतकालीन राजपीठको पत्तन कहा गया है।[203] जहाँ वहुत व्यापारी निवास करते हों और जो वन्दरगाह हो, उसे पुटभेदन वताया है।[204] समराङ्गणकी उक्त पत्तन-परिभाषा परम्परागत शिल्पशास्त्र एवं व्यावहारिक साहित्य सन्दर्भोंके अनुकूल प्रतीत नही होती है। अमरकोपमे नगरके पर्यायोमे 'पत्तन' और 'पुटभेदन' ये दो शब्द आये है। पं० हरगोविन्दशास्त्रीने अपनी मणिप्रभा टीकामे

---

२०० शतद्वे च सुग्रामसंख्यया···खर्वटयो·—आदि० १६।१७५, तुलनीय-सखेटखर्वटाटोपि—जिनसेनका हरिवंश पुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण २।३। २०१ मडम्बमामनन्ति ज्ञाः पञ्चग्रामशतीवृतम्—आदि० १६।१७२। २०३. पत्तनं तत्समुद्रान्ते यन्नौभिरवतीर्यते—वही १६।१७२। २०४. २०५ उपस्थानं भवेद् राज्ञा यत्र तद् पत्तनं विदुः। बहुस्फीतवणिग्युक्तम् तदुक्तं पुटभेदनम् ॥—समराङ्गण १८।५।

झल[४५३] (बड़ा मत्स्य), नक्र[४५४], मकर[४५५], मत्स्य[४५६], मीन[४५७], यादस्[४५८] (जल-जन्तु) का उल्लेख आदिपुराणमें किया है।

कीट-पतंग और पक्षी

उपयोगिताकी दृष्टिसे कीट-पतगका भी महत्त्व है। मनुष्य शुक, हंस एवं सारस आदि पक्षियोंको प्राचीनकालसे प्यार करता आ रहा है। मयूर आज भी राष्ट्र पक्षी माना जाता है। आदिपुराणमें अलि[४५९] (भृंग), कलहंस,[४६०] कुक्कुट,[४६१] कोक,[४६२] (चकवा), कोककान्ता (चकवी) कोकिल[४६४] या कोकिला, कौशिक[४६३] (उल्लू), क्रौंच,[४६६] गृध्र,[४६७] चक्रवाक,[४६८] चातक,[४६९] चातकी,[४७०] दत्यूह[४७१] (कृष्णवर्णका पक्षी), ध्वाक्ष[४७२] (काक), पतत्पति[४७३] (गरुड), भेरुण्ड,[४७४] मयूर,[४७५] राजहंस,[४७६] (श्रेष्ठ हंस) शिखण्डी[४७७] (कलगीदार मयूर), शुक,[४७८] सहसान[४७९] (मयूर विशेष) सारस[४८०], हंस[४८१] एवं हंसी[४८२] का निर्देश आया है।

इस प्रकार आदिपुराणमे जनपद, ग्राम, नगर, नदी, सरोवर, पर्वत, वनप्रदेश, वृक्ष-लता, जीव-जन्तु आदिका वर्णन आया है। इस वर्णनसे भारतकी स्थितिको सहजमे अवगत किया जा सकता है।

•

४५३. वही, २८।१८२। ४५४. वही, ४७।१५८। ४५५. वही, २८।१७१। ४५६. वही ११ १९९;४ ११७, १०।३० । ४५७. वही, ५।३४, २८। १७१। ४५८ वही, ३६।७९। ४५९. आदिपुराण ११।१९; मधुकर नाम (५।२८८); भृंग ५।२९०। ४६० वही, ४।१११। ४६१. वही, ४।६४। ४६२. वही, ३५।२३०। ४६३ वही, ३५।२२३। ४६४. वही, १९।१३६; ४।६०; ९।५६; ५।२९०; ८।३४; ६।५१। ४६५ वही, ४१।३७। ४६६. वही, १४।१९। ४६७. वही, १०।७४, १०।४२। ४६८. वही, १५।१०। ४६९. वही ४।६१; ३।१७०; ५।२१८। ४७०. वही, ७।१५९। ४७१ वही, ५।६। ४७२ वही, ४१।३७। ४७३. वही, १।२०८। ४७४. वही, ४७।४४। ४७५. वही, ३।१७०। ४७६. वही, ९।३। ४७७. वही, १९।१४०; सिखावल नाम भी आया है (९।१७], शिखी ४।७०। ४७८ वही, ६।७२; ४।६१; १५।११४। ४७९. वही, २६।१८। ४८०. वही, १४।६९; १४। १९९; २६।१५०। ४८१. वही, ४।७४; सितपक्षी–हस २६।१२; १४।६९; ९।५५, हस-युवा १५।११०। ४८२. वही, ६।७४; ११।२७; १२।२१।

अध्याय : ३

प्रथम परिच्छेद

समाज-गठन, सामाजिक संस्थाएँ एवं रीति-रिवाज

समाज-गठन

आदिपुराणमे सामाजिक जीवनका सुन्दर और व्यवस्थित चित्रण आया है, यत: व्यक्तिकी वैयक्तिक स्थिति समाजके विना सम्भव नही है। व्यक्तिकी वैयक्तिकताका अर्थ इतना ही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरण और क्रियाव्यापारोको परिष्कृत करे। उत्थान और पतन दोनो ही व्यक्तिके अपने अधीन है। अतः वैयक्तिकता मनुष्यका वह गुण है, जिसके कारण वह स्वतःके विचारोके आधारपर कार्य करता है तथा अपने जीवनको परिष्कृत कर शाश्वत सुख लाभ करता है।

आदिपुराणका समाज पारिवारिक जीवनसे आरम्भ होता है। भोगभूमिके जीवनको हम वैयक्तिक जीवन नही मान सकते, क्योकि वहाँ व्यक्ति नही—नर-नारी एक साथ निवास करते है। सासारिक भोगोकी अनुभूति वैयक्तिक होनेपर भी, उसका विकास युगलके मध्य ही होता है। यही कारण है कि भोगभूमिमे युगल उत्पत्तिकी कल्पना की गयी है।[1] संस्कृति और सामाजिकताका विकास इसी युगल-परिवारसे होता है। जव भोगभूमि कर्मभूमिके रूपमे परिवर्तित होती है, तो जीवनकी समस्याएँ वढ़ती जाती है, जिनका समाधान एक युगल नही कर सकता, अनेक युगल करते है और इन अनेक युगलोका समूह ही समाज वन जाता है। आदिपुराणमे वताया है कि प्रजाको कुलकी भाँति एकत्र कर कुलकरों-

१. दम्पतिसंभूति · · · आदि० ९।६६; मिथुनं मिथुनं तेषा · · · वही ९।८८।

ने उपदेश दिया—समाज-व्यवस्था प्रतिपादित की। इस सन्दर्भमे "आर्याणां कुल-संस्त्यायकृतेः"[1] पद विशेषरूपसे विचारणीय है। इस पदका विश्लेषण करनेसे समाज-व्यवस्थाके सिद्धान्त प्रस्फुटित हो जाते है। 'कुलसंस्त्याय' पद कुलोको—परिवारोको एकत्र करना तथा उनके एक साथ रहनेके लिए जीवन-यापनके सिद्धान्त निरूपित करना, अभिव्यक्त करता है।

सामाजिक जीवनका सबसे अधिक आवश्यक तत्त्व रक्षाविधि है। अस्तित्व-की रक्षाके लिए समाज गठन किया जाता है। रक्षाके अनन्तर ही व्यवहार और व्यवसायकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अत आदिपुराणमे—"रक्षाविधिमन्वशात्"[2] रक्षाविधिके प्रतिपादनकी चर्चा की गयी है। रक्षाका आश्वासन प्राप्त होनेपर ही एकत्वकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यह एकत्वकी वृत्ति अन्योन्याश्रयत्वपर अव-लम्बित रहती है और अन्योन्याश्रयत्वका स्थूलतम आधार है व्यक्तियोका श्रम। श्रमविभाजनके कारण व्यक्तिको अपनी वैयक्तिकता विकसित करनेका तो पूरा अवसर मिलता ही है, पर समाजका गठन भी इसी श्रमद्वारा होता है। समाज-शास्त्रमे व्यक्तिकी प्रत्येक क्रियाको श्रम नही कहा जाता है, श्रमके अन्तर्गत वही क्रिया समाविष्ट होती है, जिससे सेवा या सामग्रीका निर्माण हो। वस्तुतः वही क्रिया श्रममूलक मानी जाती है, जो व्यक्तिकी इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्तिपर आधृत हो। इच्छाशक्तिके द्वारा व्यक्ति बाह्य-जगतके साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है तथा उसकी ज्ञानशक्ति इस रागात्मक सम्बन्धको क्रियात्मक रूप प्रदान करके इच्छा तथा क्रियाशक्तियोको श्रमरूपमे एकत्व प्रदान करती है। ये तीनो शक्तियाँ पृथक् नही है, ये संयुक्त होकर ही कार्य करती है।

आदिपुराणमे "प्रजानां प्रीणनं[3]" और "प्रजाः सुप्रजसः[4]" पद पाये है। इन पदोंसे ज्ञात होता है कि प्रजा—जनताको प्रसन्न कर सहवास और सन्तानोत्पत्ति-द्वारा समाज-वृद्धिको सम्पन्न किया जाना चाहिए। मनुष्यकी मानसिक प्रकृति ही ऐसी है कि वह अन्य व्यक्तियोंके साथ रहनेके लिए बाध्य होता है। अत "प्रजा सुप्र-जस" पदसे इंगित होता है कि सम्पर्क-स्थापना सामाजिक व्यवहारका आधारभूत सिद्धान्त है। अपनेको अन्य व्यक्तियो तक पहुँचानेकी प्रवृत्ति मानवमे स्वभावतः पायी जाती है। वह जिस प्रकार अन्यके व्यवहारसे प्रभावित होता है, उसी प्रकार अपने व्यवहारसे अन्य व्यक्तियोको भी प्रभावित करना चाहता है। इस प्रकारके सामाजिक व्यवहारोके समन्वय एवं सामंजस्यसे समाजका संगठन दृढ होता है।

प्रजाके साथ सम्बन्ध रहनेसे 'प्रीणनं' का अर्थ सामाजिक दृष्टिसे संरक्षण,

१. आदि० ३।२११। २. वही ३।१०५। ३. वही ३।६८। ४. वही, ३।१२८।

संग्रहण और वितरण द्वारा प्रसन्नता प्राप्त करना है। एक शब्दमे हम इसे सामाजिक चेतना कह सकते है। व्यक्तिकी सामाजिक चेतना ही उसमे सामाजिकता उत्पन्न करती है। बताया है कि "महतां चेष्टा परार्थैव निसर्गत:"[1] अर्थात् विवेकी समझदार व्यक्तियोकी चेष्टा सहयोगके सम्पादनार्थ होती है। यहाँ 'परार्थ' से परकल्याणके साथ सहयोग और सहकारिता भी अपेक्षित है। सामाजिकताका विकास सहयोग और सहकारितासे ही होता है। जिनसेनने "प्रजानां हितकृत्[2]" पदसे मैत्रीपूर्ण पारस्परिक व्यवहार एवं सम्बन्धकी व्यञ्जना की है। समाजकी प्रमुख विशेषता इच्छित सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण होना चाहिए। समाजमे रहनेवाले व्यक्तियोंका उद्देश्य निश्चित, समान और व्यापक होता है।

आदिपुराणमें प्रतिपादित सामाजिक जीवन क्रान्तिकारी सामाजिक अर्हाओसे युक्त है। प्रवृत्ति-मार्गके साथ निवृत्तिमार्गी प्रवृत्तिको भी प्रोत्साहित किया गया है। गार्हस्थिक जीवनके प्रतिपादनके साथ संन्यास, मोक्ष, कैवल्य, तपस्या और समाधिका भी समाजशास्त्रीय विवेचन पाया जाता है। अहिंसा धर्मको प्रधानता मिलने पर कृषि और वाणिज्यको समान महत्त्व दिया गया है। कृषिके मूलमे हिंसावृत्ति वर्तमान रहती है, पर आदिपुराणमे जीवन-यापनके साधनोंमे उसे भी महत्त्व दिया गया है। अत आदिपुराणका सामाजिक जीवन पौरुष, त्याग, सेवा और विवेकयुक्त है। इन कथनकी पुष्टि 'यति' शब्दकी व्याख्यासे भी होती है—

भवन्तु सुखिना सर्वे सत्त्वा इत्येव केवलम्।
यतो यतन्ते तेनैषां यतित्व सन्निरुच्यते॥ आदि० ९।१६६

संसारके सभी प्राणी सुखी रहे, इसीलिए जिनका प्रयत्न वर्तमान रहता है, वे यति कहलाते है। सुखी, स्वस्थ और उदार समाजका संगठन यति-मुनियों द्वारा ही सम्पन्न होता है। आदिपुराणम वर्ण और जाति व्यवस्थापर भी विचार किया गया है तथा सामाजिक संगठनको सुदृढ बनाये रखनेके हेतु सामाजिक संस्थाओकी व्यवस्था प्रतिपादित की है।

समाजकी सुदृढ़ता आर्थिक भित्तिपर अवलम्बित रहती है और इसकी प्राप्ति षट्कर्मोंके सम्यक् सम्पादन करनेसे होती है। अर्थ समाजके सहयोगसे ही अर्जित होता है और व्यक्तिका प्रत्येक कार्य समाजके सहयोगसे सम्पन्न होता है। आचार्य जिनसेनने समाजको सुगठित करनेके सिद्धान्तोंमे अर्थ-विकासको महत्त्व प्रदान किया है। उनका अभिमत है—

धर्मादिष्टार्थसम्पत्तिस्ततः कामसुखोदय:।—आदि० ५।१५

---

१. आदि०, ११२८। २. वही, ३।२०६।

धर्मसे धन और धनसे विलास-वैभव प्राप्त होते हैं। वही समाज सुगठित माना जाता है, जिसमे आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक विकासके लिए सतत प्रयास वर्तमान रहता है। "धनर्द्धि-सुखसम्पदाम्"[1] पदसे सामाजिक समृद्धिकी सूचना मिलती है। जिनसेनाचार्यने सामाजिक भावनाके विकासके लिए विश्वप्रेम-को आवश्यक माना है। समाज-व्यवस्था प्रेम और बन्धुत्वकी भावनापर ही अवलम्बित है। परस्पर भाई-भाईका व्यवहार करना, एक दूसरेके दुःख-दर्दमे सहायक होना, दूसरोंको ठीक अपने समान समझना, हीनाधिककी भावनाका त्याग करना, अन्य व्यक्तियोकी सुख-सुविधाओको समझना तथा उनके विपरीत आचरण न करना समाज-व्यवस्थाकी धारणा है। इस धारणाके अनुसार पाखण्ड, छल-कपट, चोरी, दुराग्रह, अधिक संचय आदिका परिमार्जन आवश्यक है। इतना ही नही, अधिकार और कर्त्तव्यकी भावनामे सन्तुलन भी मानवोचित गुणोंके द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता है। जिनसेनने मानवके उक्त गुणोका निर्देश करते हुए वतलाया है—

सत्यं शौचं क्षमा त्यागः प्रज्ञोत्साहो दया दमः।
प्रशमो विनयश्चेति गुणाः सत्त्वानुषङ्गिणः ॥—आदि० १५।२१४

सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञा, उत्साह, दया, दम, प्रशम और विनय ये गुण वैयक्तिक और सामाजिक जीवनको विकसित करनेमे सहायक है। अतएव इन गुणोंको सत्वानुषंगी अर्थात् आत्म-अविनाभावी कहा गया है। अतएव जिस व्यक्तिमे उक्त गुण विद्यमान है, वह समाजका उत्तम सदस्य वननेकी क्षमता रखता है।

समाजका आर्थिक एवं राजनैतिक ढाँचा लोकहितकी भावनापर आश्रित है तथा सामाजिक उन्नति और विकासके लिए सभीको समान अवसर प्राप्त है। अतः अहिसा, दया, प्रेम, सेवा और त्यागके आधारपर गठित समाजमे शोषण और संघर्ष नही रहते हैं।

अपने योगक्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओको ग्रहण करना तथा परि-श्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय-अत्याचार द्वारा धनार्जन करनेका त्याग करना एवं एवं आवश्यकतासे अधिकका संचय न करना स्वस्थ समाजके निर्माण-में उपादेय है। भोगोपभोगपरिमाणव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रतके समन्वयसे समाजकी आर्थिक व्यवस्था सुदृढ वनती है। जिनसेनकी यह समाज-व्यवस्था मनुष्य-को केवल जीवित ही नही रखती, वल्कि उसे अच्छा जीवन यापन करनेके लिए प्रेरित करती है। मनुष्यकी शक्तियोंका विकास समाजमे ही होता है। सामाजिक जीवनके अध्ययनसे यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य केवल भौतिक सुखोसे ही

१. आदिपुराण २।३३

सन्तुष्ट नही होता, वह पाशविक सुखभोगसे ऊपर उठकर आनन्दकी प्राप्ति करना चाहता है। कला साहित्य, दर्शन, संगीत, धर्म आदिकी अभिव्यक्ति मनुष्यकी सामाजिक चेतनाके फलस्वरूप ही होती है। ज्ञानका आदान-प्रदान भी सामाजिक वातावरणमे सम्भव होता है। समाजमे ही समुदाय, संघ, और संस्थाएँ बनती है।

जिनसेनकी दृष्टिमे समाज एक समग्रता है और इसका गठन विशिष्ट उपादानोके द्वारा होता है। समाजका भौतिक स्वरूप सम्बन्धग्राही भावनोपेत मनुष्योके द्वारा निर्मित होता है। इसका आध्यात्मिक रूप, विज्ञान, कला, धर्म, दर्शन आदिके द्वारा सुसम्पादित किया जाता है। अत. समाज एक ऐसी क्रियाशील समग्रता है, जिसके पीछे आध्यात्मिकताका रहना आवश्यक है। नैतिक भावना और संकल्पात्मक वृत्तियोंके संश्लेपसे समाजका देश-काल-व्यापी रूप सम्पन्न होता है। जिनसेनके मतानुसार समाज-गठनके निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्त है .—

१. वैयक्तिक लाभके साथ सामूहिक लाभका महत्त्वपूर्ण स्थान[१]।
२. न्यायमार्गकी वृत्ति[२]।
३. उन्नति और विकासके लिए स्पर्धा[३]।
४. कलह, प्रेम एवं सघर्पके द्वारा समाजकी सुगठित स्थिति[४]।
५. मित्रताका व्यवहार[५]।
६. बड़ोका उचित सम्मान[६]।
७. परिवारके सदस्योंका सुगठित रूप[७]।
८. गुण-कर्मानुसार जाति-वर्ण व्यवस्था[८]।
९. समानता और उदारताकी दृष्टि[९]—विनय गुणका सद्भाव।
१०. आत्म-निरीक्षणकी प्रवृत्ति।
११. अनुशासन स्वीकार करनेके प्रति आस्था।
१२. अर्जनके समान त्यागके प्रति अनुराग[१०]।
१३. कर्त्तव्यके प्रति जागरूकता[११]।
१४. स्वावलम्बनकी प्रवृत्ति[१२]।
१५. सेवा और त्यागकी प्रवृत्तिका अनुसरण।

इस प्रकार आदिपुराणमे समाजके संगठनपर पर्याप्त विचार किया गया है।

---

१. आदि० ११८८। २. वही, ४४।२४६। ३. वही, ४।१३५। ४ वही, ३।११४। ५. वही, ३६।१४६। ६. ३६।८। ७. वही, ३५।२; ३८।४६। ८. वही ३६।१४२, ३६।१३८ ९. वही १५।२१४। १०. वही, ३।१२८–दानका महत्त्व, ,८।१७८। ११. वही ३५।८८। १२. वही, ६।१२०–१४७।

संगठनके आधारभूत सिद्धान्त इतने सार्वजनीन और उपयोगी है, कि इनके व्यवहार करनेसे समाज नये रूपमे सुगठित हो सकता है। अगले परिच्छेदमे सामाजिक जीवनकी विस्तृत रूपरेखा अंकित की जा रही है।

द्वितीय परिच्छेद

आदिपुराणमें प्रतिपादित सामाजिक संस्थाएँ (Social Institutions)

सामाजिक संस्था : स्वरूपनिर्धारण

समाजके विभिन्न आदर्श और नियन्त्रण जनरीतियों, प्रथाओ और रूढियोंके रूपमे पाये जाते है। अतः नियन्त्रणमे व्यवस्था स्थापित करने एवं पारस्परिक निर्भयता बनाये रखनेके हेतु यह आवश्यक है कि इनको एक विशेष कार्यके आधारपर संगठित किया जाय। इस संगठनका नाम ही सामाजिक संस्था (Social Institution) है। चार्ल्स हॉर्टनकूलेने सामाजिक संस्थाका स्वरूप निर्धारण करते हुए लिखा है—"सामाजिक संस्था किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकताकी पूर्तिके लिए सामाजिक विरासतमे स्थापित सामूहिक व्यवहारोका एक जटिल तथा घनिष्ठ संगठन है।"[1] स्पष्ट है कि मानव सामूहिक हितोकी रक्षा एवं आदर्शोंके पालन करनेके लिए सामाजिक संस्थाओंको जन्म देता है। ये संस्थाएँ समूह, समिति, श्रेणी आदिसे भिन्न होती है। इनके निर्माणका मूलाधार कोई निश्चित आचार-व्यवहार एवं समान हितसम्पादनकी प्रवृत्ति ही होती है।

---

1. An institution is a Complex intergrated organization of Collective behaviour established in the Social heritage and meeting Some persistent need or want —Social organisation Charle scribe ness sons Newyork Page 25-35

विशेष जाननेके लिए देखिये—Cultural Sociology, Mecmillion & Co Newyork 1948, Page 690-700.

समाजशास्त्रके मूलसिद्धान्त, भाग १, किताब महल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण पृ० ५३-५५।

सामाजिक संस्थाएँ एक व्यक्तिके व्यवहारपर निर्भर नही करती; किन्तु वहुसंख्यक मनुष्योंके व्यवहारोके पूर्ण चित्रके आधारपर ही उनका प्रार्दुभाव होता है। दूसरे शब्दोमे यों कहा जा सकता है कि सामाजिक संस्थाएँ मनुष्योंकी सामूहिक क्रियाओं, सामूहिक हितो, आदर्शों एवं एक ही प्रकारके रीति-रिवाजोंपर अवलम्बित है। अनेक व्यक्ति जव एक ही प्रकारकी जनरीतियो (Folk-ways) और रूढियों (Mores) के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करने लगते है, तो विभिन्न प्रकारकी सामाजिक संस्थाएँ जन्म ग्रहण करती हैं। प्रत्येक सामाजिक संस्थाका एक ढाँचा (Structure) होता है; जिसमे कार्य-कर्ताओं, उत्सवो, संस्कारों एवं सामाजिक सम्वन्धोका समावेश रहता है। तथ्य यह है कि अधिक समय तक एक ही रूपमे कतिपय मनुष्योके व्यवहार और विश्वासोका प्रचलन सामाजिक संस्थाओको उत्पन्न करता है।[1] इन संस्थाओके मूलमे सम्प्रदाय और धर्मक्रियाओंके प्रभाव भी निहित रहते हैं। संक्षेपमे सामाजिक संस्थाओमे निम्न लिखित गुण और विशेपताएँ पायी जाती है:—

१. सामाजिक संस्थाएँ प्रारम्भिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका साधन होती है।

२ सामाजिक संस्थाओ द्वारा सामाजिक नियन्त्रण सम्पादित होते हैं।

३. सामाजिक अर्हाओं और प्रजातिक व्यवहारोका सम्पादन सामाजिक संस्थाओ द्वारा ही सम्पन्न होता है।

४. अनुशासन और आदर्शकी रक्षा सामाजिक संस्थाओ द्वारा ही सम्भव होती है।

५. प्रत्येक संस्थाका कोई निश्चित उद्देश्य होता है।

६. सामाजिक संस्थाएँ मनुष्योके मूर्तसमूहको नियन्त्रित करनेका अमूर्त्त साधन हैं।

७. सामाजिक संस्थाओके समितियोके समान सीमित और नियमित सदस्य नही होते, वल्कि किसी एक वर्ग या सम्प्रदायके व्यवित व्यवस्थित कार्यप्रणालीका सम्पादन करते हैं।

८. सामाजिक संस्थाएँ नैतिक आदर्शों एवं व्यवहारोका स्वरूप परिज्ञान कराती है।

९ सामाजिक संस्थायें ऐसे वन्वन है, जिनसे समाज मनुष्योको सामूहिक रूपसे अपनी संस्कृतिके अनुरूप व्यवहार करनेके लिए वाघ्य कर देता है; यतः

---

1 (i) An introductory Sociology , Page 90 97
(ii) Dictionery of Sociology—Philosophical Library New-york City. P. 327

सामाजिक संस्थाओमे वे आदर्श और धारणाएँ होती है, जिन्हें समाज अपनी संस्कृतिकी रक्षाके लिए आवश्यक मानता है।

१०. सामाजिक संस्थाओमे उत्सव, संस्कार, निश्चित जीवन-मूल्योका सम्पादन, जीवन-मर्यादाओ और धारणाओका समावेश रहता है।

११. सामाजिक संस्थाओका संचालन सामाजिक संहिताओ (Social Codes) के आधार पर होता है; क्योकि मनुष्योके व्यवहारो और प्रवृत्तियोको नियन्त्रित करनेके लिए आचार-संहिता अपेक्षित होती है। यह स्मरणीय है कि प्रत्येक धर्म-सम्प्रदायकी आचार-संहिता भिन्न होती है, अत सामाजिक संस्थाओं का रूप गठन भी भिन्न धरातलपर सम्पन्न होता है। साम्प्रदायिक मान्यताओके फलस्वरूप ही सामाजिक संस्थाएँ कार्य संचालन करती है।

आदिपुराणकी सामाजिक सस्थाएँ

आदिपुराणके रचयिता आचार्य जिनसेनकी प्रमुख विशेषता है कि उन्होने गुप्तकालीन साहित्य और संस्कृतिको पचाकर अपने इस पुराणकी रचना की है। गुप्तकालीन संस्कृति समन्वयात्मक थी; जिसने विभिन्न धर्म और सम्प्रदायोकी मान्यताओको साहित्य और कला-कृतियोंमे समानरूपसे महत्त्व दिया है। श्री राधाकमल मुखर्जीने गुप्तकालकी विशेपताके सम्बन्धमे लिखा है—"गुप्तकाल अनिवार्यत. ऐसा काल था, जब भारतवासी जीवनके सभी क्षेत्रोमें शाश्वत और अमूर्त उड़ान भर सके। गुप्तकालीन भारतमे सार्वभौमिकताके लिए प्रयास किये गये। सार्वभौम सम्प्रभुता और सार्वभौम संस्कृतिपर आधारित राज्यके सिद्धान्त (जिनके साथ आर्यावर्तका राजनैतिक प्रसार और ऐक्य सम्बद्ध था), सार्वभौम मानव और सार्वभौम समाजके धार्मिक सिद्धान्त, सभी धर्मो और सम्प्रदायोमे मानव-मुक्तिकी मसीहाई आशा, दर्शनमे सार्वभौम सिद्धान्तो और विचारोका स्पष्टीकरण, विज्ञानका फलप्रद विकास, साहित्य, कला और मूर्तिकलामे क्लासिसिज्म, 'वर्णसंकर' और 'कलियुग' के सिद्धान्त तथा विदेशियोकी नवीन वर्णके रूपमे स्वीकृति तथा कानूनी और व्यावहारिक दृष्टिसे वर्णभेदका शमन ऐसे ही प्रयास थे। यह है गुप्त संस्कृतिका भारतके लिए कालातीत उत्तराधिकार। सच तो यह है कि भारतीय इतिहासके उस स्वर्णयुगके पश्चात् अब तक भारतकी विचारधारा और संस्थापक ढाँचेको ढालनेका काम इसी उत्तराधिकारने किया है"।[1]

श्री के० एम० पणिक्करने भी गुप्तकालके सम्बन्धमे बताया है—"धर्मकी

---

१ भारतकी संस्कृति और कला, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली ६, सन् १९५९ ई० हिन्दी संस्करण, पृ० १६२।

बेल फल-फूल रही थी। उसमे परिवर्त्तन हो चुका था और वह सजीव तथा प्रेरणाप्रद वन गया था। हिन्दू देवताओके स्वरूपोंमे वस्तुत. क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया था। उनके चिरपरिचित नामो और प्राचीन आकृतियोमे स्फूर्तिदायी गुणोंका सन्निवेश कर दिया गया था, जिससे जनताके लिए उनकी पूजामे अधिक सजीवता आ गयी थी"।[1]

स्पष्ट है कि गुप्तकालीन समृद्धि, कलाका पुनर्जागरण, लचीली वर्ण-व्यवस्था, उदार धर्मनीति, सहिष्णुता एवं साहित्यका अभूतपूर्व उत्कर्ष जिनसेनको प्राप्त हुआ और उन्होंने उक्त धरातल पर प्रतिष्ठित हो जैनधर्म द्वारा व्यक्तित्व और समाज-निर्माणकी प्रक्रिया सूचित करनेके लिए अपनी इस कृतिका प्रणयन किया। अतएव इनके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संस्थाओमे पर्याप्त लचीलापन है। आचार्य जिन-सेनने बताया है[2] कि भोगभूमिकी समाप्तिके साथ ही वैयक्तिक जीवनका महत्त्व भी समाप्त हो गया था और कर्मभूमिके साथ सामाजिक जीवनका आरम्भ हुआ। यह सर्वमान्य तथ्य है कि कर्मभूमिमे अकेला व्यक्ति कुछ नही कर सकता है। आजीविका, विवाह, व्यापार-व्यवसाय प्रभृतिके लिए सामाजिक सहयोगकी नितान्त आवश्यकता है। कोई भी धर्म आध्यात्मिक चेतनाके बलसे लोकप्रिय नही बन सकता है। लोक-जीवनका प्रतिपादन करनेसे सामाजिक जीवनका ढाँचा तो निर्मित होता ही है, साथ ही व्यापक प्रसारका भी अवसर मिलता है। सामाजिक चेतनाके अभावमे कर्मका मार्ग संकीर्ण हो जाता है। अतएव सामाजिक जीवनकी आवश्यकताओकी पूर्ति सामाजिक संस्थाओके बिना संभव नही है।[3] आदिपुराणमे निम्नलिखित सामाजिक संस्थाओका निर्देश पाया जाता है।

१. कुलकर-संस्था
२. समवशरण-संस्था
३. चतुर्विधसंघ-संस्था

---

१. भारतीय इतिहासका सर्वेक्षण, हिन्दी संस्करण, एशिया पब्लिशिग हाउस, बम्बई, सन् १९५९ ई०, पृ० ५५। २. आदिपुराण, १६ वां पर्व। ३. भारतीय समाजका मूल आधार वर्णव्यवस्था समझी जाती है, किन्तु गुप्त युग तक यह बहुत लचकीली थी। जातपाँतका विचार परिपक्व नहीं हुआ था। खान-पान, विवाह और पेशे विषयक वर्तमान कठोर व्यवस्थाएँ नहीं चालू हुई थीं। इस कालकी स्मृतियोंमें केवल शूद्रोंके साथ ही खान-पानका निषेध है, किन्तु इनमें भी अपने कृषक, नाई, ग्वाले और पारिवारिक मित्रको अपवाद माना गया है। शूद्र होने पर भी इनके साथ खानपानमें कोई दोष नहीं है। उस समय समाजमें प्राय सर्वत्र विवाह होने लगे थे, तथा असवर्ण विवाहोंको भी वैध माना जाता था। अनुलोम (उच्चवर्णके पुरुषके साथ निम्न वर्णकी स्त्रीका सम्बन्ध) और प्रतिलोम (निम्नवर्णके वरके साथ उच्चवर्णकी कन्याका सम्बन्ध) दोनों प्रकारके विवाह प्रचलित थे।—हरिदत्त वेदालंकार, भारतका सांस्कृतिक इतिहास, आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली, १९५२ ई०, पृ० १४१-५२।

४. वर्णजाति-संस्था
५. आश्रम-संस्था
६. विवाह-संस्था
७. कुल-संस्था
८ संस्कार-संस्था
९. परिवार-संस्था
१० पुरुषार्थ-संस्था
११ चैत्यालय-संस्था

१ कुलकर-सस्था

आचार्य जिनसेनकी दृष्टिमे जीवनकी सफलता भोगकी मात्रापर निर्भर नही है। भोग जीवनका स्वार्थपूर्ण और सकीर्ण मार्ग है। ऐसा जीवन उच्चतर आदर्शका प्रतिनिधित्व नही कर सकता, क्योकि सर्वोच्च ऐश्वर्य भी शनैः शनैः नष्ट होते-होते एक दिन विल्कुल ही मिट जाते है। भोगभूमिके अनायास प्राप्त होनेवाले भोग समाप्त हो सकते है, तो संसारकी अन्य विभूति क्यो नही नष्ट हो सकती? प्राप्त हुए भोग भी मनुष्य भोग नही पाता, एकदिन उसे संसार छोड़कर चला जाना पडता है। अतएव यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि सासारिक सुख, ऐश्वर्य और इन्द्रिय-भोग क्षणभंगुर है। इनसे व्यक्तिको कभी भी तृप्ति नही मिलती। पर इस सत्यसे इन्कार नही किया जा सकता कि मनुष्य सासारिक वस्तुओ, सुख और सम्बन्धोके नश्वर होने पर भी उनकी सर्वथा अवहेलना नही कर सकता है। शाश्वतिक सुख प्राप्त करनेका मार्ग संसारके माध्यमसे ही प्राप्त होता है।

कुलकर-संस्था एक प्रकारकी समाजव्यवस्थाको सम्पादित करनेवाली संस्था है। भोग और त्यागका सम्पृक्त जीवन किस प्रकार निर्भ्रान्त व्यतीत किया जाता है, इसका सम्यक् परिज्ञान इस संस्थासे प्राप्त होता है। जीवनमें अनुशासन आवश्यक है, विना अनुशासनके जीवन व्यवस्थित नही हो सकता। समाजकी आवश्यकताएँ अनुशासित रूपमे ही सम्पन्न की जाती है। कुलकर जीवन-मूल्योको नियमवद्ध कर एकता और नियमितता प्रदान करते है, मनुष्यके नैतिक कर्मोकी ओर संकेत करते है। अपराध या भूलोका परिमार्जन दण्डव्यवस्थाके विना संभव नही है, अत. कार्यो और क्रियाव्यापारोंको नियन्त्रित करनेके लिए अनुशासनकी स्थापना की जाती है। इस कुलकर-संस्थाका विकसित रूप ही राज्य-संस्था है, जिसमें समाज और राजनीति दोनोके तत्त्व वर्तमान है। आदिपुराणके अनुसार कुलकर-संस्था द्वारा सामान्यतः निम्नाङ्कित सामाजिक कार्योका सम्पादन हुआ है—

१ समाजके सदस्योंके बीच सम्बन्धोका संस्थापन।

२. सम्बन्धोंकी अवहेलना करनेवालोके लिए दण्डव्यवस्थाका निर्धारण।

३. स्वाभाविक व्यवहारोके सम्पादनार्थ कार्य-प्रणालीका प्रतिपादन।

४. आजीविका, रीति-रिवाज एवं सामाजिक अर्हाओकी प्राप्तिकी व्याख्याका निरूपण।

५. सास्कृतिक उपकरणों द्वारा स्वस्थ वैयक्तिक जीवन-निर्माणके साथ सामाजिक जीवनमे शान्ति और सन्तुलन स्थापनार्थ विषय-सुखकी अवधारणाओमे परिमार्जन।

६. समाज-संगठन एवं विभिन्न प्रवृत्तियोंका स्थापन।

७. सामूहिक क्रियाओंका नियन्त्रण एवं समाज-हित प्रतिपादन।

आदिपुराणमे जिनसेनने लिखा है कि जीवनवृत्ति एवं मनुष्योंको कुलकी तरह इकट्ठे रहनेका उपदेश देनेके कारण कुलकर कहलाये।[१] कुलकरोंने अपराधियोके लिए ही, 'हा', 'मा', 'धिक्' की दण्ड-व्यवस्था प्रतिपादित की। 'हा' का अर्थ है, खेद है कि तुमने ऐसा कार्य किया। 'मा' का अर्थ है आगेसे ऐसा कार्य मत करना और 'धिक्' का अर्थ है कि धिक्कार है तुमने ऐसा कार्य किया। इस श्रेणीमे आगे भरत चक्रवर्तीकी तत्तुल्य रूपसे गणना की गयी, जिन्होंने अपराधोको नियन्त्रित करनेके लिए वध, वन्धन आदि शारीरिक दण्डकी व्यवस्था प्रवर्तित की।

कुलकरोंके कार्योका वर्णन करते हुए वताया गया है कि प्रतिश्रुतने कर्मभूमिके प्रारम्भमे चन्द्रमाके देखनेसे भयभीत हुए मनुष्यके भयको दूर किया। तारागणोंसे युक्त नभोमण्डलको देखकर भयभीत हुए मनुष्योके भयको सन्मतिने दूर किया, क्षेमंकरने प्रजा-क्षेम—कल्याण और सुव्यवस्थाका प्रचार किया, क्षेमंधरने कल्याणकारी कार्योका उपदेश दिया, सीमंकरने आर्यपुरुपोकी सीमाएँ नियत की; सीमन्धरने सम्पत्तिका बँटवारा करना वतलाया तथा कल्पवृक्षोकी सीमा निश्चित की, विमलवाहनने गज, अश्व, रथ आदि वाहनोपर सवारी करना सिखलाया। चक्षुष्मान्ने पुत्रपालनकी परम्परा वतलायी। अभिचन्द्रने बालकोको क्रीड़ा-विनोद करना और मरुदेवने पारिवारिक सम्बन्धोंकी स्थापना करना सिखलाया। प्रसेनजितने गर्भके ऊपर रहनेवाले जरायुके हटानेका कार्य और नाभिराजने नाल काटनेका कार्य सिखलाया। ऋपभदेवने समाजको कृषि करना, वाणिज्य-व्यवसाय करना, नौकरी

---

१. प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः। आर्याणा कुलसंस्त्यायकृते. कुलकरा इमे॥ कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति। युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः॥—आदि० ३।२११-२१२।

करना, शिल्पकार्य सम्पादन करना, कला-कौशलका निर्माण करना सिखलाया।[1] समाजव्यवस्थामे इनका वहुत वडा योगदान है। ग्राम, नगर, नदी, सरोवर आदि के उपयोग करनेकी प्रक्रिया भी इन्होंने वतलायी थी। इस प्रकार कुलकरोने समाज-व्यवस्थाको महत्त्व प्रदान किया।

कुलकर एक सामाजिक संस्था है, यह उपदेशक या व्यवस्थापक वर्ग नही। वर्तमानमे परिवार, क्लव, चर्च आदिको जिस प्रकार मंस्थाओंकी संज्ञा प्राप्त है, उसी प्रकार कुलकर-सस्थाको भी। सामाजिक शक्तियो, प्रथाओ, सहयोगो, संघर्षो एवं व्यवस्थाओंका नियन्त्रण इस संस्था द्वारा होता है। राज्य जिस प्रकार सामाजिक जीवनका एक साधनमात्र है, उस प्रकार कुलकर-संस्था नही है। यद्यपि इस संस्थासे निपेधात्मक (Prohibitive Functions), नियन्त्रणात्मक (Regulative Functions) और कल्याणात्मक कार्य (Welfare Activities) सम्पादित किये जाते है, पर यथार्थमे समाजको राजनैतिक शक्तिके विना केवल प्रतिभा या वुद्धिवलसे गठित करनेका कार्य यह संस्था करती है। इस प्राचीन संस्थाका विकसित रूप ही राज्य, स्वायत्तशासन, पंचायत एवं नगरपालिका आदि संस्थाएँ है। सामाजिक अस्तित्वके लिए नियन्त्रण करनेवाली संस्थाकी परम आवश्यकता है। समाजशास्त्रके सिद्धान्तोमें वताया गया है "सामाजिक नियन्त्रणकी आवश्यकता इसलिए और है कि व्यक्ति आत्म-अभिव्यञ्जनाका प्रयत्न करता है, जवकि समाज समूहकी सुरक्षा चाहता है, व्यक्ति चाहता है कि उसको इच्छानुसार कार्य करनेकी व मोज उडानेकी पूरी आजादी हो। पर समाजको तो सामूहिक हितकी ही ओर ध्यान रखना है, क्योकि यदि सव व्यक्ति अपने अपने कार्योंमे स्वतन्त्र हो जायँ तो समाजकी सुरक्षा असंभव है। इसलिए प्रत्येक समाजमे व्यवहारोकी सामान्यरूपसे स्वीकृत व्यवस्था होनी चाहिए। यह व्यवस्था चूँकि समूहके सदस्योको अनुशासित करती है, उनके कर्त्तव्य और अधिकारोको निश्चत करती है"।[2]

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि अनुशासन और नियन्त्रण करनेवाली कुलकर-संस्था भी एक सामाजिक संस्था ही है।

कुलकर-संस्था और मन्वन्तर-संस्थाका तुलनात्मक विवेचन

आदिपुराणको कुलकर-सस्था वैदिक वाङ्मयमे मन्वन्तर-संस्थाके नामसे प्रसिद्ध है। समाजके स्वरूप विकासमे मन्वन्तर भी कुलकरोके समान महत्त्वपूर्ण

---

१ आदिपुराण ३।२३३-२३७। २. समाजशास्त्रके मूलसिद्धान्त, किताबमहल, इलाहावाद सन् १९५८ई०, भाग २ पृ० ११७।

है।[1] जिस प्रकार कुलकर १४ होते है, उसी प्रकार मन्वन्तर भी चौदह माने गये। इन चौदह मन्वन्तरोको दो वर्गोमे विभक्त किया जा सकता है—धर्म और अधर्म अथवा सुगति और कुगति।[2] आदिपुराणमे कथित कुलकरोंको भी दो वर्गोमे विभक्तकर अध्ययन किया जा सकता है। प्रथम वर्गमे प्रथम सात कुलकर आते है और द्वितीय वर्गमे उत्तर वर्ती सात कुलकर। आदि के सातकुलकरोके समयमे पूर्णतया भोगभूमि की स्थिति है और उत्तरवर्ती सात-कुलकरोके समयमे भोगभूमि कर्मभूमिके रूपमे परिवर्तित हो रही है। प्रथम सात कुलकरोके समयमे माता-पिता सन्तानका मुख नही देख पाते थे, पर उत्तरवर्ती सात कुलकरोंके समयमे सन्तान जीवित रहती है और माता-पिता उनकी व्यवस्था के लिए चिन्तित दिखलाई पडते है।[3] आदिपुराणमे कुलकरोको मनु भी कहा है। ये प्रजाके जीवनका उपाय जाननेसे मनु एवं आर्यपुरुषोको कुलकी भाँति इकट्ठे रहनेका उपदेश देनेसे कुलकर कहलाते थे। वंश स्थापित करनेके कारण कुलधर कहलाये थे।[4]

मन्वन्तरका अर्थ समाजशास्त्रीय दृष्टिसे 'मनुका परिवर्तन' है—एक ही मनु अपनेको विभिन्न रंगोमे वदलता रहता है। 'वर्णत. मनव' के अन्तर्गत समस्त मनुओको श्वेत और कृष्ण दो वर्गोमे विभक्त किया है। यहाँ श्वेत धर्मका और कृष्ण अधर्मका प्रतीक है। वैदिक परम्परानुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग में जिस प्रकार धर्मका ह्रास होता है उसी प्रकार नारायणका भी रूप वदलता जाता है। मनु धर्म और अधर्मके संघर्षको शान्त कर धर्मकी प्रतिष्ठा करते है। समाजमे व्यवस्था और शान्ति वनाये रखनेका प्रयत्न[5] करते है।

उपर्युक्त प्रसंगमे आये हुए वर्ण-परिवर्तन—शुक्ल और कृष्णरूप समाजकी स्थिति आदिपुराणमे भी उपलब्ध है। यहाँ वताया है कि मलिनाचार करनेवाले व्यक्ति कृष्णवर्णमे और निर्मल आचरण करनेवाले शुक्लवर्णमे परिगणित है। जो श्रुति, स्मृति आदिके द्वारा की हुई विशुद्ध वृत्तिको धारण करते है, उन्हे शुक्लवर्ण और शेषको कृष्ण वर्ण कहते है। वस्तुतः शुद्धि-अशुद्धि, न्याय-अन्याय सदाचार-कदाचार शुक्ल-कृष्णवर्णके प्रतिनिधि है।

मनुओका कार्य समाज और व्यक्तिके वीच सन्तुलन वनाये रखना है। वे उसी समय जन्म ग्रहण करते है, जव समाजमे किसी भी प्रकारकी विप्रतिपत्ति

१. सूर्यसिद्धान्त सुधावर्षिणी टीका सहित, कलकत्ता सन् १९२५ ई०, १।१८-१९ २. भागवत पुराण २।७।३९। ३. आदिपुराण ३।१२४-१२८। ४. वही, ३।२११-२१२। ५. डा० फतेसिह द्वारा लिखित—भारतीय समाज शास्त्र, मूलाधार, सुमति सदन कोटा (राजस्थान) सन् १९५३ ई० पृ० १३६ आदिपुराण ३९।१३८-१४२।

उत्पन्न होती है। समाजकी समस्याओका समाधान कर नये रूपमे सामाजिक संगठनको उपस्थित करते है। डॉ० फतेसिहने लिखा है—"जिस क्रमसे अवसर्पिणीमें अवनति होती है, उसके विपरीत क्रमसे उत्सर्पिणीमे उन्नति होती है। उन्नति-अवनतिका यही क्रम हमे मन्वन्तरोमे दिखलाई पडता है। वहाँ भी एक मन्वन्तर-सप्तकमे जिस क्रमसे अवनति होती है, उसके विपरीत क्रमसे दूसरे सप्तकमे उन्नति प्रारम्भ होती है। उदाहरणार्थ प्रथम सप्तकके अन्तिम मन्वन्तरमे इन्द्रत्व इतना पतित हो जाता है कि वह महान् तपस्वी असुरराज वलिके धर्मोत्कर्पको भी सहन नही करता और उसे पाताल भिजवाता है, इसके विपरीत द्वितीय सप्तकमे प्रारम्भिक मन्वन्तरमे उक्त देवराज इन्द्रको उतारकर उसी असुरराज वलिको इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। अत. स्पष्ट है कि दो पडरो—उत्पसर्पिणी, अवसर्पिणीमे विभक्त द्वादशार कालचक्रका जो सम्वन्ध दो कुलकर-सप्तकोसे है, वही दो मनु-सप्तको या मन्वन्तर-सप्तकोसे भी है।[1]

मन्वन्तर-सिद्धान्तके अनुसार सद्धर्मके दो पक्ष है—धर्मत्व और अधर्मत्व या देवत्व और असुरत्व। ये दोनो परस्पर संघर्ष करते है, जो नीचे है, वह ऊपर और जो ऊपर है, वह नीचे आ सकता है। वैदिक पुराणोमे देवराजके पतित होने, शापित होने और नीचेकी योनियोमे जन्म लेने तककी कथाएँ उपलब्ध होती है। महाभारतमे ऐसे अनेक आख्यान आये है, जिनसे शील-सदाचारकी प्रतिष्ठा सिद्ध होती है। समाज नेता वही माना जा सकता है, जो समाजमे शील-सदाचारकी व्यवस्थाको सुदृढ कर सके। महाभारतकी कथामे आया है—एक वार दानवोके राजा प्रह्लादने अपने शीलके प्रभावसे देवराज इन्द्रका राज्य छीनकर तीनो लोकोंको अपने अधीन कर लिया। राज्यके छिन जाने पर इन्द्रने वृहस्पतिसे ऐश्वर्य-प्राप्तिका उपाय पूछा। वृहस्पतिने शुक्रके पास और शुक्रने उसको प्रह्लादके पास उस उपायको जाननेके लिए भेजा। इन्द्र ब्राह्मणका वेष वनाकर प्रह्लादका शिष्य हुआ और उसने वहुत दिनो तक उसकी सेवा-शुश्रूषा की। अन्तमे प्रह्लादने वतलाया कि उसके ऐश्चर्यका कारण शील है। शीलका उपदेश करनेके वाद ब्राह्मण-रूप इन्द्रसे प्रह्लादने कहा—'मै तुम्हारी सेवासे वहुत प्रसन्न हूँ, तुम अपनी इच्छानुसार वर माँगो। इस पर इन्द्रने उसका शील मांगा। वचनवद्ध होनेसे उसे अपना शील देना पडा। ब्राह्मण (इन्द्र) प्रसन्न होकर चला गया। उसके जाते ही प्रह्लादके शरीरसे छायाके समान एक तेज निकल पडा। प्रह्लादके पूछने पर उसने कहा—मै शील हूँ, आपके द्वारा त्याग दिये जानेके कारण मै जाता हूँ। इसके पश्चात् प्रह्लादके देहसे एक अन्य तेज निकला। उसने कहा—मै धर्म हूँ, जहाँ शील रहता है, वही मै रहता हूँ। शील उस ब्राह्मणके पास गया है मै भी

१. भारतीय समाज शास्त्र, मूलाधार, पृ० १३३।

उसके पास जाता हूँ। धर्मके जाने पर सत्य, सत्यके पश्चात् सदाचार, सदाचारके अनन्तर लक्ष्मी और लक्ष्मीके पश्चात् बल भी चले गये।[1]

इस कथाका तात्पर्य यह है कि शील व्यक्तिका नियन्त्रक तो है ही, वह समाजका भी नियामक होता है। शीलके कारण ही धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है।

सृष्टिविकास-क्रमके इतिवृत्तका आलोडन करने पर ज्ञात होता है कि सूर्य, चन्द्र, बादल, वर्षा, उल्कापात प्रभृति आकस्मिक कार्यव्यापारोंने आदिम मानवको अवश्य आतंकित किया होगा। प्राचीन मानवको रात्रिके भयंकर अन्धकारने अपनी सुरक्षाके प्रति उसे आशंकित और आकुल बनाये रखनेमे कोई कमी उठा न रखी होगी। रात्रिमे विभिन्न क्रूर शत्रुओंके आक्रमणका भय भी उसे कम पीड़ित न करता रहा होगा। प्रथम बार जिसने वर्षाकी अनुभूति की होगी, वह जल जीवनके महत्त्वको स्पष्टरूपमे समझ सका होगा। मनुष्यने जिज्ञासुभावसे जब विस्तृत शून्याकाश और उसमे टूटते हुए तारागणोको देखा होगा, तब उसकी यह समस्या पर्याप्त जटिल हो गयी होगी। जिस समझदार व्यक्तिने आदिम मानवकी उक्त समस्याओंका रहस्योद्घाटन किया होगा, वह व्यक्ति निश्चयत: कुलकर या मनु कहा गया है। मनुओंका कार्य समाजको व्यवस्थित करना, उसे संस्कृति और सभ्यताकी शिक्षा देना एवं नियमित और नियन्त्रित जीवन यापनके लिए प्रेरित करना था। विष्णुपुराणमे मनुओंके कार्योंका संक्षेपमे वर्णन आया है—

चतुर्युगान्ते वेदानां जायते किल विप्लव.।
प्रवर्तयन्ति तानेत्य भुवं सप्तर्षयो दिवः॥
कृते कृते स्मृतेर्विप्र प्रणेता जायते मनुः।
देवा यज्ञभुजस्ते तु यावन्मन्वन्तरं तु तत्॥
भवन्ति ये मनोः पुत्रा यावन्मन्वन्तरं तु तैः।
तदन्वयोद्भवश्चैव तावद्भूः परिपाल्यते॥—विष्णुपुराण ३।२।४५-४७

अर्थात्—वेदोका पुनर्ग्रथन मनुओ द्वारा होता है। धर्ममर्यादाकी स्थापना एवं धार्मिक नियमोंका ग्रथन भी मनु करते है। प्रत्येक कल्पकालमे सामाजिक बन्धनो, व्यवस्थाओ और नियमोका निर्धारण मनु करते है। मनु शब्दकी व्याख्या ही इस बातका प्रमाण है कि मनुष्योके भीतर संगठन और अनुशासनका कार्य कुलकरोके समान मनु करते है। स्मृतियोका प्रणयन अनुशासनकी दृष्टिसे ही किया जाता है। कर्म, योग और भोगके गुण-परिमाणका निर्धारण मनुओ द्वारा ही सम्पन्न होता है। व्यष्टि और समष्टिकी इच्छा, ज्ञान एवं क्रियाशक्तियोंकी व्यवस्थाका प्रति-

---

१. महाभारत, गीताप्रेस, शान्तिपर्व १२४।२८-६२।

पादन मन्वन्तर कालमे प्रत्येक मनु समय और परिस्थितिके अनुसार करते है। संक्षेपमे मनुओ द्वारा समाज-व्यवस्थाके निम्न लिखित कार्य सम्पन्न होते है—

१, संगठन सम्वन्धी नियमोका निर्धारण।
२. अनुशासन सम्वन्वी कार्योके नियमोका निर्धारण।
३. व्यक्तिगत जीवनको सुसंस्कृत करनेवाले नियमोका प्रतिपादन।
४. धर्म और आचार सम्वन्धी नियमोका कथन।
५ सामाजिक संस्थाओकी व्यवस्थाका प्रतिपादन।
६. जीवनोत्थान सम्वन्वी व्यवस्थाओ और सीमाओका निर्धारण।
७ पारस्परिक व्यवहार सम्पन्न करनेवाले नियमोकी व्यवस्था।

२. समवशरण-संस्था

वुद्धि मनुष्यकी मूल प्रवृत्तियोके स्वरूपको परिवर्तित करती है। वोधात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक प्रवृत्तियोंका परिष्कार किसी निमित्त विशेषसे ही सम्पन्न होता है। वस्तुकी अनुभूति प्राप्त होते ही विवेक उस वस्तुको तुलना दूसरी वस्तुसे कर तथा अपनी चेतनाको पुराने अनुभवसे सम्वद्धकर वस्तुका वास्तविक वोध प्राप्त कराता है और मनुष्य मिथ्या तथा सम्यक् वस्तुके भेदको समझ जाता है। विवेकहीन चेतना—श्रद्धाको अन्वा कहा जाता है और चेतना—श्रद्धा हीन विवेकको पङ्गु। अतः समाजशास्त्रका सिद्धान्त है कि सामाजिक संस्थाएँ वे ही यथार्थ हैं, जो व्यक्तिकी चेतना और विवेकमे सन्तुलन उत्पन्न कर मूल प्रवृत्तियोको परिष्कृतकर समाजको स्वस्थ और सवल वनाती है। स्थायित्व उन्ही सामाजिक संस्थाओमे पाया जाता है, जिनका लक्ष्य समाजके घटक व्यक्तिका जीवनशोधन करना होता है। यदि समाजके सभी व्यक्ति शील-सदाचारी हो जायँ, तो फिर समाजकी अनैतिकताएँ दूर होनेमे विलम्व न हो।

समवशरण ऐसी संस्था है, जो समाजको स्वस्थ और प्रवुद्ध वनानेके साथ कर्त्तव्य-दायित्वका विवेक सिखलाती है। समवशणमे प्रसारित होनेवाली दिव्य-ध्वनि व्यक्तिके व्यक्तित्वका उत्थान करती है, उसे मानवोचित गुणोसे परिचित कराती है और समाजका सहयोगी सिद्ध करती है। आत्मप्रशंसा और परनिन्दा ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ है,[1] जिनके कारण समाजकी शान्ति और व्यवस्था टूटती है तथा पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न होता है। अतः समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोणसे कोई भी विचारक नेता मानवकी मूलप्रवृत्तियोंमे सामञ्जस्य उत्पन्न करता है, संवेग

---

१ अप्पपसंस परिहरह सदा या होह जसविणासयरा। अप्पाण थोवंतो तण लहुहो होदि हु जणम्मि॥—भगवती आराधना गाथा ३५९ आयासवेरभयदक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ। परणिदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा॥—वही, गाथा ३७०।

और इच्छाओंको नियन्त्रित करता है और स्वस्थ सामाजिक अर्हाओंको प्रादुर्भूत करता है। शत्रुता, शोक, ईर्ष्या, राग, द्वेष, असंयम प्रभृति ऐसे कीटाणु है, जो समाजको शनैः शनैः क्षीण करते जाते है, जिससे अन्तमे समाजरूपी वृक्ष धराशायी हो जाता है। वस्तुतः यह संस्था मानवमात्रको धर्मसाधनका समान अधिकार प्रदान करती है, प्रत्येक व्यक्ति समत्वको प्राप्त होता है।

आदिपुराणमे प्रतिपादित समवशरण तीर्थंकरकी ऐसी उपदेशसभा है, जिसमे पशु-पक्षी, देव-मनुष्य, ऊँच-नीच, धनी-गरीब, मित्र-अमित्र, पापी-पुण्यात्मा सभी एकसाथ बैठ आत्मकल्याणकारी उपदेश सुनते है। बडे-बडे राजकीय और सामाजिक नेता भी इस सभामे सम्मिलित हो अपनी जटिल समस्याओंका समाधान प्राप्त करते है। जिनसेनने बताया है कि जब चक्रवर्ती भरतके मनमे कोई आशंका उत्पन्न होती है, तो वे आदितीर्थकर ऋषभदेवके समवशरणमे जाकर अपनी शंका का समाधान करते है। समवशरण ऐसी सामाजिक संस्था है, जिसकी शरणमे सभी प्रकारके लौकिकनेता पहुँचते है। वास्तवमे धर्मनेता ऐसा लोकनायक होता है, जो नि.स्वार्थ और निष्काम भावसे जनहितका उपदेश देता है। शील, संयम, सदाचार, व्यवस्था, मानमर्यादा एवं सहयोग-सेवाकी भावना ही सामाजिकताका निर्वाह करनेमे समर्थ होती है। उच्च आदर्शोंकी स्थापना एवं वैयक्तिक जीवनमें विकार-संशोधन भी इसी प्रकारकी संस्थाओ द्वारा सम्भव है। आदिपुराणमें समवशरणका उदात्त वर्णन है। इस वर्णनके अवलोकनसे इस संस्थाका महत्त्व सहजमें अवगत किया जा सकता है। समवशरणकी रचना पौराणिक मान्यतानुसार देवों द्वारा सम्पन्न होती है।

सर्व प्रथम धूलिसाल कोट रहता है। इसके आगे मानस्तम्भ और मानस्तम्भके चारों ओर वापिकाएँ रहती है। वापिकाओसे कुछ दूर जाने पर जलपूर्ण परिखा, इसके आगे लतावन और तदन्तर प्रथम परिकोट आता है, इस कोटके द्वारपर देव द्वारपालके रूपमे रहते है और गोपुरके द्वारपर आठ मंगलद्रव्य स्थित रहते है। इसके आगे दूसरा परकोट रहता है, इसमे अशोकवन, सप्तपर्णवन, चम्पकवन और आम्रवन ये चार वन रहते है। इन वनोमे चैत्यवृक्ष भी है, जिन वृक्षोपर तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ विराजमान रहती है। यहाँ किन्नर जातिकी देवियाँ भगवान्‌का गुणगान करती हुई परिलक्षित होती है। इसके पश्चात् चार गोपुरद्वारों सहित वनवेदीका उल्लङ्घन करनेपर अनेक भवनोसे युक्त पृथ्वी और स्तूप मिलते है। ये भवन तीन, चार और पाँच खण्डोके होते है। भवनोंके बीचमे रत्नतोरण लगे रहते है, जिनमे जिनमूर्त्तियाँ अंकित रहती है। यहाँ रत्नमयस्तूप भी सुशोभित होता है। इसके आगे आकाश-स्फटिकका बना हुआ तृतीय कोट मिलता है, इसके द्वार पर कल्पवासीदेव उपस्थित रहकर पहरा देते है। उनसे आज्ञा लेकर अथवा बिना

ही आज्ञाके सभामे प्रवेश किया जाता है। यहाँ चारों ओर एक योजन लम्बा, चौडा और गोल श्रीमण्डप रहता है, इसके मध्यमें तीर्थंकर सुशोभित रहते हैं।[1] यहाँ वारह कक्ष होते है, जिनमें क्रमश. (१) मुनि, (२) कल्पवासिनी देवियाँ, (३) आर्यिकाएँ, महारानियाँ एवं अन्य स्त्रियाँ, (४) ज्योतिषी देवोंकी स्त्रियाँ, (५) व्यन्तरोकी स्त्रियाँ, (६) भवनवासी देवोंकी स्त्रियाँ, (७) भवनवासी देव, (८) व्यन्तर देव, (९) ज्योतिषी देव, (१०) कल्पवासी देव, (११) सभी प्रकारके पुरुष और (१२) मृगादि सभी प्रकारके पशु-पक्षी स्थित रहते हैं[2]। तीर्थंकरका सर्वभाषामय धर्मोपदेश होता है, जिसे सभी प्रकारके देव, मनुष्य, पशु, पक्षी अपनी-अपनी वोलियोंमें हृदयगंम करते जाते है[3]। जीवन शोधन और व्यक्तित्व निर्माणका कार्य इस सभा द्वारा सम्पन्न होता है। मनुष्योंमे ही नही पशु-पक्षियोमे भी सभ्यता और संस्कृतिका न्यास किया जाता है।

समवशरण यह नाम सार्थक है, जिनसेनने इसकी व्युत्पत्ति वतलाते हुए लिखा है कि सुर, असुर, पशु, पक्षी और मनुष्य आदि आकर दिव्यध्वनि—तीर्थंकरोपदेशके अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए वैठते है, इसी कारण इसे समवशरण कहा जाता है[4]।

समवशरणभूमिमे तीर्थंकर समाज-रचनाका आधार अहिंसाको प्रतिपादित करते है और इसके लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका उपदेश देते है। विचारके क्षेत्रमे अनेकान्त द्वारा अहिंसाकी प्रतिष्ठा स्थापित करते है और समाज-शान्तिके लिए अपरिग्रहको आधार मानते है। इस प्रकार आचारमे अहिंसा, विचारमें अनेकान्त, वाणीमे स्याद्वाद[1] और समाजमें अपरिग्रहको प्रतिष्ठा कर समाजको शक्तिशाली वनाते है। जगत्का प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नही होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रिलक्षण है। परिणामवादकी भूमिपर अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वादकी प्रतिष्ठा की गयी है। संक्षेपमे इस संस्थाके निम्नलिखित समाजशास्त्रीय गुण—महत्त्व प्रकट होते हैं—

१. धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें मनुष्यमात्रके समान अधिकारकी घोषणा करना।

२. सद्गुणोके विकासका सभीको समान अवसर प्राप्त करनेकी स्वतन्त्रताका रहना।

---

१. आदिपुराण, ३३।७५-१०६। २. तत्रापश्ययन्मुनीनिद्धवोधान्देवीश्च कल्पजा। सार्यिका नृपकान्ताश्च ज्योतिर्वन्योरगामरीः भावनव्यन्तरज्योति.कल्पेन्द्रान्पार्थिवान्मृगान्। भगवत्पादः संप्रेक्षाप्रीतिप्रोत्फुल्ललोचनान् ॥—वही, ३३। १०७,१०८। ॥ ३. वही ३३।११९-१२०। ४. वही, ३३।७३।

३. विरोधी विचारोंको सुनकर घवडाना नही, अपने विचारोके समान अन्यके विचारोका भी आदर करना।

४. निर्भय और निर्वैर होकर शान्तिके साथ जीना और दूसरोंको जीवित रहने देना।

५ संचयशील वृत्तिका त्याग कर अधिकार-लिप्सा और प्रभुत्व वृद्धिकी भावनाका दमन करना।

६. दूसरोके अधिकार और अपने कर्त्तव्यपालनके लिए सदा जागरूक रहना।

७. अहिंसा और संयमके समन्वयद्वारा अपनी विशाल और उदार दृष्टिसे विश्वमे भ्रातृत्व भावनाका प्रचार करना।

समवशण संस्था धार्मिक-संस्था होनेपर भी इसमे सामाजिक संस्थाके गुण भी पाये जाते है, क्योंकि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण उक्त सिद्धान्तोसे विशेप भिन्न नही है। सामाजिक दर्शन (Social philosophy) और सामाजिक नियोजन (Social planning) ये दोनो गुण इस संस्थामे समाहित है। डॉ० राधाकृष्णन्ने समाजशास्त्रके घटकोंमें धर्मको अनन्यतम घटक कहा है। उन्होने लिखा है—"धार्मिक विश्वास हममे किसी जीवन-पद्धत्तिपर डटे रहनेके लिए आवेश भरता है, और यदि उक्त विश्वासका ह्रास होने लगता है, तो आज्ञापालन घटकर आदतमात्र रह जाता है, और धीमे-धीमे वह आदत भी अपने आप समाप्त हो जाती है।"[२] वर्ट्रेण्ड रसेलने भी उक्त प्रकारकी संस्थाओको समाजहितकी दृष्टिसे आवश्यक माना है। उनका अभिमत है कि कुण्ठाओंका परिष्कार और शोधन किसी मान्य धर्म-संस्थाद्वारा होता है, यह धर्म-संस्था समाज-संस्थासे भिन्न नही होती। वताया है—"कुण्ठाओसे भरे हुए जीवनके वहुत प्राणमय रहनेकी सम्भावना नही होती, वल्कि वह निष्प्राण और उत्साह-रहित वन जाता है।[३]" अतएव स्पष्ट है कि समवशरण-संस्थामे धर्मसंस्था और सामाजिक संस्था दोनोके गुण पाये जाते है।

३. चतुर्विध संघ-संस्था

चतुर्विध संघमे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चारोके समवायकी गणना की जाती है। यों इन्हे दो संस्थाओमे विभक्त कर सकते है—(१) साधु-संस्था और (२) गृहस्थ-संस्था

---

१. सप्तभङ्ग्यात्मिकेयं ते भारती विश्वगोचरा। आप्तप्रतीतिममला त्वय्युद्भावयितुं क्षमा॥—आदि० ३३।१३५। २. धर्म और समाज, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, सन् १९६१ ई०, पृ० १९। ३. सामाजिक पुनर्निर्माणके सिद्धान्त, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६३ ई० पृ० २००।

(क) साधु-संस्था

साधु-संस्थाके अपने संहिता-नियम हैं, जिनके आधारपर इस संस्थाका संचालन होता है। इस संस्थाका अधिपति या नायक 'आचार्य' कहलाता है, जिसके तत्त्वावधानमें साधु अपने नियमोंका पालन करते हैं। यह साधु-संस्था पर्याप्त शक्तिशाली एवं प्रभावक थी, प्रत्येक मुनि या साधुके संहिता-नियम थे, जिनका पालन वे कठोरता पूर्वक करते थे। यह संस्था (१) मुनि, (२) उपाध्याय, (३) क्षुल्लक-ऐलक और (४) क्षुल्लिकाएँ एवं आर्यिकाएँ इन चार रूपोंमें विभक्त थी। प्रत्येक साधु-संघमें अनेक व्यक्ति सम्मिलित रहते थे तथा प्रत्येक इकाई एक संघ कहलाती थी। आचार्यकी अनुज्ञाके बिना कोई भी साधु अकेला विहार नही करता था। अकेला वही साधक विहार करता था, जो सब प्रकारसे जितेन्द्रिय और संयमी होता था, जिसमे वक्तृत्वशक्ति एवं शास्त्रप्रवचन-क्षमता रहती थी। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि संघमें प्रधान आचार्य रहता था और कुछ अवान्तर आचार्य भी रहते होंगे, ये सभी मिलकर संघकी व्यवस्था करते थे। प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, विनय, वैयावृत्य और ध्यानकी ओर साधुवर्गका ध्यान विशेषरूपसे दिलाया जाता था; क्योंकि उक्त नियमोंका समाजशास्त्रके साथ विशेष सम्बन्ध है। प्रायश्चित्त आत्मशुद्धि और समाजशुद्धिका कारण है। आचरणमे किसी भूल या त्रुटिके हो जानेपर उसके सुधारके लिए गुरुके समक्ष उसे निवेदित करना और उसके लिए उचित दण्ड ग्रहण करना प्रायश्चित्त है। इससे साधु-समाजमे कोई दोष या त्रुटि नही आ पाती और वह संयमी बना रहता है। स्वाध्याय—स्व और परकी अनुभूति एवं शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करनेके लिए स्वाध्याय आवश्यक है। स्वाध्यायसे ही तत्त्वों और अधिगमके उपायोंको जाना जा सकता है। अधिगम उपायोंमे प्रमाण, नय और निक्षेप माने गये है। प्रमाण वस्तुके पूर्णरूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशको जानता है। आशय यह है कि ज्ञाताका अभिप्रायविशेष नय है, जो प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एक अंशका स्पर्श करता है। प्रमाणज्ञान अनन्तधर्मात्मक वस्तुको समग्रभावसे ग्रहण करता है, अंशविभाजन करनेकी ओर उसकी प्रवृत्ति नही होती।

अनन्तधर्मात्मक पदार्थके व्यवहारमें निक्षेपकी भी आवश्यकता है। जगत्‌में व्यवहार तीन प्रकारसे चलते हैं—ज्ञानद्वारा, शब्दद्वारा और अर्थद्वारा। अनन्तधर्मात्मक वस्तुको उक्त तीनों प्रकारके व्यवहारोंमें बाँटना निक्षेप है। निक्षेपका शाब्दिक अर्थ है रखना। वस्तुके विवक्षित अंशको समझनेके लिए उसकी शाब्दिक, आर्थिक, साकल्पिक, आरोपित, भूत, भविष्यत्, वर्तमान आदि अवस्थाओंको सामने रखकर प्रस्तुतकी ओर दृष्टि देना निक्षेपका लक्ष्य है। जैनागममें पदार्थ-

वर्णनकी एक पद्धति है कि एक-एक शब्दको नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, काल और क्षेत्रकी दृष्टिसे विश्लेषणकर वस्तुका विवेचन करना और तदनन्तर विवक्षित अर्थको बतलाना। इस प्रकार स्वाध्याय द्वारा वस्तु-अधिगमों एवं स्याद्वाद आदि सिद्धान्तोंका ज्ञान प्राप्तकर साधुसमाज आत्मोत्थानके साथ लोकमान्यता भी प्राप्त करता है। अतः सामाजिक दृष्टिसे स्वाध्यायका बहुत महत्त्व है।

स्वाध्यायके अनन्तर सेवा-शुश्रूषा और वैयावृत्यका स्थान आता है। जो रोगी, असमर्थ या वृद्ध साधु है, उनकी देखरेख भी संघके साधुओंको करनी चाहिए। वैयावृत्य—सेवाको इसलिए तप कहा गया है कि इसका समाजशास्त्रीय अत्यधिक मूल्य है। साधुओंमे भी सहयोग और सहकारिताकी भावना वैयावृत्यसे ही आती है। सेवा करनेवाला छोटा नही हो सकता, उसकी आत्मामे अपूर्व सामर्थ्य होता है।

साधुओंके लिए आत्मोत्थान हेतु विषय-कषायचिन्तन सम्बन्धी आर्त्त और रौद्र ध्यानका त्यागकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अभ्यास करना चाहिए। आशय है कि समस्त चिन्ताओं, संकल्प-विकल्पोंको रोककर मनको स्थिर करना, आत्म-स्वरूपका चिन्तन करते हुए पुद्गलद्रव्यसे आत्माको भिन्न विचारना और आत्म-स्वरूपमे स्थिर होना। विशुद्धध्यानके द्वारा ही कर्मरूपी इंधनको भस्मकर चिदानन्दपरमात्मस्वरूप आत्मतत्त्वको प्राप्त किया जा सकता है। ध्यान करनेसे मन, वचन और शरीरकी शुद्धि होती है। अतः समाजशास्त्रकी दृष्टिसे व्यक्तित्व-शुद्धिके लिए ध्यान आवश्यक है।

दिगम्बर साधु २८ मूलगुणोंका पालन करते हैं—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पञ्चेन्द्रिय जय, षट् आवश्यक, स्नानत्याग, दन्तधावन त्याग, पृथ्वीपर शयन, खड़े होकर दिनमे एक बार भोजन ग्रहण, नग्नत्व और केशलुञ्च करना। वे बड़ी शान्ति और धैर्यके साथ क्षुधा, तृषा आदिकी वेदनाको सहन करते है। वे दूसरों द्वारा कष्ट दिये जाने पर भी विचलित नही होते, सुमेरुके समान अपने व्रत और चरित्रमे अटल रहते है। उनके लिए शत्रु-मित्र, महल-श्मशान कंचन-काँच, निन्दा-स्तुति सब समान है। समस्त परिग्रहके त्यागी रहनेके कारण उनकी आवश्य-कताएँ बहुत ही सीमित होती है।

उपाध्याय साधुसंघमे अध्यापकका कार्य करते है और समस्त संघके मुनियों-को ग्यारह अंग और चौदह पूर्वकी शिक्षा देते है। साधु एकान्तमें साध्वियोंसे वार्तालाप नहीं करता, रात्रिके समय संघकी साध्वियाँ साधुओंके निवास स्थानसे भिन्नस्थानपर निवास करती है। साध्वियोंको भी आदरणीय स्थान प्राप्त है। साधु

निस्वार्थ भावसे जनकल्याणकारी उपदेश देनेमे प्रवृत्त रहते है ।[1] यह साधु-संस्था वहुत ही सुघटित संस्था थी, इसका प्रभाव समाजके ऊपर व्याप्त था ।

गृहस्थ-संस्था

साधुसंस्था और गृहस्थसंस्था दोनो ही परस्परमे एक दूसरेसे नियन्त्रित और प्रभावित थी । गृहस्थसंस्था कदाचारी साधुओकी स्वच्छन्दचारितापर नियन्त्रण रखती थी, क्योकि साधुओकी भोजनचर्या गृहस्थोके आहारदानपर निर्भर थी, पर यह स्मरणीय है कि साधु नवधाभक्तिके विना आहार ग्रहण नही करता था, उनकी वृत्ति सिंहवृत्ति होती थी । इधर गृहस्थोकी धार्मिक मर्यादाएँ मुनियों या साधुओ द्वारा प्रतिपादित की जाती थी । वे भी गृहस्थोको अपने मार्गसे विचलित नही होने देते थे ।

गृहस्थको आपसमे स्नेह और प्रेमपूर्वक निवास करनेका उपदेश दिया गया है । जिस प्रकार गाय अपने वछडेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार साधर्मी वन्धुके प्रति प्रेमभाव रहना चाहिए । सामाजिकताके विकासके हेतु धर्मात्मा गुणी पुरुषसे कोई भूल या अपराध हो जानेपर इस अपराध अथवा दोषको सभीके समक्ष प्रकट न करना और जहाँ तक संभव हो दोपको छिपाना आवश्यक है । सर्वसाधारणके समक्ष दोपके प्रकट हो जानेसे व्यक्तिके मानसमे हीनत्वकी भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे उसके व्यक्तित्वका विकास अवरुद्ध हो जाता है । जिस प्रकार आत्मप्रशंसा और परकी निन्दा समाज-विकासमे वाधक है, उसी प्रकार परके दोपोको सर्वसाधारणमे प्रचारित करना भी वाधक है । वात्सल्यभावके साथ परदोष गूहन भी गृहस्थका एक गुण है । निर्वलताके कारण मनुष्य अपने जीवनमे अनेक वार पथभ्रष्ट होता है तथा कर्त्तव्यमार्गसे च्युत भी हो जाता है । ऐसे व्यक्तिका स्थिति-करण करना और धर्माचरणमे तत्पर वनाये रखना परम आवश्यक है । सामाजि-कताके विकासके लिए जिनसेनने निम्नलिखित गुर्णोका निर्देश किया है—

> दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् ।
> धर्मश्चतुर्विध सोऽयं आम्नातो गृहमेधिनाम् ।।—आदि० ४१।१०४

दान देना,[2] पूजा करना, शीलका पालन करना और पर्वके दिनोमे उपवास करना यह चार प्रकारका गृहस्थोका धर्म माना गया है ।

---

१. साधवो मुक्तिमार्गस्य साधनेऽर्पितधीधना· । लोकानुवृत्तिसाध्याशो नैपा कश्चन पुष्कलः । परानुग्रहवुद्धया तु केवलं मार्गदर्शनम् । कुर्वतेऽमी प्रगत्यापि निसर्गोऽयं महात्मनाम् ॥ स्वदु खे निर्घृणारम्भा· परदुःखेपु दु खिता. । निर्व्यपेक्ष परार्थेपु वद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥ क्व वयं निरपृहा. क्वेमे क्वेय भूमिः सुखोचिता । तथाप्यनुग्रहेऽस्माक सावधानास्तपोधनाः ।।आदिपुराण, ६।१६२–१६५ । साध्वाचार—आदिपुराण, ११।६४, ६५, ६९, ७०, ७२, ७५ । २. यत्र सत्पात्रदानेपु प्रीति. पूजासु चार्हताम् । शक्तिरात्यन्तिकी शीले प्रोपधे च रतिर्नृणाम् ॥ तथा मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थैरुपवृंहितम्—वही ३९।१४६ ।

वास्तवमे विश्वमैत्री, गुणि-समादर, दुखित जीवोंपर दया और दुर्जन उपेक्षा गृहस्थ-संस्थाके लिए अत्यन्त उपोदय धर्म हैं। दानद्वारा समाजमे सहयोगकी भावना समृद्ध होती हैं और विश्वमैत्री द्वारा प्रेमका वातावरण प्रकट होता है। सामाजिक सगठनके तत्त्वोमे प्रेम और त्याग दोनो ही आवश्यक गुण माने गये हैं। गृहस्थ-संस्थामें इन दोनों गुणोका सद्भाव आवश्यक है। जो अपने ही स्वार्थो और अपनी ही मान्यताओंमे वंधा रहता है, वह व्यक्ति दान नही दे सकता और न मैत्रीका आचरण ही कर सकता हैं। दान देनेसे व्यक्तिकी ममता घटती है और सामाजिक ममता विकसित होती है। करुणा, दया और सहानुभूति गुण भी विश्वमैत्रीके साधन हैं। गुणियोका आदर करनेसे समाजमे सौहार्द उत्पन्न होता और मनुष्यके व्यवहार एवं सम्वन्धोका वोध प्राप्त होता है।

गृहस्थ चारित्रकी दृष्टिसे तीन प्रकारके होते है—(१) पाक्षिक (२) नैष्ठिक और साधक। पाक्षिक श्रावकको सच्ची और दृढ आस्था तो रहती है, पर किसी श्रेणीका आचरण नही होता। यह (१) जुआ खेलना, (२) मास खाना, (३) मदिरापान करना, (४) शिकार खेलना, (५) वेश्यागमन करना, (६) चोरी करना और (७) पर-स्त्री सेवन करना इन व्यसनोका त्यागी होता है। रात्रि-भोजन करना, जलछान कर पीना एवं अष्टमूलगुणोका धारण करना भी श्रावकके गुणोमे परिगणित हैं। यह आचरण व्यक्तिको समाजमें सचाई, अहिंसा, श्रद्धा और पारस्परिक विश्वास उत्पन्न करता है। नैष्ठिक श्रावक एकादश प्रतिमाओंका पालना करता हैं और इसके अनन्तर आत्माकी साधना करनेवाला साधक होता है, ऐलक और क्षुल्लकके रूपमें साधुसंस्थामे प्रविष्ट हो मुनिपद धारण करता है। इस प्रकार चतुर्विध सघ-संस्था सामाजिक रीति-रिवाजो और मूल प्रवृत्तियोकी स्वच्छन्दता-का नियन्त्रण करती है।

४. वर्ण और जाति-संस्था

वर्ण और जाति दोनो भिन्नार्थक शब्द है। जब व्यक्तियोका एक समुदाय कई सन्ततियोंसे वंशपरम्परागत प्रणालीके अनुसार एक ही देशमे रहता हो, तब उसे जाति (Race) कहा जाता है। प्रत्येक जातिके मानसिक गुण पृथक् पृथक् होते हैं। कुछ विद्वानोका[1] मत है कि जाति विस्तृतरूपसे रक्तसम्बन्ध रखनेवाले प्राणियोका वर्ग है, जो अपने शारीरिक चिन्होंकी विशेषता द्वारा दूसरेसे भिन्न दृष्टिगोचर होता है। जातिकी व्यापक परिभाषा यह हो सकती है कि जाति मनुष्यजातिका वह एक उपविभाग है, जिसमे जन्मसे ही भौतिक लक्षण—आकार-प्रकार, माप,

१. डॉ० ऋषिदेव विद्यालंकार, मानवविज्ञान व नृतत्त्वशास्त्र—मानव विज्ञानपरिषद्, लखनऊ, १९६४, पृ० १०४-१०५।

तोल, परिमाप, शिरोरुप, त्वचा, वर्ण आदि समान पाये जाते है। स्पष्ट है कि जातिका ग्रहण वहुत व्यापक अर्थ—राष्ट्रीयरूपमें किया गया है। आदिपुराणकारने जातिका ग्रहण राष्ट्रीय अर्थमे नही किया है। यों तो जातिनामकर्मोदयसे एक ही जाति—मनुष्य जाति (Caste) है, पर आजीविका-भेदसे वह चार प्रकारकी हो जाती है। अतएव "जाति कुटुम्वोका वह समूह है, जिसका अपना एक निजी नाम है, जिसकी सदस्यता पैतृकता द्वारा निर्धारित होती है, जिसके भीतर ही कुटुम्व विवाह करते है और जिसका या तो अपना निजी पेशा होता है या जो अपना उद्भव किसी पौराणिक देवता या पुरुपसे वताते हैं"।[1]

उपर्युक्त कथनके प्रकाशमें यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयरूप जाति प्राणिशास्त्रीय है और इसका आधार शारीरिक लक्षणोकी एकरूपता है। इसी कारण इसे प्रजाति (Race) शब्दके द्वारा अभिहित किया गया है। सामाजिक संगठन वनाये रखनेके लिए जन्म या कर्मके आधारपर वर्गचेतनाके निर्वाहनार्थ मानवसमूहोका विभक्त होना जाति (Caste) कही जाती है। इसीका दूसरा नाम वर्ण भी है।

आदिपुराणपर मनुस्मृति, शुक्रनीति, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थोंका पर्याप्त प्रभाव है। आचार्य जिनसेन गुप्तकालोत्तर उदारनीतिसे पूर्ण प्रभावित हैं। अत. जाति-व्यवस्थाके लिए भी उन्होने उक्त ग्रन्थोका प्रभाव ग्रहण किया है। इस ग्रन्थके १६वें और १८वें पर्वमें जातिव्यवस्थाका वर्णन आया है। वताया गया है कि व्रतसंस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्रधारणसे क्षत्रिय, न्यायपूर्ण धनार्जनसे वैश्य और नीचवृत्तिसे शूद्र कहलाते है।[2] आदिब्रह्मा ऋपभदेवने तीन वर्णोकी स्थापना की थी। भरतने व्रतसंस्कारकी अपेक्षा ग्रहणकर ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की।

क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वं अनुभूय तदाभवन्।
वैश्याश्च कृपिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविताः॥
तेपा शुश्रूपणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारव.।
कारवो रजकाद्याःस्युस्ततोऽन्ये स्युरकारवः॥
कारवोऽपि मता द्वेवा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पत.।
तत्रास्पृश्या प्रजावाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकादयः॥

—आदि १६। १८४-१८६।

शस्त्रधारणकर आजीविका करनेवाले क्षत्रिय, खेती, व्यापार तथा पशुपालन

---

१. डॉ० राजेश्वरप्रसाद अर्गल, समाजशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रनाल हॉस्पिटल रोड, आगरा, सन् १९५३ ई०, पृ० ७०१। २. आदिपुराण, ३८।४५-४६, वर्णोत्पत्तिके लिए देखें—ऋ० सं० १०।९०, ११-१२; शुक्लय० ३१।१०-११। मनुस्मृति १।३; महाभारत शान्तिपर्व अ० १८८।६-१४; अ० १८९।१-७।

आदिके द्वारा आजीविका करनेवाले वैश्य और जो सेवा-शुश्रूषा करते थे, वे शूद्र कहलाये। शूद्र दो प्रकारके हैं—कारु और अकारु। धोबी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु। कारु शूद्र भी स्पृश्य और अस्पृश्यके भेदसे दो प्रकारके हैं। इनमे जो प्रजा—समाजसे बाहर रहते है, उन्हे अस्पृश्य कहते है और समाजके अन्दर रहते है, वे स्पृश्य कहलाते हैं, जैसे नाई, सुवर्णकार इत्यादि।

आदिपुराण द्वारा प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्थाका आधार निम्नलिखित है—

१. श्रुत—शास्त्रज्ञान और तप[1]।

२. जन्मके स्थानपर आजीविका—कर्मकी स्थिरता।

३. वर्गचेतनाका विकसित रूप—विभिन्न वर्गके पारस्परिक सम्बन्धोका निर्वाह।

४. सामाजिक स्थितिका निर्धारण (to ditermine the Social status)

५. व्यवहारोपर नियन्त्रण (To control behaviours)

६. सामाजिक सुरक्षा प्रदत्ति (To provide Social Security)

७. मानसिक सुरक्षा (To provide Psychic Security)

इस जाति या वर्ण-व्यवस्था द्वारा जिनसेनने निम्नलिखित कार्योको सम्पादित किया है। समाजशास्त्रकी दृष्टिसे उनको मान्यताका निम्नप्रकार मूल्याङ्कन किया जा सकता है—

१. धार्मिक भावनाओकी सुरक्षा—जाति या वर्णव्यवस्थाके कारण धार्मिक चेतना वर्गविशेषमे केन्द्रित रहती है।

२. संस्कृतिकी रक्षा—वर्गविशेषमे कला, शिल्प एवं अन्य सांस्कृतिक उपकरणोका विकास सरलतापूर्वक होता है।

३. सामाजिक सुदृढता—सीमित वर्गमे अधिक संगठन पाया जाता है।

४. समाजके विकास और संरक्षणमें सहायता—जातिव्यवस्था द्वारा सामाजिक संरक्षण होता है।

५. राजनैतिक स्थिरता—आजीविका पर आधृत जाति-व्यवस्था राजनीतिको स्थिरता प्रदान करती है, समूहविशेषकी संगठनात्मक प्रवृत्तिके द्वारा राज्यव्यवस्थामे साहाय्य उपलब्ध होता है। राज्यसंगठन इसी प्रवृत्तिसे सबल होते हैं तथा सम्प्रभुता प्राप्त शक्तिके विकासका आधार भी जातिव्यवस्था ही है। आदिपुराणके रचयिता जिनसेन धार्मिक नेता होनेके साथ एक समाजशास्त्रीय विद्वान्

१. तपः श्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते।—आदि० ३८।४७।

भी थे। यही कारण है कि जिनसेनकी जातिव्यवस्था उत्तरकालीन चरणानुयोग और प्रथमानुयोग ग्रन्थोमे भी पायी जाती है। यद्यपि जिनसेनने आजीविकाके आधारपर जातिव्यवस्था प्रतिपादित की थी, पर आगे चलकर इसने जन्मना वर्णव्यवस्थाका रूप ग्रहण कर लिया। जातिव्यवस्थाका जैनधर्मके कर्मसिद्धान्तके साथ मेल नहीं बैठता है, पर समाजव्यवस्थाके लिए इसकी उपयोगिता है। इस व्यवस्थामे भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक कारणोकी अन्तर्क्रियाएँ प्रतिफलित है। स्टेलरने अपनी पुस्तक 'ड्रेविडियन इन इण्डियन कलचर' मे लिखा है कि जातिव्यवस्था दक्षिण भारतमें अधिक शक्तिशाली है, इससे स्पष्ट है कि आर्योंके आनेके पूर्व द्रविडोमे जातिव्यवस्था थी। यह जातिव्यवस्था भिन्न-भिन्न उद्योगोके कारण आरम्भ हुई।[1] इस कथनकी तुलना आदिपुराणकी वर्णव्यवस्थाके साथ करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिनसेनने द्राविडियन परम्पराका अनुसरणकर जातिव्यवस्थाका प्रतिपादन किया है।

६. श्रमविभाजनकी व्यवस्था—आर्थिक जीवनके विकासके लिए श्रमविभाजन परमावश्यक है। उद्योग-धन्धोका विकास भी श्रमचातुर्यसे ही होता है।

७. शिक्षा-व्यवस्था—जाति या धर्मविशेषके आधारपर शिक्षादानमे प्रगति देखी जाती है। किसी जातिविशेषके व्यक्ति अपनी जातिके सुधार या कल्याणार्थ शिक्षा-संस्थाओंकी स्थापना करते है।

८. विवाह-सम्बन्धकी व्यवस्था—जाति-व्यवस्थाने विवाह-सम्बन्धोंके सम्पादनमे सौकर्य प्रदान किया है। वर्गविशेषके बीचमे सहयोग, संघर्ष, स्पर्द्धा आदि के अवसर अधिक प्राप्त होते है। अत. विवाह या अन्य प्रकारके सम्बन्ध—निर्वाह जाति-व्यवस्थाके कारण सरल होते हैं।

९ रक्तकी शुद्धता—जाति-व्यवस्था रक्तशुद्धिका कारण मानी गयी है।

संक्षेपमे आदिपुराण द्वारा प्रतिपादित जाति धार्मिक और सामाजिक संस्थाके रूपमे है। इसने दीक्षा, व्रत एवं आत्मोत्थानके लिए सीमाएँ निर्धारित की तो सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाके लिए भी प्रयास किया। इस मान्यतासे धनिक, शिक्षित, दरिद्र, मूर्ख आदि समस्त सदस्योंको समान सामाजिक वातावरण उपलब्ध होता है।

आदिपुराणके ४३ वें पर्वसे अन्ततक—४७ वें पर्व तथा उत्तरपुराणके रच-

---

१. डा० राजेश्वरी प्रसाद अर्गल . समाजशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, हॉस्पिटल रोड, आगरा, सन् १९५३ ई० पृ० २१०।११। विशेष जाननेके लिए—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। भगवद्गीता ४।१३, जात्या कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च। धर्मेण च यथोक्तेन ब्राह्मणत्व विधीयते।—अग्निपुराण।

यिता गुणभद्रने उक्त जाति-व्यवस्थामें संशोधन स्वीकार किया है।[1] उन्होंने बताया है कि जिस प्रकार गौ और अश्वमे वर्णभेद और आकृतिभेद देखा जाता है, उस प्रकार ब्राह्मण आदि चार वर्णके मनुष्योमे वर्णभेद और आकृतिभेद नही देखा जाता है। इतना होनेपर भी उन्होने मोक्षमार्गकी दृष्टिसे जाति और गोत्रको महत्व दिया है। उत्तरकालमे जैन साहित्यमे उपस्कारशुद्धि, आचारशुद्धि और शरीरशुद्धि होनेपर शूद्र भी ब्राह्मणादिके समान धर्म धारण करनेका अधिकारी माना गया है।[2] इसप्रकार शूद्र वर्णको भी धर्म-साधनका अधिकारी बताया है। आचार्य सोमदेवने धर्मके दो भेदकर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियोका सम्बन्ध लौकिक धर्म—समाजके साथ स्थापित किया है; और मोक्षमार्ग (पारलौकिक धर्म) के साथ जातिवादका कोई भी सम्बन्ध नहीं माना है।[3]

आदिपुराणमे वर्णव्यवस्थाके आधारभूत तत्त्वोका बहुत ही सुन्दर चित्रण आया है। बताया है कि दुःखी प्रजाकी रक्षा करना क्षत्रियोका धर्म है।[4] क्षत्रिय धर्मके पाँच भेद माने गये हैं[5]—

१. कुलपालन[6]—कुलाम्नायकी रक्षा करना और कुलके योग्य आचरण करना।

२. बुद्धिपालन[7]—तत्त्वज्ञानके अनुसार प्रवृत्ति करना, और विवेकबुद्धि धारण करना।

---

१. नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणा गवाश्ववत्। आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ अच्छेद्यो मुक्तियोग्याया. विदेहे जातिसन्ततेः। तद्धेतुर्नामगोत्राढ्यजीवाविच्छिन्नसम्भवात् ॥ शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसन्ततिः। ॥ —उत्तर पुराण–७४।४९२–४९५ कोई जाति गहित नहीं, गुण कल्याणके कारण हैं। चण्डाल भी व्रती बन सकता है, वह व्रती होने पर ब्राह्मणके समान होता है।—पद्मपुराण ११।२०२। विद्याक्रियाचारुगुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः। ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्त तं ब्राह्मण ब्रह्मविदो वदन्ति ॥ व्यासो वसिष्ठः कमठश्च कण्ठः शक्त्युद्गमौ द्रोणपराशरौ च। आचारवन्तस्तपसाभियुक्ता ब्रह्मत्वमापुः प्रतिसम्पदाभि· ॥—वराङ्गचरित, बम्बई, २५।४४–४५ जो विद्या, क्रिया और गुणोंसे हीन है, वह जाति मात्रसे ब्राह्मण नहीं हो सकता, किन्तु जो ज्ञान और शील गुणोंसे युक्त है, उसे ही ब्रह्मके जानकार पुरुष ब्राह्मण कहते हैं। व्यास, वसिष्ठ, कमठ, कण्ठ, शक्ति, उद्गम, द्रोण और पाराशर तपरूपी शक्तिसे युक्त होकर ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए। २ शूद्रोऽप्युपस्काराचारवपु शुद्ध्यास्तु तादृश.। जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥–सागार० २।२२। ३. यशस्तिलक चम्पू आश्वास ८, पृ० ३७३। ४. क्षतत्राणे नियुक्ताः स्थ यूयमाद्येन वेधसा ॥ आदि० ४२।२। ५. तत्त्राणे नियुक्तानां वृत्तं वः पञ्चधोदितम्। तच्चेदं कुलमत्यात्मप्रजानामनुपालनम्। समञ्जसत्वं चेत्येवमुद्दिष्टं पञ्चभेदभाक् ॥—वही ४२।३-४। ६. वही, ४२।५-६ : १०-११। ७. वही ४२।३१–११२।

३. आत्मरक्षा[1]—रक्षणमे उद्यत व्यक्ति ही स्वरक्षा करता है।

४. प्रजारक्षा[2]—प्रजाकी रक्षा करनेवाला ही क्षत्रिय कहलाता है।

५. समञ्जसत्व[3]—दुष्ट पुरुषोंका निग्रह और शिष्ट पुरुषोका पालन करना। पक्षपात रहित हो प्रजाका रक्षण करना।

भरतचक्रवर्तीने क्षात्रधर्मका उपदेश देते हुए बताया कि प्रजाके लिए न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही क्षत्रियोका योग्य आचरण है। धर्मका उल्लंघन न कर धन कमाना, रक्षा करना, बढाना और योग्य पात्रको दान देना ही क्षत्रियोंका न्याय है।[4] क्षत्रियपदकी प्राप्ति रत्नत्रयके प्रतापमे होती है। क्षत्रियवर्णके व्यक्तियोको अपने वंशकी शुद्धिके हेतु स्वधर्ममें रत रहना चाहिए, अन्य धर्मावलम्बियोके शेपाक्षत भी नही ग्रहण करने चाहिए।

भरतके क्षात्रधर्मका सार यह है कि क्षत्रिय समस्त वर्णोंमे उत्तम और उन्नत वर्ण है। वह रत्नत्रयके सद्भावके कारण सर्वोत्कृष्ट धर्माधिकारी है। ब्राह्मण आदि वर्ण वाले व्यक्ति सम्यग्दर्शन धारण कर क्षत्रियधर्ममें दीक्षित हो सकते हैं। रत्नत्रयधारी मुनिराज भी क्षत्रिय माने जा सकते हैं।

जिनसेनने आदिपुराणमे तप और शास्त्रज्ञानको ब्राह्मण वर्णका कारण माना है।[5] जो इन दोनोसे रहित है, वह केवल जातिब्राह्मण कहलाता है।[6] वस्तुतः व्रतसंस्कारोसे ही ब्राह्मण कहा जाता है, व्रतसंस्कारहीन नाममात्रका ब्राह्मण हो सकता है, गुणकी अपेक्षासे नही। जातिनामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्यजाति एक ही है, पर आजीविकाके भेदसे होनेवाले भेदके कारण जाति चार प्रकारकी होती है।[7] व्रतसंस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्रधारणसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धनार्जनसे वैश्य और सेवावृत्ति अथवा नीचवृत्तिका आश्रय लेनेसे शूद्र कहलाता है।[8]

आदिपुराणमें वर्ण-व्यवस्थाको सुदृढ करनेके लिए वर्णानुसार आजीविकाका विधान किया है।[9] तथा जो व्यक्ति अपने वर्णकी आजीविका छोडकर अन्य वर्ण की आजीविका करने लगता है, वह दण्डनीय माना गया है।[10]

आचार्य जिनसेनने वर्ण-व्यवस्थाके लिए विवाह सम्बन्धी नियमोका पालन आवश्यक माना है।[11] विवाह स्ववर्णमें करनेसे वर्ण-व्यवस्था सुदृढ रहती है। वर्णसंकर[12]को आदिपुराणमें दूषित बतलाया गया है। अतएव यह स्पष्ट है कि जिनसेन समन्वयवादी है। उन्होने जन्मसे वर्णव्यवस्था मानते हुए भी व्रताचरणकी अपेक्षा उसकी दृढतापर प्रकाश डाला है। तप और ज्ञान ब्राह्मणोके लिए जिस प्रकार

---

१. आदि०, ४२।१९३–१९७। २. वही, ४२।१९३–१९८। ३. वही, ४२।१९९–२०४। ४. वही, ४२।१३–१४। ५–६. वही, ३८।४३। ७ वही, ३८।४५। ८. वही ३८।४६-४७। ९. वही १६।१८७। १०. वही, १६।२४८। ११. वही, १६।२४७। १२. वही, ४।६७।

आवश्यक है, उसी प्रकार रत्नत्रयकी आस्थाके साथ प्रजाका संरक्षण करना क्षत्रियोके लिए आवश्यक माना है।

आदिपुराणके अनुसार जाति और वर्णमे अन्तर माना गया है। एक ही वर्ण के अन्तर्गत कई जातियाँ-उपजातियाँ पायी जाती है! अतः वर्ण व्याप्य है और जाति व्यापक।[1] यो तो सामान्यतः आदिपुराणमे वर्ण और जाति एकार्थमे प्रयुक्त हैं, पर समाजशास्त्रकी दृष्टिसे वर्णका आधार आजीविका है और जातिका आधार विवाह आदि सामान्य मान्यताएँ है। आदिपुराणमे चार वर्ण मानकर उन्हीको जातिरूपमें प्रतिपादित किया है। इस ग्रन्थमे पिताकी वंशशुद्धिको कुल और माताकी अन्वयशुद्धिको जाति कहा है।

आदिपुराणमें प्रतिपादित जातियाँ

आदिपुराणमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णो या जातियोका निर्देश प्रमुखरूपसे आया है, पर कुछ उपजातियोके नाम भी आये है, जो पेशेके आधारपर गठित की गयी प्रतीत होती है। ये सभी जातियाँ कर्मके आधारपर स्व-स्व कार्यमें रत दिखलायी पड़ती है।

कुलाल (आदि० ३।४, २५।१२६)

कुलाल या कुम्भकारके नामसे इस जातिका उल्लेख आदिपुराणमे एक दूसरे प्रसंगमें भी आया है। कुलाल समाजका उपयोगी अंग था, जिन दिनों धातुओंके वर्तनोंकी वहुलता नही थी, उन दिनों मिट्टीके वर्तनोका उपयोग बहुत होता था। कुम्भकार चाकद्वारा वर्तनोका निर्माण करता था, अत जहाँ परिभ्रमण सम्बन्धी तथ्य उपस्थित किये जाते है, वहाँ कुम्भकारके चक्रका उदाहरण दिया जाता है।

कुविन्द (आदि० ४।२६)

जुलाहेका महत्त्व कुलालके तुल्य ही था। मनुष्यकी प्रधान तीन आवश्यकताओंमेंसे वस्त्रकी आवश्यकताकी पूर्ति जुलाहे द्वारा ही होती थी। जिनसेनने सामाजिक दृष्टिसे कुविन्दका महत्त्व स्वीकार किया और कर्त्तृत्वके रूपमे उसका उदाहरण प्रस्तुतकर कुविन्दकी उपयोगिता व्यक्त की है। इसका दूसरा नाम शालिक भी आया है।[2]

नैगम (आदि० १६।२४७)

नैगमका प्रयोग वैश्य जातिके अर्थमे किया गया है। इसका वास्तविक अर्थ व्यापारी है, जो विलास-वैभव सम्बन्धी वस्तुओंका विक्रेता होता है, उसे नैगम कहा जाता है।

---

१. आदिपुराणकी हस्तालिखित प्रति, १६।१८६, पृ० ३६२ पर उद्धृत। २. क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृपिशिल्पभेदात्।--वराङ्गचरित, २५।११।

रजक (आदि० १६।१८५)

उपयोगिता और सेवाकी दृष्टिसे रजकका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। रजककी गणना आदिपुराणमें कारु शूद्रके अन्तर्गत की गयी है। रजक वस्त्र धोनेका कार्य करता था।

नापित (आदि० प्रथम खण्ड, पृ० ३६२ के टिप्पणमें हस्त लि०)

नापितकी गणना कारु स्पृश्य शूद्रको कोटिमें की गयी है। इसकी उपयोगिता प्राचीन भारतमें अत्यधिक थी। नाई बाल बनाने, स्नान कराने एवं अलंकृत करनेका कार्य करता था।

मालिक (आदि० प्र० पृ० २६२)

मालाकारका उल्लेख प्रत्येक माङ्गलिक अवसरपर आता है। पुष्पमालाएँ गूंथकर लाना एवं विविध प्रकारके पुष्पोंका विक्रय करना इसका प्रधान कार्य था।

तक्षक (आदि० प्र० पृ० ३६२)

लकडीके कार्योंका सम्पादन करना तक्षक या बढ़ईका कार्य था। आदिपुराणमें कृपकोंके लिए काष्ठ सम्बन्धी उपयोगी वस्तुओंका निर्माण तक्षक द्वारा किये जानेका कथन आया है।

अयस्कार (आदि प्र० पृ० ३६२)

लौहके अस्त्र-शस्त्र एवं गृहोपयोगी वस्तुओंका निर्माण अयस्कार या लौहकारका काम था। इसकी गणना कारु स्पृश्य शूद्रके अन्तर्गत की गयी है।

स्वर्णकार (आदि० प्र० पृ० ३६२)

जिस प्रकार लुहार गृहोपयोगी वस्तुओका निर्माण कर समाजकी सेवा करता था, उसी प्रकार सुनार आभूपणोका निर्माण कर शृंगारकी वस्तुएँ तैयार करता था।

घोष (आदि० १६।१७६)

ग्वालोके गाँव या वसतियाँ जिनसेनके समयमे विशेपरूपसे वर्तमान थी। आदिपुराणमें घोप जातिका गोपालकके रूपमे भी वर्णन आया है।

गोपालक या गोपाल (आदि० ४२।१३९; ४२।१३८; ४२।१४६; ४२।१५०–१७५)।

आदिपुराणके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि घोप अहीरका पर्याय अवश्य है, पर गोपालक या गोपाल गायोका विशेषरूपसे नियन्त्रक बताया गया है। गोपालके कार्यों और योग्यताका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

१. सावधान होकर गोपालन करना।
२. गायोके निग्रहानुग्रहकी व्यवस्था।
३. गोरक्षामे प्रवृत्ति।
४ गायोके रोगोका विशेष परिज्ञान।
५. गायके पैर आदिके टूटनेपर अस्थिवन्धनकी व्यवस्थाका परिज्ञान।
६. पशु-रोगोंकी जानकारी।
७. पशु-व्यवस्था सम्बन्धी अतिनिपुणता।
८. पशुओको स्वस्थ रखनेके लिए नस्य आदिका परिज्ञान।
९. पशुओके सन्तान-पालनका विशेषज्ञान।

गन्धर्व (आदि० १३।११७)

संगीत और नृत्यकलामे प्रवीण गन्धर्व जाति मानी गयी है। गन्धर्वोका कार्य गायन-वादन करना था। ये उत्सवोमे सम्मिलित होकर संगीत द्वारा राजा-महाराजो और सेठ साहूकारोका मनोरंजन करते थे।

लुब्धक (आदि० १५।१६१)

आदिपुराणमें म्लेच्छ जातिके भेदोमे लुब्धक जातिको गिनाया है। यह जाति चीडीमारोंकी ही थी। लुब्धक पक्षियोको पकडने और उनका शिकार करनेका कार्य करते थे। वस्तुतः इन्हे बहेलिया कहा जा सकता है।

आरण्य (आदि० १६।१६१)

यह जंगली जातिका एक उपभेद है। इनका कार्य शिकार करना; जंगली जड़ी-बूटियोको एकत्र करना, उन्हे नगरोमे वेचना आदि था। आरण्य जाति धनुर्धर एवं वीर जाति है। इस जातिका सामना वड़े-वडे योद्धा भी कठिनाईसे कर पाते थे।

चरट (आदि० १६।१६१)

यह भी म्लेच्छ जातिका एक उपभेद है, इस जातिके व्यक्ति जंगलोमे निवास करते थे। इस जातिको अरण्यचर भी कहा गया है।

पुलिन्द (आदि० १६।१६१)

असभ्य और जंगली जातिको पुलिन्द कहा गया है। इस जातिके व्यक्ति बर्वर होते थे। रघुवंश महाकाव्यमे[1] भी इस जातिका उल्लेख आया है।

शवर (आदि० १६।१६१)

दक्षिण भारतकी एक पहाड़ी और असभ्य जातिको शवर कहा है। पहाड़ी जातिका ही यह एक उपभेद है। धनुपवाण चलानेमे शवर प्रवीण होते थे।

---

१. रघुवंश महाकाव्य १६।१९, ३२।

मृगयु (आदि० ११।२०२)

शिकारी जातिके लिए 'मृगयु' पद आया है। शिकारियोंके गिरोह वनोंमें पशु-पक्षियोके शिकार करनेके हेतु विचरण करते थे। जो पशुओंका शिकार करते थे; उन्हीको 'मृगयु' शब्द द्वारा अभिहित किया गया है।

शिकारी (आदि० ५।१२८)

सामान्य शिकारी जातिको उक्त अभिधान द्वारा अभिहित किया गया है। वस्तुतः जंगली शिकारी जातिको वीरताकी दृष्टिसे अत्यन्त गौरव प्राप्त था।

अक्षरम्लेच्छ (आदि० ४२।१७; ४२।१७९-१८३)

अक्षरम्लेच्छ वस्तुत. ऐसे दुराचारी ब्रह्मणोको·कहा गया है, जो हिंसक क्रिया-काण्ड द्वारा आजीविका सम्पन्न करते थे, जिनको ज्ञानका अहंभाव रहता था और जो पापाचरण द्वारा आजीविका अर्जित करते थे, वे अक्षरम्लेच्छ कहे गये है। आदि-पुराणके समयमे अक्षरम्लेच्छोका अवश्य अस्तित्व रहा है। अक्षरम्लेच्छ द्विजातिका ही एक उपभेद माना गया है। स्वेच्छाचरिताके कारण विद्या वेचना अक्षरम्लेच्छ-का विशेष कार्य वताया गया है।

कर्मचाण्डाल (आदि० ३९।१३५)

जिनसेनने उच्चकुल और जातिमे उत्पन्न होने पर भी हिंसा, चोरी, दुरा-चार जैसे पापोको करनेवाले व्यक्तियोको कर्मचाण्डाल कहा है। जो पशुहिंसामें प्रवृत्त हैं, वे राक्षसोसे भी अधिक निर्दयी माने जाते है। इस प्रकारके व्यक्तियो-को चाण्डालके कार्योको सम्पादित करनेके कारण कर्मचाण्डाल कहा गया है।

दिव्या जाति (आदि० ३९।१६८)

दिव्या जातिसे ग्रन्थकारका यह अभिप्राय है कि ऐश्वर्य, वैभव आदिसे युक्त, विशिष्ट पुण्यात्मा, तीर्थकरोके जन्मकल्याणक आदि उत्सवोमे सम्मिलित होनेवाले अथवा इन उत्सवोको स्वयं सम्पन्न करनेवाले इन्द्रादिकी दिव्या जाति होती है। समाजशास्त्रकी दृष्टिसे दिव्या जाति उन विशिष्ट व्यक्तियोकी मानी जायगी, जो धार्मिक उत्सवोको सम्पन्न करते है अथवा धार्मिक उत्सवोमें सम्मिलित होकर धर्मकी प्रभावना करते है।

परमा जाति (आदि० ३९।१६८)

जिन्होने तपश्चरण और ज्ञानाराधना द्वारा अपने विकारोको नष्ट कर आत्म-ज्योति प्राप्त कर ली है, ऐसे अर्हन्तोंकी परमा जाति होती है।

सज्जाति (आदि० ३८।६७)

कर्त्रन्वयक्रियाका एक भेद माना गया है। शभ कृत्य करनेसे सज्जाति पदकी

प्राप्ति होती है। जिस व्यक्तिके यहाँ गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाओं का सम्पादन किया जाता है, वह सज्जातिको प्राप्त हो जाता है। सुसंस्कृत जीवन का यापन ही सज्जातिका हेतु माना गया है।

इस प्रकार आदिपुराणमें जाति-संस्थाका वर्णन आया है। मागध (आदि० २९।३९; २८।१२२) जातिका भी निर्देश किया है। हमारी दृष्टिसे यह जाति पूर्व दिशामें निवास करती थी। भरत चक्रवर्तीने जिस मागधदेवको अधीन किया था, वह पूर्वदेशका निवासी कोई राजा ही था। सम्भवत. यह राजा मगध देशका रहा होगा। संस्कृत-वाङ्मयमे मगध निवासियोको मागध कहा गया है। रघुवंशमें सुदक्षिणका उल्लेख मागधीके नामसे आया है। एक मागध जाति यशोगायकोंकी रही है, जो राजसभाओंमे जाकर राजाओका गुणगान करते थे। आदिपुराण (२९।३९) में उक्त अर्थमे मागधका प्रयोग आया है।

इसके अतिरिक्त क्षत्रियोंके भेद भी जनपदके अनुसार किये हैं। जातिव्यवस्था-का प्रधान लक्ष्य कुल और वंशकी शुद्धि ही था। सदस्य अपने वर्गमे ही भोजन-पान, विवाह सम्बन्ध-आदिका सम्पादन करते थे। जातिकी सदस्यता जन्मसे ही प्राप्त होती है, कर्मके बलसे मध्य-जीवनमे जाति परिवर्तित नही की जा सकती है।

५. आश्रम-संस्था

जीवनके मर्मको अवगत करनेके लिए आश्रम-संस्थाकी व्यवस्था बतलायी गयी है। जीवन-विकासकी चार सीढ़ियाँ ही आश्रमके रूपमे अभिप्रेत हैं। जिन-सेनने मनुस्मृतिसे प्रभाव ग्रहणकर आश्रम-संस्थाका विवेचन किया है, पर यह व्यवस्था वैदिक ग्रन्थोंकी व्यवस्थाकी अपेक्षा भिन्न है। यो तो जिनसेनने वैदिक मान्यता द्वारा ग्रहीत आश्रमोंका निराकरण किया है, पर प्रकारान्तरसे उन्होंने उत्तरोत्तर विशुद्धिके लिए आश्रमोंको आवश्यक माना है। जिनसेनने बताया है—

चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादर्हते मते।
चातुराश्रम्यमन्येषां अविचारितसुन्दरम् ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानां उत्तरोत्तरशुद्धित. ॥—आदि० ३९।१५१–१५२

चारों आश्रमोंकी शुद्धता भी अर्हन्तदेवके मतमे मान्य है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये चार आश्रम—जीवनके विरामस्थल उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि प्राप्त होनेसे प्रतिपादित किये गये हैं।

प्रथम ब्रह्मचर्य नामका आश्रम है, इस आश्रममे मुख्यत: ज्ञानकी उपासना की जाती है। आदिपुराणमें उपनीति क्रियाका विवेचन करते समय इस आश्रम-का आचार-व्यवहार बतलाया गया है। आठ वर्षकी अवस्था होनेपर बालकको

जिनालयमे ले जाकर अर्हन्तदेवकी पूजा, भक्ति सम्पन्न कराके व्रत देना-चाहिए। अनन्तर मौजीवन्धनके पश्चात् श्वेत धोती और दुपट्टाधारी, अविकारी वेशवाला वह बालक व्रतचिन्हसे विभूपित होकर ब्रह्मचारी कहलाता है। इस अवस्थामें उसकी चोटी भी रहती है। व्रतचिन्होमे सात लरका यज्ञोपवीत प्रधानरूपसे रहता है। इस समय इस ब्रह्मचारीका चारित्रोचित अन्य नाम भी रखा जा सकता है। ब्रह्मचारी भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करता है। भिक्षामे जो कुछ प्राप्त हो, उसका कुछ हिस्सा देवको अर्पण कर शेप बचे हुए योग्य अन्नका स्वयं भोजन करता है। सिरके बालोका मुण्डन कराना भी आवश्यक है, इससे मन, वचन और काय पवित्र रहते है।[1]

यज्ञोपवीतको ब्रह्मसूत्र और रत्नत्रयसूत्र भी कहा गया है। जिनसेनने तीन लरके यज्ञोपवीतका विधान गृहस्थके लिए किया है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका प्रतीक हैं। यज्ञोपवीतको श्रावकसूत्र भी कहा जाता हैं। ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत द्वारा अपने व्रतोंका सदैव स्मरण रखता है।[2]

विद्याध्ययन करते समय ब्रह्मचारीको वृक्षकी दाँतोन करना, ताम्बूल सेवन करना, अञ्जन लगाना, हल्दी या उवटन लगाकर स्नान करना, पलंगपर शयन करना, दूसरेके शरीरसे अपने शरीरको रगडना आदि कार्योका त्याग करना चाहिए। प्रतिदिन स्नान करना, शरीर शुद्ध रखना एवं पृथ्वीपर शयन करना आवश्यक है। जवतक विद्या समाप्त न हो जाय तवतक व्रत धारण करना और उत्तम संस्कारोसे युक्त अपनेको बनाना आवश्यक कर्त्तव्य है। ब्रह्मचर्य, संयम एवं व्रताचरण भी विधेय कर्त्तव्योमें परिगणित है।[3]

विद्यारम्भ करते समय सर्वप्रथम ब्रह्मचारीको गुरुमुखसे श्रावकाचारका अध्ययन करना और तदनन्तर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढना आवश्यक है। आचार और अध्यात्मशास्त्रका ज्ञान प्राप्त होनेपर विद्वत्ता और पाण्डित्यकी प्राप्तिके लिए व्याकरणशास्त्र, अर्थशास्त्र, ज्योतिपशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र, और गणितशास्त्र आदि विपय और शास्त्रोका अध्ययन करना चाहिए।[4] ब्रह्मचर्य

---

१ आदिपुराण ३८।१०४-११२। २. वही ३९।९४-९५। ३. दन्तकाष्ठग्रहो नास्य न ताम्बूल न चाञ्जनम्। न हरिद्रादिभि; स्नानं शुद्धस्नानं दिने दिने॥ न खट्वाशयनं तस्य नान्यदङ्गपरिघट्टनम्। भूमौ केवलमेकाकी शयीत व्रतशुद्धये॥ यावद् विद्यासमाप्तिः स्याद् तावदस्येदृश व्रतम्। ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत् स्याद् तन्मूल गृहमेधिनाम्॥—वही ३८।११५-११७।

४. सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयम् गुरोर्मुखात्। विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम्॥ शब्दविद्यार्थशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दुष्यति। सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च॥ ज्योतिर्ज्ञानमथच्छन्दोज्ञान ज्ञानं च शाकुनम्। संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येय विशेषत.॥ —आदि० ३८।११७-१२०।

आश्रम विद्यार्जनके लिए नियत हैं। संसारकी समस्त कामनाओ और इच्छाओं-का त्याग कर ज्ञानी बनना और श्रम करनेकी प्रवृत्ति ग्रहण करना इस आश्रमका ध्येय है। ब्रह्मचर्य आश्रममे व्यक्तिको अपने जीवनको इतना शक्तिशाली और एवं महत्वपूर्ण बना लेना चाहिए, जिससे आगे आनेवाला समस्त जीवन सुखमय व्यतीत हो सके।

ब्रह्मचर्याश्रमकी समाप्तिके अनन्तर अध्ययनके समय ग्रहण किये गये व्रतोका त्याग हो जाता है, पर जीवनके लिए उपादेय व्रत बने रहते है। बताया है—

मधुमांसपरित्यागपञ्चोदुम्बरवर्जनम्।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम्॥ आदि० ३८।१२२

मधुत्याग, मांसत्याग, पञ्च उदुम्बर फलोंका त्याग और हिंसादि पाँच स्थूल पापोंका त्याग जीवन पर्यन्तके लिए कर देना चाहिए।

ब्रह्मचर्य आश्रमके अनन्तर गृहस्थाश्रममे प्रवेश किया जाता है। जिन माल्या-म्बर, आभूषण, पुष्प, ताम्बूल आदि पदार्थोंके सेवनका त्याग किया गया था, उन पदार्थोंको अब गुरुकी आज्ञापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है।[1] विवाह हो जाने पर गृहस्थ अतिथिसत्कार, दान, पूजा, परोपकार आदि कार्योंको उत्साहपूर्वक सम्पन्न करता है। गृहस्थाश्रमको समाज-सेवाका साधन माना गया है। लौकिक दृष्टिसे इसी आश्रमपर अन्य तीनों आश्रमोंका अस्तित्व निर्भर करता है। मुनि क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका, प्रभृति त्यागीवर्ग श्रावकोंके ही ऊपर अवलम्बित है। श्रावकको अपना आचार-व्यवहार इतना परिष्कृत कर लेना पडता है कि वह समय आनेपर सन्यासी बन सके। गृहस्थाश्रममे इन्द्रियलोलुपताको कोई भी स्थान प्राप्त नही है। यहाँ भी इन्द्रियसंयमकी आवश्यकता है। अतएव जिस प्रकार रोगी औषधिका सेवन करता है, उसी प्रकार गृहस्थ रिरंसा प्रतीकारके लिये सांसारिक भोगोका सेवन करता है।

वानप्रस्थ आश्रम नैष्ठिक श्रावकका साधकवाला रूप है, जिसमे घर छोड़कर क्षुल्लक और ऐलक व्रतो द्वारा अपनी आत्माकी शुद्धि की जाती है। देशसंयमकी प्राप्ति हो जानेसे प्रवुद्ध वानप्रस्थ अपनी आत्म-साधनामे संलग्न रहता है।

चतुर्थ आश्रम भिक्षुकसंज्ञक है। इसमे मुनिदीक्षा सम्पन्न होती है और सांसा-

---

१. कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम्। वस्त्राभरणमाल्यादि ग्रहणं गुर्वनुज्ञया॥ शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद् धारयेच्छस्त्रमप्यदः। स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः॥ ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानाद् इष्टा वैवाहिकी क्रिया। वैवाहिके कुले कन्यां उचिता परिणेष्यतः॥--आदि० ३८।१२४, १२५, १२७।

रिक वन्धनोके साथ कर्मवन्धनको तोड़नेके लिए पूर्ण संयमका पालन किया जाता है। इस संस्थाका निम्न प्रकार समाज-शास्त्रीय महत्त्व है:—

१. सामाजिक अर्हाओ और नैतिकताओंकी प्रतिष्ठा

२. समाज-नियन्त्रण—वैयक्तिक कर्त्तव्य और दायित्वकी भावनासे ही समाज नियंत्रित होता है।

३. भौगोलिक और सांस्कृतिक वातावरणकी प्रतिष्ठा

४ प्रेम और सौहार्दका प्रसारण

विवाह-संस्था

जव तक मनुष्य धर्म नही पालता, तव तक वह अधूरा है। विवाह करना भी धर्म है, क्योकि विना विवाह किये धार्मिक कार्य सम्पादित नही किये जा सकते है। मनुष्य पूर्ण तभी माना जाता है, जव उसे पत्नी और सन्तानकी प्राप्ति होती है। वास्तवमे परिवारका संचालन विवाह-संस्थाके विना सम्भव नही है[1]। समाज-शास्त्रकी दृष्टिसे विवाहके निम्नलिखित उद्देश्य है—

१. धार्मिक कर्त्तव्योंका पालन।

२. सन्तान-प्राप्ति।

३. परिवारके प्रति दायित्व और कर्त्तव्योका निर्वाह।

४. समाजके प्रति कर्त्तव्य और दायित्वोंका पालन।

१. व्यक्तित्वका विकास।

६. गृहस्थधर्मकी आहारदानादि क्रियाओंका निर्वाह।

७ स्त्री-पुरुषके यौन सम्वन्धका नियन्त्रण और वैधीकरण।

विवाह चिरमर्यादित समाजसंस्था है। जीवनमे धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थोका सेवन विवाह-संस्थाके विना असंभव है। गृहस्थजीवनका वास्तविक उद्देश्य दान देना, देवपूजा करना एवं मुनिधर्मके संचालनमे सहयोग देना है। साधु-मुनियोको दान देनेकी क्रिया गृहस्थ-जीवनके विना सम्पन्न नही हो सकती है। स्त्रीके विना पुरुष और पुरुषके विना अकेली स्त्री दानादि क्रिया सम्पादित करनेमें असमर्थ है। अत चतुर्विध संघके संरक्षणकी दृष्टिसे और कुलपरम्पराका निर्वाह करनेकी दृष्टिसे विवाह-संस्थाकी परम आवश्यकता है।

शास्त्रकारोने विवाहकी परिभाषा वतलाते हुए लिखा है—"सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते"[2]। अर्थात् सातावेद-

---

१. आदिपुराण १५।६३-६४। २. तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका, अ० ७, सूत्र २८, वार्तिक १

नीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे विवहन—कन्यावरण करना विवाह कहा जाता है। अग्नि, देव और द्विजकी साक्षीपूर्वक पाणिग्रहण क्रियाका सम्पन्न होना विवाह है[1]।

आदिपुराणमे विवाहकी आवश्यकताका विवेचन करते हुए बताया गया है कि विवाह न करनेसे सन्ततिका उच्छेद हो जाता है और सन्ततिका उच्छेद होनेसे धर्मका उच्छेद होता है[2]। विवाह गृहस्थोंका धर्मकार्य है, सन्ततिसंरक्षण और परिवारसंवर्द्धनके लिए विवाह आवश्यक धर्मकर्त्तव्य है।

विवाहमे निर्वाचन प्रश्नका भी विचार आदिपुराणमें पाया जाता है। आख्यानोंमे प्रेम-विवाह भी परिलक्षित होते है। वयस्का कन्या वयस्क राजकुमार या अन्य किसी व्यक्तिको देखकर मुग्ध हो जाती है। राजकुमार अथवा अन्य नियोगी व्यक्तिकी ओरसे भी प्रेमव्यापार चलता है; उनमे परस्पर वियोग जन्य अनुराग पूर्णतया वृद्धिगत होता है तथा यह प्रेम अन्तमे विवाहमे परिणत हो जाता है। यो साधारणतः वर या कन्या निर्वाचनके लिए निम्नलिखित गुण आवश्यक माने गये है।[3]

१ वय और रूप-यौवन

२ वैभव

३ शील

४ धर्म

वर-कन्याके समान वय, समान वैभव, समानशील और समान धर्मके होनेपर विवाह प्रशस्त होता है। विवाह उत्सव सहित सम्पन्न किया जाता है।[4] विवाहके अवसरपर दान, सम्मान आदि क्रियाएँ भी सम्पन्न की जाती है। दहेज भी दिया जाता था।[5] योग्य कुलकी कन्याके साथ विवाह किया जाता था। सर्वप्रथम सिद्धपूजा और तीनों अग्नियोकी पूजा सम्पादितकर किसी पवित्र स्थानमे बडी विभूतिके साथ सिद्ध भगवान्‌की प्रतिमाके समक्ष वधू-वरका विवाहोत्सव सम्पन्न करे। वेदीमे स्थापित अग्निकी प्रदक्षिणाएँ देकर वधू-वरको साथ बैठना चाहिए। विवाहकी दीक्षामें नियुक्त हुए वर-वधूको देव और अग्निकी साक्षी पूर्वक सात दिनो तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहिए। अनन्तर अपने योग्य किसी देशमे

---

१. युक्तितो वरणविधानमग्निदेवद्विजसाक्षिक च पाणिग्रहणं विवाहः।—नीतिवाक्यामृत विवाह समुद्देश, सूत्र ३। २. ततः कलत्रमत्रेष्टं परिणेतु मनः कुरु। प्रजासन्ततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदावर॥ प्रजासन्तत्यविच्छेदे तनुते धर्मसन्ततिः। मनुष्व मानवं धर्मं ततो देवेममच्युत॥ देवेयं गृहिणाधर्मं विद्धि दारपरिग्रहम्। सन्तानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम्॥—आदिपुराण १५।६२, ६१, ६४। ३. वही १५।६६ तथा १३४। ४. वही १५।७२, ७६। ५. वही ८।३५-३६

भ्रमण कर अथवा तीर्थभूमिमें विहार कर विभूति सहित वर-वधू घरमें प्रवेश करें। कंकण मोचनके पश्चात् गार्हस्थिक विधियोंको सम्पन्न करना चाहिए[1] विवाहके अवसर पर पूजन, हवन आदि धार्मिक संस्कार भी सम्पन्न किये जाते थे।

आदिपुराणमे वर्णित विधिसे स्पष्ट है कि विवाह सम्बन्ध केवल लौकिक विधियोसे सम्पादनार्थही नही होता था, बल्कि इस संस्था द्वारा पारमार्थिक जीवन-की भी उन्नति होती है। द्वादशव्रतोके पालन करनेका सुअवसर दाम्पत्य जीवनमें ही प्राप्त होता है। योग्य सन्तानको गृहस्थीका भार सौंप उत्तर जीवनमें मुनिपद धारण करनेका सुअवसर भी विवाह-संस्था ही प्रदान करती है।

आदिपुराणमे अनुलोम विवाह तो स्वीकार किया गया है पर प्रतिलोमको नही। वर्णव्यवस्थाको सुरक्षित रखनेके लिए विवाह सम्बन्धको महत्त्व दिया है। शूद्र शूद्रकन्याके साथ, वैश्य वैश्यकन्या और शूद्रकन्याके साथ, क्षत्रिय क्षत्रियकन्या वैश्यकन्या और शूद्रकन्याके साथ एवं ब्राह्मण चारों वर्णोकी कन्याओके साथ विवाह कर सकता है।[2]

कथाओमे आर्प या धर्मविवाहके ही उदाहरण आये हैं। प्रेमाकर्पणोका भी वर्णन है, किन्तु वे प्रेमाकर्पण अन्तमे धर्मविवाहके रूपमे परिणत हो जाते हैं। गान्धर्वविवाह या अन्य प्रकारके विवाह ग्राह्य नही हैं।

विवाहविधि

आदिपुराणमे विवाह विधिका साङ्गोपाङ्ग वर्णन आता है। विवाह विधिको सम्पन्न करनेका प्रमुख स्थान विवाहमण्डप है। इस मण्डपका निर्माण बहुमूल्य पदार्थों द्वारा किया जाता था। माङ्गलिक द्रव्योके साथ सौन्दर्यवर्धक पदार्थोका भी उपयोग किया जाता था। विवाह-मण्डपके स्तम्भ स्वर्ण-मणि-मुक्ताओंसे खचित होते थे और उनके नीचे रत्नोसे शोभायमान बडे-बडे तलकुम्भ लगे रहते थे। उस मण्डपकी दीवालें स्फटिककी निर्मित रहती थी, जिनमें मनुष्योके प्रतिविम्ब दिखलायी पडते थे। मण्डपकी भूमि नीलरत्नोसे बनायी गयी थी और उसपर पुष्प विकीर्णित थे। मण्डपके भीतर मोतियोकी मालाएँ लटकती थी। मण्डपके मध्यमे वेदी बनायी जाती थी। इस वेदीको अपने-अपने वैभवके अनुरूप पापाण, मृत्तिका या मणियों आदिसे निर्मित करते थे। उस मण्डपके पर्यन्त भागमें चूना से पुते हुए श्वेत शिखर शोभित होते थे। मण्डपके सभी ओर एक छोटीसी वेदिका बनी रहती थी, यह वेदिका कटिसूत्रके समान सुशोभित होती

१. आदि० ३८।१२८-१३२। २. वही १६।२४७।

थी। मण्डपका गोपुरद्वार उन्नत रहता था। गोपुरको अनेक प्रकारसे सजाया जाता था मण्डपका भीतरी द्वार भी सुन्दर और मनोज्ञ बनाया जाता था तथा उसके दोनो ओर मंगलद्रव्य रखे जाते थे।

विवाहके अवसरपर नगरके चारो ओर तोरण लगाये जाते थे, जिससे विवाह-मण्डपका सौन्दर्य कई गुना बढ जाता था। राजभवनके प्रांगणमे विवाहके अवसर पर चन्दन छिड़का जाता था तथा साधारण व्यक्ति भी सुगन्धित पदार्थों-का उपभोग करते थे।

आँगनमे वर-वधूको बैठाया जाता था तथा विधि-विधान जाननेवाले लोग पवित्र जलसे भरे हुए कलशों द्वारा वर-वधूका अभिषेक करते थे। उस समय शंखध्वनि होती थी तथा मंगलवाद्य बजाये जाते थे। अभिषेकके अनन्तर वारांग-नाएँ, कुलवधुएँ और समस्त नगरवासी जन वर-वधूको आशीर्वाद देकर पुष्पा-क्षतोंका क्षेपण करते थे। वर-वधू उज्ज्वल, सूक्ष्म और नवीन रेशमी वस्त्र धारण करते थे। परिधान धारण करनेके अनन्तर उन्हे प्रसाधन-गृहमे लेजाकर पूर्व दिशाकी ओर मुँहकर बैठाया जाता था। विवाह-मंगलके योग्य उत्तम आभूषण धारणकर ललाट पर चन्दन-कुंकुमका तिलक लगाया जाता था; पश्चात् वक्षस्थल-मे श्वेतचन्दनका लेप, गलेमें मुक्तामालाएँ एवं हार धारण किये जाते थे। कुटिल केशोमे पुष्पमालाएँ धारण की जाती थी। कानोमें कर्णाभूषण और मृणालतन्तुके समान घुटनो तक लटकती हुई पुष्पामालाएँ शोभित होती थी। क्षुद्रघण्टिकाएँ जटित करधनी कमरमें सुशोभित होती थी।[1]

कन्याओका शृंगार माताकी देखरेखमे सम्पन्न होता था। श्रीमतीके विवाह-के अवसर पर उसके दोनो चरणोमे मणिमयनूपुर पहनाये गये। उसकी माताने उसे सभी प्रकारसे अलंकृत किया।[2]

शृंगार-प्रसाधनके अनन्तर वर-वधूको अलंकृत वेदी पर बैठाया जाना। इस वेदीपर दीपक प्रज्वलित होते थे और मंगलद्रव्य रखे जाते थे। इस अवसर पर दुन्दुभिवाद्य बजते थे। वाराङ्गनाएँ मधुर मंगलगान गाती थीं। वन्दी एवं मागधजन उत्साहवर्धक मंगल पाठ करते थे। वारागनाएँ नृत्य करती थी।[3]

सर्व प्रथम प्रतिमाके अभिषिक्त जल द्वारा उन्हें पवित्र किया गया और मंगलाक्षत पढ़कर वर-वधूके ऊपर छोडे गये। वर-वधूको सुसंस्कृत पाटो पर बैठाया गया। कन्याके पिताने हाथमे भृंगार लेकर वरके हाथ पर जलधारा

---

१. विवाहविधिकी जानकारीके लिए आदिपुराण ७। २२२–२३३ तथा इसके आगेवाले पद्य। २. वही ७।२३८-३९। ३. वही, ७।२४१-२४४।

छोडी। भृंगारके मुख पर अशोक वृक्षके पल्लव लगाये जाते थे। जलधाराके अनन्तर पाणिग्रहणकी विधि सम्पन्न हुई। गुरुजनोंके साक्षीपूर्वक विवाहविधि सम्पन्न हुई और दर्शकोंने आशीर्वचनोंका उच्चारण किया।[1]

विवाहोत्सवमे जितने व्यक्ति सम्मिलित होते थे, उन सबका दान-मान एवं सम्भाषण द्वारा यथोचित आदर किया जाता था। दासी-दास एवं अन्य व्यक्तियों-को धन, सम्पत्ति दान देकर सन्तुष्ट किया जाता था।[2]

विवाहके दूसरे दिन वर-वधू चैत्यालयकी वन्दना करने जाते थे, इस क्रममें वर आगे और वधू पीछे रहती थी।[3]

चैत्यालयमे वे दोनो विधिपूर्वक दर्शन-वन्दन करते थे। पूजा-समग्री भी साथ में जाती थी। पूजनके पश्चात् वे चैत्यालयकी प्रदक्षिणा देते थे। प्रदक्षिणाके अनन्तर आरम्भ जनित क्रियाओंकी शुद्धिके लिए प्रायश्चित्त करते थे। मुनि-दर्शनके पश्चात् गन्धकुटीमे विराजमान भगवन्‌की प्रतिमाका अभिषेक एवं स्तुति पाठकर वे अपने घर आते थे।[4]

विवाहविधिके सन्दर्भमे हरिद्रा, कुंकुम, चन्दन, अक्षत, पुष्प आदि मांगलिक द्रव्य भी परिगणित किये गये हैं। इन मांगलिक द्रव्योंका व्यवहार प्रत्येक अवसर पर किया जाता था।

विवाहमें जामाताको जो दहेज दिया जाता था, उसे अन्वयिनिक कहा गया है।[5] विवाहके अवसर पर पूजाविधि सम्पन्न की जाती थी तथा विविध प्रकारका दान दिया जाता था।

७ संस्कार-संस्था

संस्कार शब्द धार्मिक क्रियाओंके लिए प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय बाह्य धार्मिक क्रियाओ, अनुशासित अनुष्ठान, व्यर्थ आडम्बर, कोरा कर्मकाण्ड, राज्य-द्वारा निर्दिष्ट प्रचलन, औपचारिकताओं एवं अनुशासित व्यवहारोंसे नहीं है, बल्कि आन्तरिक और आत्मिक सौन्दर्यसे है। संस्कार शब्द व्यक्तिके दैहिक, मान-सिक और बौद्धिक परिष्कारके लिए किये जानेवाले अनुष्ठानोंसे सम्बद्ध है।

आदिपुराणके रचयिता जिनसेन संस्कृति समन्वयवादी है। उनके समयमें सामाजिक विशेषाधिकार वर्णाश्रम और संस्कार सस्थापर ही अवलम्बित था। अतः उन्होने दार्शनिक दृष्टिसे उक्त संस्थाओके निस्सार होने पर भी सामाजिक

१. आदि० ७।२४६-२५०। २. वही, ७।२६८-२७०। ३. वही, ७।२७३-२७८। ४. वही, ७।२७८-२९० ५. वही, ८।३६।

दृष्टिसे उनकी उपादेयता प्रतिपादित की है ।[1] हम यह माननेको कभी तैयार नही है कि उन्होने अपने इस ग्रन्थमे वैदिक संस्कृतिका अन्धानुकरण किया है और जैन-दर्शनकी दृष्टिसे असंगत वर्णाश्रम और संस्कार-संस्थाको महत्त्व दिया है । तथ्य यह है कि उस युगमें संस्कारहीन व्यक्ति शूद्र समझा जाता है तथा जाति और वर्ण भी सामाजिक सम्मानके हेतु थे । अतएव दूरदर्शी समाजशास्त्रवेत्ता जिनसेन-ने जैनधर्मानुयायियोको सामाजिक सम्मान और उचित स्थान प्रदान करनेके लिए वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा संस्कार-व्यवस्थाका प्रतिपादन किया है । वे यह वतलाना चाहते हैं कि जैनधर्ममें भी व्यक्तित्व निर्माण और विकासके लिए ब्राह्मणधर्म के समान ही नही, किन्तु उससे भी अधिक योग्यता वर्तमान है । जिस प्रकार आत्माकी पवित्रताके लिए विकार शोधनकी गुणस्थान प्रणाली मान्य है, उसी प्रकार देह शुद्धि और पात्रत्व विकासके लिए संस्कार भी अपेक्षित है। उन्होंने आदि-पुराणके १६, ३८ और ३९ वें पर्वमे महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओके समाधान प्रस्तुत किये है । संस्कार मार्गदर्शनका कार्य करते है, जो आयुके वढनेके साथ व्यक्तिके जीवनको एक निर्दिष्ट दिशाकी ओर ले जाते हैं । जिनसेनकी इस संस्कार-संस्थाको तीन वर्गोमें विभक्त किया जा सकता है—[2]

१. गर्भान्वयक्रिया-संस्था

२ दीक्षान्वयक्रिया-संस्था

३. क्रियान्वयक्रिया-संस्था

गर्भान्वयक्रिया[3]—इस संस्थामे श्रावककी ५३ क्रियाओं—संस्कारोका वर्णन किया गया है । चतुर्थ दिनके अनन्तर शुद्ध हुई रजस्वला पत्नीको आगेकर गर्भा-धानके पूर्व अर्हन्तदेवकी पूजा द्वारा मन्त्र पूर्वक जो संस्कार किया जाता है, उसे आधान क्रिया कहते है । इस संस्कारमे जिनेन्द्र प्रतिमाके दाहिनी ओर तीन चक्र वाई ओर तीन छत्र और सामने तीन अग्नियोंकी स्थापना की जाती है । पूजनके पश्चात् हवन कार्य सम्पन्न करनेका विधान वर्णित है । इस संस्कारके पश्चात् पति-पत्नी विपयानुरागके विना केवल सन्तान कामनासे समागम सम्पन्न करें । गर्भाधानके तीसरे महीनेमे प्रीति नामक क्रिया सम्पन्न की जाती है, जिसमे पूजन और हवन तो पूर्ववत ही सम्पादित होते है, पर द्वारपर तोरणवन्धन, कलश स्थापन एवं वाद्यवादन आदि कार्य विशेष रूपसे सम्पन्न किये जाते है । गर्भाधान के पञ्चम मासमे सुप्रीति, सप्तम मासमे धृति और नवम मासके निकट आनेपर मोद नामकी क्रियाएँ सम्पन्न की जाती है । पूजा-पाठ पूर्ववत् ही सम्पादित होता

१. देखें—ऑक्स फोर्ड डिक्शनरीका Ceremoney शब्द । कार्य . शरीरसंस्कार. पावन. प्रेत्य चेह च--मनुस्मृति २।२६ । संस्कारार्थं शरीरस्य--मनुस्मृति २।६६ । २. आदि ०३८।४७ वही ३८।५२ । ३. वही ३८।५१-२११ ।

है, पर मोद क्रियामे गर्भिणीके शरीरपर मन्त्र पूर्वक बीजाक्षर लिखना, मंगलमय आभूषणादि पहनाना और रक्षाहेतु कंकण बंधन करना आवश्यक है। प्रसूति होने पर प्रियोद्भव नामकी क्रिया की जाती है, इसका दूसरा नाम जातकर्म विधिभी है। जिनेन्द्र नामस्मरण पूर्वक पूजन-हवन तथा उत्सव आदि कार्य सम्पादित किये जाते है। जन्मके बारहवें दिन नामकर्म क्रिया पूजन, हवन आदि धार्मिक कार्यो सहित सम्पन्न की जाती है। जिनेन्द्र भगवान्‌के एक हजार आठ नामोंमेंसे घटपत्र विधि द्वारा बालकका नामकरण करना चाहिये। जन्मके दो-तीन माह अथवा तीन-चार माह बाद धार्मिक संस्कार और गायन-वादन सहित बहिर्यान क्रिया—बालकको बाहर निकालने और तदनन्तर निषद्या—आसनपर बैठानेकी क्रिया सम्पादित की जाती है। जन्मसे सात-आठ माह बाद अन्नप्राशन; वर्ष पूर्ण होनेपर व्युष्टि वर्षगाँठ; वर्षके भीतर विषम मासमें किसी शुभ दिनमें केशवाय मुण्डन, पाँच वर्षकी अवस्थामे लिपि-संख्यान, गर्भसे आठवें वर्षमें उपनीति (यज्ञोपवीत); तदनन्तर व्रतावरण क्रिया—समावर्तन, अनन्तर विवाह क्रिया पश्चात् वर्णलाभ क्रिया—उत्तराधिकार प्राप्त क्रिया सम्पन्न की जाती है। वर्ण-लाभके अनन्तर निर्दोषरूपसे आजीविका करना और पूजा,दान आदि .गृहस्थके दैनिक कर्मोको सम्पन्न करना कुलचर्या नामक क्रिया है। कुलचर्याके पश्चात् शुभ-वृत्ति, शास्त्राभ्यास, चारित्रपालन आदिके द्वारा अपनी उन्नति करते हुए गृही-शिता नामक क्रिया सम्पन्न की जाती है; इस क्रियामें व्यक्तिको पञ्चायतके सदस्य होनेका अधिकार प्राप्त होता है। पुत्रको गृहस्थीका भार सौंप स्वयं स्वाध्याय सामायिक, संयम पालन आदिको सम्पन्न करता हुआ शान्ति पूर्वक निवास करने को प्रशान्ति क्रिया कहते है। पश्चात् ज्येष्ठ पुत्रको घरका भार सौंप गृहस्थाश्रम से विरत होना गृहत्याग क्रिया कही जाती है। प्रशान्त सम्यग्दृष्टिका मुनिदीक्षा धारण करनेके कुछ समय पहले एक वस्त्र धारण करना दीक्षा ग्रहण क्रिया है। दिगम्बरी मुद्रा धारण करना जिनरूपता नामकी क्रिया है।

दिगम्बर साधु होकर मौनरूपसे अध्ययनमें प्रवृत्त होना मौनाध्ययन; तीर्थ-कर प्रकृतिके वन्धकी कारणभूत सोलह भावनाओंका अभ्यास तीर्थकृद्भावना एवं मुनियोके संघको पोषण करनेमे प्रवृत्त होना गणोपग्रहण क्रिया है। सघका पालन करते हुए अपने गुरुका स्थान प्राप्त करना स्वगुरु-स्थानावाप्ति एवं अपने सुयोग्य शिष्यको संघका भार सौंप निर्ममत्व धारण करना निसङ्गत्वात्मभावना है। सल्लेखना धारण करनेके लिए उद्यत होना और योग पूर्वक ध्यानका अभ्यास करना योगनिर्वाणसम्प्राप्ति नामक क्रिया है। समस्त आहार और शरीरको कृश करना और योग नामक समाधिके लिए उद्यत होना योगनिर्वाणसाधन क्रिया है। साधनापूर्वक प्राणोंका परित्यागकर इन्द्रपदको प्राप्त करना इन्द्रोपपाद

क्रिया, इन्द्रपदपर अभिषिक्त होना इन्द्राभिषेक क्रिया, नम्रीभूत देवोंको अपने-अपने पद पर नियत करना इन्द्रविधिदानक्रिया एवं इन्द्रके सुखोका उपभोग करना सुखोदय क्रिया है। अन्तिम समयमे देवोको उपदेश देकर आनेवाले इन्द्रके लिए अपने ऐश्वर्यका त्याग करना इन्द्रत्याग क्रिया है। स्वर्गसे अवतार लेना अवतार क्रिया; निर्वाणपद प्राप्तिके योग्य चरम शरीरके रूपमे जन्म ग्रहण करना हिरण्योत्कृष्टजन्मग्रहण क्रिया है। इन्द्र द्वारा भगवान्‌का सुमेरुपर जन्माभिषेक सम्पन्न होना मन्दराभिषेक क्रिया है। स्वयंभू भगवान् जन्मसे ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञानके धारक होने के कारण वे गुरुवत् पूजित होते हैं, अतः उनकी यह क्रिया गुरुपूजन क्रिया कहलाती है। कुमारकालके अनन्तर उनका युवराजपदपर अभिषेक होता है, उनकी यह क्रिया यौवराज्य क्रिया कहलाती है। अनन्तर सम्राट्पदपर अभिषिक्त होना स्वराज्यप्राप्ति क्रिया, चक्रलाभ होना चक्रलाभ क्रिया; चक्ररत्नको आगे कर दिग्विजय करना दिशाञ्जय क्रिया; दिग्विजय कर नगरमे प्रवेश करना चक्राभिषेक क्रिया; चक्रवर्त्तित्वके अनन्तर राजाओंके मध्यमे राजधर्मकी शिक्षा देना और धर्मभावना सहित साम्राज्यकी उपलब्धि करना साम्राज्य क्रिया; विरक्त होते ही लौकान्तिक देवो द्वारा वैराग्यकी वृद्धिके कारण होनेवाली परिग्रहत्यागरूप निष्क्रान्त क्रिया, तपश्चरण द्वारा घातिया कर्मोको नष्टकर केवलज्ञान प्राप्त करना और अनन्तर ज्ञान-ध्यानके संयोगसे अतिशय तेज प्राप्त करना योगसम्मह क्रिया; केवलज्ञानके पश्चात् आठ प्रतिहार्यरूप विभूतिकी उपलब्धि आर्हन्त्य क्रिया; धर्मचक्रको आगे कर विहार करना विहार नामक क्रिया, विहार त्याग योगनिरोध करना योगत्याग क्रिया; एवं समस्त कर्मोको नष्टकर मोक्षप्राप्ति होना अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया है।

इस प्रकार गर्भसे लेकर निर्वाण पर्यन्त ५३ क्रियाएँ बतायी गयी है। मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमे प्रतिपादित संस्कारोंकी अपेक्षा इन क्रियाओमे कई विशेपताएँ निहित है।

दीक्षान्वय क्रिया[1]—गर्भावतारसे लेकर निर्वाणपर्यन्त मोक्षप्राप्तिमे सहायक दीक्षान्वय क्रियाएँ बतायी गयी है। व्रतोका धारण करना दीक्षा है, ये व्रत आशिक और पूर्णत. त्याग करनेकी अपेक्षासे दो प्रकारके होते है। व्रतग्रहण करनेके लिए उन्मुख हुए पुरुपकी प्रवृत्ति दीक्षा कही जाती है और उस दीक्षासे सम्बन्ध रखने वाली क्रियाएँ, दीक्षान्वय क्रियाके अन्तर्गत आती है। इस क्रियाके ४८ भेद है—

(१) अवतारक्रिया, (२) वृत्तलाभ, (३) स्थानलाभ, (४) गणग्रह, (५)

१. आदिपुराण ३९।३५-९०।

पूजाराध्य, (६) पुण्ययज्ञ, (७) दृढचर्या, (८) उपयोगिता, (९) उपनीति, (१०) व्रतचर्या, (११) व्रतावतरण, (१२) विवाह, (१३) वर्णलाभ, (१४) कुलचर्या, (१५) गृहीशिता, (१६) प्रशान्तता, (१७) गृहत्याग, (१८) दीक्षाद्य, (१९) जिनरूपता, (२०) दीक्षान्वय। शेष क्रियाएँ गर्भान्वय क्रियामें वर्णित ही हैं। इन समस्त क्रियाओमे धर्मसाधनाकी प्रक्रिया वर्णित है और श्रावक किस प्रकार आत्मकल्याण कर सकता है, यह विधि बतलायी गयी है। इनका समाजशास्त्रीय उतना महत्त्व नही, जितना धर्मशास्त्रीय है। अतएव व्यक्तित्व शुद्धिके लिए ये क्रियाएँ आवश्यक हैं। इनका यथार्थ रहस्य यह है कि व्यक्ति इन क्रियाओके सम्पादनसे श्रावक या मुनिपद ग्रहण कर सकता है।

क्रियान्वयक्रियाएँ[1]—सामाजिक हैं, यद्यपि इनका अन्तिम लक्ष्य भी धर्मशास्त्रीय विधि-विधानोका प्रतिपादन करना है, पर इनका लगाव समाजके साथ भी है। जिनसेनका मत है कि विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिरूपी सम्पत्ति ही सज्जाति है। सज्जाति रत्नत्रयकी प्राप्तिमें सहायक है। जिस प्रकार विशुद्ध खानसे उत्पन्न हुआ रत्न संस्कारके योगसे उत्कर्षको प्राप्त होता है; उसी प्रकार क्रियाओ और मन्त्रोसे सुसंस्कारको प्राप्त हुआ व्यक्ति भी अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त करता है। यह संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है और सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, यह जिसे प्राप्त हो जाता है, वह अपनी आत्माका उद्धार करनेमे समर्थ हो जाता है। स्वाध्याय, पूजन, अतिथिसत्कार एवं ज्ञानका प्रचार-प्रसार करनेसे स्व-परका कल्याण होता है। सज्जातिकी आवश्यकता अहंकारकी पुष्टिके लिए नही है।

जन्म दो प्रकारका माना गया है—शरीर-जन्म और संस्कार-जन्म। शरीरकी प्राप्तिरूप शरीरजन्म है और संस्कारो द्वारा अपनेको पवित्र करना संस्कारजन्म है। संस्कार द्वारा मिथ्यात्व दूर किया जाता है, जिससे व्यक्ति वास्तवमे समाजके लिए उपयोगी बनता है। व्रती व्यक्ति ही ब्राह्मण है, परमेष्ठी ब्रह्मा कहे जाते हैं और व्रताचरण धारण करनेके कारण वे व्रती उनकी सन्तति कहलाते है। अतः ब्राह्मण आचरणकी अपेक्षा होता है, केवल जन्म ग्रहण करने मात्रसे कोई ब्राह्मण नही माना जा सकता। असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य द्वारा आजीविका करनेवाले द्विजको अपने लगे हुए दोषोकी शुद्धिके लिए पक्ष, चर्या और साधनका पालन करना चाहिए। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावसे वृद्धिको प्राप्त व्यक्तिको भावनाजन्य हिंसाका त्याग करना पक्ष है। देवता, मन्त्रसिद्धि, औषध और भोजन आदिके लिए हिंसाका त्याग करना चर्या है और आयुके अन्तमें शरीर, आहार एवं समस्त प्रकारकी चेष्टा-

१. वही ३९।८१-२००।

ओंका परित्याग कर ध्यान-शुद्धिसे आत्माको शुद्ध करना साधन है। इस प्रकार गुणो द्वारा अपनी आत्माकी वृद्धि करना सद्गृहित्व क्रिया है।

गृहस्थ धर्मका पालन कर गृह-निवाससे विरक्त होते हुए पुरुषका दीक्षा ग्रहण करना पारिव्राज्य कहलाता है। शुद्ध कुल-गोत्रवाला, उत्तमचारित्रवान्, सुन्दर, प्रतिभाशाली व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करनेका अधिकारी है। यह अधिकारी वैराग्य उत्पन्न होनेपर समस्त आरम्भ परिग्रहका त्यागकर पारिव्राज्यको धारण करता है। यह तीसरी क्रिया है। पारिव्राज्यका उदय होनेसे सुरेन्द्रपद प्राप्त होता है, यह सुरेन्द्रता नामकी चतुर्थ क्रिया है। चक्ररत्नके साथ-साथ निधियों और रत्नोसे उत्पन्न हुए भोगोपभोगरूपी सम्पदाओंकी परम्परा प्राप्त होती है, यही चक्रवर्तीका साम्राज्य है। अर्हत् परमेष्ठीके भाव या कर्मरूप उत्कृष्ट क्रियाको आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं। इस क्रियामे पञ्चकल्याणकरूप अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है। संसार-बन्धनसे मुक्त हुए परमात्माकी जो अवस्था है, उसे परिनिर्वृति क्रिया कहते हैं।[1]

जिनसेनद्वारा वर्णित इस संस्कार-विधानका निम्नलिखित समाजशास्त्रीय मूल्य है। यद्यपि जिनसेनकी यह संस्था समाजसे अधिक धर्मसे सम्बद्ध है, तो भी अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचा देनेके कारण व्यक्तिका व्यक्तित्व व्यापकरूपमे ग्रहण किया गया है और सामाजिक अधिकार तथा कर्त्तव्योकी विवेचना की है।

१. स्वस्थ पारिवारिक जीवन यापनके हेतु व्यक्तित्वका गठन।

२. भौतिक आवश्यकताओके सीमित होनेसे समाजके आर्थिक संगठनकी समृद्धिका द्योतन।

३, मानवीय विश्वासो, भावनाओ, आशाओके व्यापक प्रसारके हेतु विस्तृत जीवनभूमिका उर्वरीकरण।

४. व्यक्तित्व विकाससे सामाजिक विकासके क्षेत्रका प्रस्तुतीकरण।

५. सामाजिक समस्याओंका नियमन तथा पञ्चायतोंकी व्यवस्थाका प्रतिपादन।

६. सामाजिक समुदायों और पारिवारिक जीवनका स्थिरीकरण।

७. आध्यात्मिक और सामाजिक जीवनका समन्वयीकरण।

८. व्यक्तित्वका लोकप्रिय गठन।

९. दीर्घजीवन, सम्पत्ति, समृद्धि, शक्ति एवं वुद्धिकी प्राप्ति।

१०. अभीष्ट प्रभावोका आकर्षण एवं स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्ति।

११. सामाजिक और धार्मिक विशेषाधिकारोकी उपलब्धिके कारण सम्माननीय सामाजिक स्थानकी प्राप्ति।

---

१. आदिपुराण ३९।१४३–२०६।

आदिपुराणमे जातकर्म,[1] अन्नप्राशन, चौल और उपनयन संस्कारका विशेष रूपसे उल्लेख आया है।[2]

८. कुलसंस्था

जैनवाङ्मयमे आध्यात्मिक चेतनाको महत्त्व प्राप्त होनेसे कुल, वंश और जाति का कोई विशेष स्थान नही है; किन्तु समाजशास्त्रकी दृष्टिसे कुलसंस्था भी कम उपयोगी नही है। आचार्य जिनसेनने आर्थिक और सामाजिक विकासके लिए इस संस्थाको उपयोगी माना है। उन्होने कुलका लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते।—आदि० ३९।८५

पिताकी वंशशुद्धिको कुल कहते हैं। कुलाचारका योग्य रीतिसे पालन करते हुए पुत्र-पौत्रादि सन्ततिमें एकरूपताका बना रहना कुलशुद्धि है। आदिपुराणमे बताया गया है—

कुलावधि कुलाचाररक्षणं स्याद् द्विजन्मनः।
तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियो ऽन्यकुलतां भजेत्॥ आदि० ४०।१८१

अपने कुलाचारकी रक्षा करना द्विजोकी कुलावधि क्रिया कहलाती है। कुलके आचारकी रक्षा न होनेपर पुरुषकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती है और वह अन्यकुलको प्राप्त हो जाता है।

जिसका कुल और गोत्र शुद्ध है, वही द्विज दीक्षा ग्रहण कर सकता है। उपनयन संस्कारसे पवित्र, शुद्ध कुल और असि, मषि, कृषि एवं वाणिज्य आदि क्रियाओ द्वारा आजीविका करनेवाला, निरामिषभोजी, संकल्पी हिंसाका त्यागी एवं अभक्ष्य और अपेयके सेवनका त्यागी, व्रतपूत व्रतचर्याविधिका अधिकारी है। कुलस्त्रीका सेवन करनेवाला द्विज शुद्धकुल कहलाता है। आदिपुराणमे कुलाचारका पालन करना क्षत्रियोके लिए भी आवश्यक माना है—

कुलानुपालनं तत्र कुलाम्नायानुरक्षणम्।
कुलोचितसमाचारपरिरक्षणलक्षणम्॥—आ० ४२।५

क्षत्रियको धर्मकुलका पालन करना, बुद्धिका पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजाकी रक्षा करना और समंजसपना इस प्रकार पाँच भेदवाले धर्मका आचरण करना चाहिए। इनमेसे कुलाम्नायकी रक्षा करना और कुलके योग्य आचरण करना कुलपालन धर्म है। क्षत्रिय कुलीन व्यक्तियोसे ही शेषाक्षत ग्रहण करता है। कुलाचारमे गोत्रशुद्धि भी अपेक्षित है। समाज परम्पराके निर्वाहके हेतु इस संस्थाका निम्नलिखित महत्त्व है—

१. आदि०, २६।४। २. वही, १५।१६४।

१. कौटुम्बिक व्यवस्थाको सुदृढ वनाये रखने एवं समाजको अनाचार या दुराचारसे वचानेके लिए कुलाचारका पालन करना आवश्यक है।

२. विवाहसंस्थाकी शुद्धि कुलाचारपर ही अवलम्वित है।

३. रक्तसम्वन्धकी शुद्धिकी रक्षा कुलाचार द्वारा ही संभव है।

४. परिवारकी सर्वव्यापकता का कारण कुलाचार हैं।

५. रक्त सम्वन्धियोंको एक वर्गके रूपमे सुघटितकर अवैधानिक और वैधानिक सामाजिक सम्वन्धोंकी सीमाएँ निर्धारित करना तथा सामुदायिक भावनाको पूर्णतया विकसित करना है।

६ वैयक्तिक जीवनके साथ सामाजिक जीवनको भी नियन्त्रित करना हैं और सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियोंको कुलाचार एक सामान्य सूत्रमे निवद्ध करता है।

७, मूल प्रवृत्यात्मक जीवनको परिमार्जित कर कला, साहित्य, संगीत, नृत्य, मूर्त्ति एवं चित्रकला आदि सम्वन्वी सौन्दर्यचेतनाको कुलके वीच उद्वुद्ध करना हैं।

८. रीति-रिवाजोकी सुव्यवस्थाके साथ कुलाचार एकपक्षीय परिवारोका एक वास्तविक संगठन उत्पन्न करता है, जो सामुदायिक भावनाके साथ उद्योग और व्यवसाय विषयक विधि-निषेधोंका प्रवर्तन करता है।

९ परिवार-संस्था

परिवार सर्वभौमिक समाज-संस्था है। इसे समाजका आधारभूत माना गया हैं। यह संस्था कामकी स्वाभाविक वृत्तिको लक्ष्यमें रखकर यौन सम्वन्ध और सन्तानोत्पत्तिकी क्रियाओको नियन्त्रित करती है यह भावनात्मक घनिष्ठताका वातावरण तैयारकर वालकोंके समुचित पोषण और सामाजिक विकासकेलिए आवश्यक पृष्ठभूमिका निर्माण करती है। इस प्रकार व्यक्तिके सामाजीकरण और सास्कृतीकरणकी प्रक्रियामे परिवारका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। परिवार-संस्थाके निम्नलिखित कार्य प्रधान हैं—

१. स्त्री-पुरुषके यौन सम्वन्धको विहित और नियन्त्रित करना।

२. वंशवर्धनके लिए सन्तानकी उत्पत्ति, सरक्षण और पालन करना; मानव जातिके क्रमको आगे वढाना।

३. गृह और गार्हस्थ्यमे स्त्री-पुरुषका सहवास और नियोजन।

४. जीवनको सहयोग और सहकारिताके आधार पर सुखी और समृद्ध वनाना।

५. व्यावसायिक ज्ञान, औद्योगिक कौशलके हस्तान्तरणका नियमन एवं वृद्ध असहाय और वच्चोंकी रक्षाका प्रवन्ध-सम्पादन।

६. मानसिक विकास, संकेत (Suggestion), अनुकरण (Imitation) एवं सहानुभूति (Sympathy) द्वारा बच्चोंके मानसिक विकासका वातावरण प्रस्तुत करना।

७. ऐहिक उन्नतिके साथ पारलौकिक या आध्यात्मिक उन्नति करना।

८. जातीय जीवनके सातत्यको दृढ रखते हुए धर्मकार्य सम्पन्न करना।

९. प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, शिक्षा, अनुशासन आदि मानवके महत्त्व-पूर्ण नागरिक एवं सामाजिक गुणोका विकास करना।

१०. आर्थिक स्थायित्वके हेतु उचित आयका सम्पादन करना।

११. विकास और सुदृढताके लिए आमोद-प्रमोद एवं मनोरञ्जन सम्बन्धी कार्योंका प्रबन्ध करना।

आदिपुराणमे आत्मसंरक्षण और आत्मविकासकी भावनासे प्रेरित होकर विवाह, परिवार, कुल, वर्ण आदि सामाजिक संस्थाओकी आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है। मातृस्नेह, पितृप्रेम, दाम्पत्य-आसक्ति, अपत्यप्रीति और सहवर्त्तिका परिवारके मुख्य आधार है। इन आधारों पर ही परिवारका प्रासाद निर्मित हुआ हैं। यहाँ जिनसेन द्वारा निरूपित परिवारके घटकोंका चित्रण किया जाता है—
(१) दाम्पत्य सम्बन्ध—स्त्री और पुरुषका यौन सम्बन्ध जीवनका प्राथमिक आधार है। जिनसेनने दाम्पत्य प्रेम, सहयोग एवं उनके विभिन्न कृत्योका चित्रण किया है। उन्होंने काम-सुखका विवेचन करते हुए लिखा है—

मदनज्वरसन्तप्त. तत्प्रतीकारवाञ्छया।
स्त्रीरूपं सेवते श्रान्त यथा कट्वपिभेषजम्॥
मनोज्ञविपयासेवा तृष्णायै न वितृप्तये।
तृष्णार्चिषा च सन्तप्तः कथं नाम सुखी जनः॥—आदि० १५।१६६-१६७

जिस प्रकार कोई रोगी पुरुप कटु औषधिका सेवन करता है, उसी प्रकार कामज्वरसे सन्तप्त हुआ प्राणी उसे दूर करनेकी इच्छासे स्त्री-रूप औपधिका सेवन करता है। यह सत्य है कि मनोहर विपयोका सेवन केवल तृष्णाके लिए होता है, सन्तोप प्राप्तिके लिए नही। विशेष सेवन तृष्णारूपी ज्वाला उत्पन्न करता है, अत. सुखका साधन नही हो सकता।

दाम्पत्य जीवन केवल विपयसेवनके लिए नही है, किन्तु इसका वास्तविक लक्ष्य धार्मिक और सामाजिक कार्योंको सम्पन्न करना है। आदिपुराणमे अतिबल-मनोहरारानी,[1] श्रीपेण-सुन्दरी,[2] वज्रदन्त—लक्ष्मीमती[3], वज्रजंघ—श्रीमती[4],

---

१. आदि० ४।१३२–१३३। २. वही ५।२०४। ३. वही ६।५८। ४. वही ८।१–४।

नाभिराज-मरुदेवी[1], ऋषभदेव-यशस्वी-सुनन्दाके[2] दाम्पत्य जीवनका सुन्दर चित्रण आया है। पती-पत्नी हृदयसे एक दूसरेको प्रेम करते है, वे सब प्रकारसे परस्परमे आत्मसमर्पण कर देते है। बताया गया है कि पाटली ग्राममे नागदत्त वैश्य और उसकी सुमति नामक पत्नीमे अपार वात्सल्य था। इनके नन्द, नन्दमित्र, नन्दिषेण, वरसेन और जयसेन ये पाँच पुत्र तथा मदनकान्ता और श्रीकान्ता नामकी पुत्रियाँ थीं। इस परिवारमे प्रेम, सौहार्द, सहकारिता आदि सभी गुण विद्यमान थे। विवाहित स्त्रियाँ नाना प्रकारके वस्त्रा-भूषण धारणकर अपना अनुरंजन करती थी। मनोविनोदके लिए दम्पति पुष्पाभरण, मालाएँ एवं नाना प्रकारके पुष्प-पल्लव धारण करते थे। विवाहित दम्पति वनविहार,[3] जलक्रीडा[4] आदिके द्वारा आनन्दोपभोग करते थे। पत्नीके लिए पति तो सर्वस्व था ही, पर पतिके लिए पत्नी भी कम महत्त्वपूर्ण नही थी। बताया है—

लक्ष्मीरिवास्य कान्ताङ्गी लक्ष्मीमतिरभूत्प्रिया।
स तया कल्पवल्ल्येव सुरागोऽलङ्कृतो नृपः॥—आदि० ६।५९

लक्ष्मीमती वास्तवमे लक्ष्मीके समान सुन्दर शरीरवाली थी। वह राजा उस रानीसे ऐसा शोभायमान होता था, जैसे कल्पलतासे कल्प वृक्ष।

इस तथ्यकी पुष्टि अतिवलकी महारानी मनोहराके निम्नांकित चित्रणसे भी होती है—

स्मितपुष्पोज्वला भर्त्तुः प्रियासील्लतिकेव सा।
हितानुवन्धिनी जैनी विद्येव यशस्करी॥—आदि० ४।१३२

वह महारानी अपने पतिके लिए हास्यरूपी पुष्पसे शोभायमान लताके समान प्रिय थी और जिनवाणीके समान हितचाहनेवाली तथा यशको वढानेवाली थी।

दाम्पत्य जीवनमे पति-पत्नियोंके वीच कलह भी देखा जाता है। स्त्रियाँ रूठ जाती है और पति उन्हे मनाते है—

सुरसिषेविषितेपु निषेदुषीः सरिदुपान्तलताभवनेष्वमूः।
प्रणयकोपविजिह्ममुखीर्वधूः अनुनयन्ति सदात्र नभश्चराः॥
इह मृणालनियोजितवन्धनैरिह वतंससरोरुहताडनै.।
इह मुखासवसेचनकैः प्रियान् विमुखयन्ति रते कुपिता स्त्रिय.॥
आदि १९।९४-९५

इस पर्वतपर देवोके सेवन करने योग्य नदियोके किनारे वने हुए लता-गृहोंमे वैठी हुई तथा प्रणयकोपसे जिनके मुख कुछ मलिन अथवा कुटिल हो रहे है, ऐसी

---

१. आदि० १२।१२। २. वही १५।७६-८१। ३. वही ४।८६। ४. वही ८।२३-२४।

अपनी स्त्रियोंको विद्याधर लोग सदा मनाते रहते हैं। इधर ये कुपित हुई स्त्रियाँ अपने पतियोको मृणालके बन्धनोसे बाँधकर विषयसेवनसे विमुख कर रही हैं; कही कर्णाभूषण कमलोसे पतियोका ताडनकर रही हैं, और कही आसेचनक आदिके द्वारा रतिक्रीडासे पराङ्मुख कर रही हैं।

आदिपुराणमे पुत्र, पुत्रियाँ, भाई, बहन, माता, पिता आदिरूप संयुक्त परिवारके दर्शन होते हैं। सन्तानको माता-पिता सुशिक्षित और योग्य बनाते हैं। सन्तान भी आज्ञाकारी देखी जाती है। महाबल अपने पुत्रकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध करता है। बताया है—"उसने गुरुओके समीप आन्वीक्षिकी आदि चारों विद्याओंका अध्ययन किया। गुरुओंके संयोग और पूर्वभवके संस्कारसे समस्त विद्याएँ सरलता पूर्वक उसे प्राप्त हो गईं"।[1] आदिप्रभु ऋषभदेवने भी अपने पुत्र-पुत्रियोको शिक्षित बनाया है। वे शिक्षाका महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता।
सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी॥
विद्या कामदुघा धेनुः विद्या चिन्तामणिर्नृणाम्।
त्रिवर्गफलितां सूते विद्या सम्पत्परम्पराम्॥
विद्या बन्धुश्च मित्रञ्च विद्या कल्याणकारकम्।
सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधनी॥

—आदि० १६।९९-१०१

विद्या मनुष्योको यश, कल्याण, धन आदि प्रदान करती है। यह कामधेनु और चिन्तामणि रत्न है। यही धर्म, अर्थ तथा कामरूप फलसे सहित सम्पदाओंको उत्पन्न करती है,। विद्या ही मनुष्योका बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही आत्मकल्याण करनेवाली है, विद्या ही साथ जानेवाला धन है और विद्याधन ही समस्त प्रयोजनोको सिद्ध करनेवाला है।

ऋषभदेवने अपनी कन्याओको अक्षरविद्या और अंकविद्या सिखलायी[2] तथा पुत्रोको अर्थशास्त्र, संगीतशास्त्र, लक्षणशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्वविद्या, रत्न-परीक्षा, शस्त्रविद्या प्रभृतिकी शिक्षा दी।[3]

परिवारमे आदिपुराणके रचयिताकी दृष्टिसे नारीका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होने कन्या,[4] गृहिणी,[5] माता,[6] विधवा,[7] संन्यासिनी[8] आदि विभिन्न रूपोमे नारीका स्थान प्रतिपादित किया है।

---

१. आदि० ४।१३६-१४०। २. वही १६।१०५-११६। ३. वही १६।११६-१२५। ४. वही ६।८३, ६।१०२। ५. वही ३८।१२९। ६ वही १५।७३, १५।१३१; ७।२०५। ७. वही ६।५५, ५६, ५७। ८. आदिपुराणमें श्रीमतीका जीवनवृत्ति।

जिनसेनने वर्णलाभ क्रियामे वतलाया है कि विवाहके अनन्तर योग्य पुत्र धन-धान्य, गृह-आवास आदिको प्राप्त कर अपने परिवारको पृथक् रखे तथा कुलमर्यादा के अनुसार आजीविका अर्जन करता हुआ धर्म, धन और यशका अर्जन करे।[१]

उत्तराधिकार

परिवारके लिए उत्तराधिकार एवं बँटवारेका प्रश्न अत्यधिक जटिल है। जिनसेनाचार्यने धन-समविभाजन एवं उत्तराधिकारका निरूपण करते हुए बताया है :—

> कुलक्रमस्त्वया तात सम्पाल्योऽस्मत्परोक्षतः ।
> त्रिधा कृतञ्च नो द्रव्यं त्वयेत्थं विनियोज्यताम् ॥
> —आदि० ३८।१५२,

गृहत्यागके समय ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर समस्त इष्टजनोकी साक्षीपूर्वक गृह-भार सौंप दे और निवेदन करे—पुत्र ! मेरे चले जानेपर यह यह कुलक्रम तुम्हारे द्वारा पालन करने योग्य है। मैने अपने धनके तीन भाग किये है। इनमेसे एक भाग धर्मकार्यमे व्यय करना, दूसरा भाग पारिवारिक खर्चके लिए रखना और तीसरे भागको भाई-बहनोमें बराबर वितरित कर देना। तुम शास्त्रज्ञ, सदाचारी, क्रिया, मन्त्र और विधिके ज्ञाता हो, अतः आलस्यरहित होकर कुलाचारका पालन करना। कुलकी प्रतिष्ठा और मर्यादा योग्य उत्तराधिकारीके मिलनेपर ही सुरक्षित रहती है।

जिनसेनने आदिपुराणमें भाई-बहनोके स्नेह-प्रेमके साथ उनके कलह-विसंवादके भी चित्र अंकित किये हैं। इनके द्वारा विवेचित परिवार पितृसत्तात्मक ही है, मातृसत्तात्मक नही। यद्यपि मामाकी कन्याके साथ विवाह-सम्बन्ध सम्पन्न किये जाते थे। वज्रजंघका विवाह उसके मामाकी कन्या श्रीमतीके साथ सम्पन्न हुआ है, पर उत्तराधिकार वज्रजंघको या उसके पुत्रोको नही दिया गया है। उत्तराधिकार उसी वंशके अल्पावस्थाके एक व्यक्तिको दिया है। वज्रजंघको केवल देख-रेखके अथवा अल्पकालिक राजव्यवस्थाके लिए बुलाया गया है।

परिवारमे पिताकी अत्यधिक प्रतिष्ठा थी, उसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। यही परिवारका मुखिया होता था और समस्त परिवार इसीके द्वारा अनुशासित किया जाता था। परिवारमें नया उत्साह संचारित करनेके लिए जन्मोत्सव, विवाहोत्सव एवं वर्षगाठोत्सव भी सम्पन्न किये जाते थे।[२] परिवारके व्यक्ति

---

१. आदिपुराण ३८।१३८-१४१। २. वही ५।१-२; जीवनसुखोंका वर्णन आदि० ६।६२, ५।७१, ७५, ७६।

सहकार्यमे विश्वास करते थे और वे धनार्जनमे सामूहिकरूपसे प्रवृत्त रहते थे। इसी कारण उद्योगीकरण और नागरीकरणमें विशेष सुविधा प्राप्त होती थी।

परिवारमे नारीका स्थान

जिनसेन अपने समयके प्रतिनिधि पुराणकार है। उनके युगकी छाप आदिपुराणपर पूर्णतया पायी जाती है। आदिपुराणमे उस समयकी नारीके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आदि विविध क्षेत्रोकी स्थितिका सूक्ष्म वर्णन पाया जाता है। आदिपुराणके पात्र बहुविवाह करते है[1]। अधिक क्या, तीर्थंकर ऋषभदेवने भी दो विवाह किये, यह सामन्त युगका प्रभाव ही कहा जायगा। सामन्तयुगमें एकाधिक विवाह करना बड़प्पनका सूचक था। बहुविवाह और बालविवाह प्रथाने ही नारीकी सामाजिक स्थितिको हीन किया था। यह सत्य है कि आदिपुराणमे नारी मात्र भोगैषणाकी पूर्तिका साधन नही थी, उसे भी स्वतन्त्ररूपसे विकसित और पल्लवित होनेकी पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त थी। स्वयं वह अपने भाग्यकी विधायिका थी। वह जीवनमे पुरुषकी अनुगामिनी बनती थी, पर दासी नही। उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व था, पुरुषके व्यक्तित्वमे अपना व्यक्तित्व उसे मिला देना नही पडता था। ब्राह्मी और सुन्दरी जैसी नारियाँ आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर समाजका और अपना उद्धार करती थी। मुस्लिम कालके समान नारी अन्तःपुरमें केवल केलि-क्रीड़ाका साधन ही नही थी, बल्कि अनेक सपत्नियोंके बीच रहकर भी समय प्राप्तकर आत्मोत्थानमें प्रवृत्त होनेके लिए वह सदा तत्पर रहती थी। उसके कल्याणमे कोई भी बाधक नही बनता था। सपत्नी-ईर्ष्या और कलह भी दिखाई नही पड़ते है। कलाकार और विदुषी नारीका वर्णन भी आदिपुराणमे आया है।

कन्याकी स्थिति

आदिपुराणमें कन्या-जन्मको माँ-बापका अभिशाप नही माना गया है।[2] अतः स्पष्ट है कि समाजमें कन्याकी स्थिति वर्तमान कालकी अपेक्षा अच्छी थी। आदितीर्थंकर ऋषभदेवने अपनी कन्याओका पालन पुत्रोके समान किया था।

१. मनुस्मृति आदि ग्रन्थोमे षोडश संस्कारोमे पुंसवन संस्कारको महत्ता दी गयी है, जिससे यह ध्वनित होता है कि कन्याकी स्थिति स्मृतिग्रन्थोमें पुत्रकी अपेक्षा हीन थी। पुंसवन संस्कार पुत्रप्राप्तिके लिए किया जाता है, गर्भस्थ सन्तान पुत्ररूपमें प्राप्त हो, इसकी कामना प्रत्येक माता-पिता करता है और इस इच्छाकी

---

१. श्रीपाल द्वारा किये गये बहुविवाहोंका वर्णन वही, ४७।१६९-१७०। २. चन्द्रमाकी कलाके समान जनसमूहको आनन्द देनेवाली उस श्रीमती कन्याको देखकर माता-पिता अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त हुए। आदि० ६।८३।

पूर्तिके लिए पुंसवन संस्कारकी विधि सम्पन्न की जाती है। पर आदिपुराणमें इस संस्कारका नाम भी नही आया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि आदिपुराणमे कन्या और पुत्र दोनों तुल्य थे तथा दोनोकी गर्भान्वय आदि क्रियाएँ समानरूप मे सम्पन्न की जाती थीं। वताया है—

पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया ॥—आदि० ३८।७०
गर्भाधानक्रियामेनां प्रयुञ्ज्यादौ यथाविधि ।
सन्तानार्थं विना रागाद् दम्पतिभ्या न्यवेयताम् ॥
—आदि० ३८।७६

चतुर्थ स्नानके अनन्तर शुद्ध हुई पत्नीको आगे कर गर्भाधानके पहले अर्हन्त-देवकी पूजाद्वारा मन्त्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है, उसे आधान कहते है। विधिपूर्वक गर्भाधान आदि क्रियाओको सम्पन्न करना गृहस्थका कर्तव्य है। गर्भाधानके पश्चात् प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोद, प्रमोद, नामकर्म, वहिर्यान, निपद्या, अन्न-प्राशन, व्युष्टि, चौल, लिपि-संख्यान प्रभृति संस्कार कन्या और पुत्र दोनोके समानरूपसे किये जाते है। अतएव स्पष्ट है कि आदिपुराणकारकी दृष्टिमें कन्या और पुत्र दोनोमे कोई अन्तर नही है। दोनोके संस्कार समानरूपमे सम्पादित कर कन्याकी महत्तापर प्रकाश डाला गया है।

२ कन्याओका लालन-पालन एवं उनकी शिक्षा-दीक्षा भी पुत्रोके समान ही होती थी। आदितीर्थंकर अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी पुत्रियोंको शिक्षित होनेके लिए प्रेरित करते हुए कहते है :—

विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः ।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥—आदि० १६।९८

अर्थात्—इस लोकमे विद्यावान् व्यक्ति पण्डितोके द्वारा भी सम्मानको प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ट पदको प्राप्त होती है। विद्या ही मनुष्योका वन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करनेवाली है, विद्या ही साथ-साथ जानेवाला धन है और विद्या ही सव प्रयोजनोको सिद्ध करनेवाली है।

अतएव हे पुत्रियों! तुम दोनो विद्या ग्रहण करनेमे प्रयत्न करो; क्योकि विद्या ग्रहण करनेका यही काल है।

इस प्रकार उपदेश देकर श्रुतदेवताके पूजनपूर्वक स्वर्णके विस्तृत पट्टपर वर्णमालाको लिखकर आदिदेवने अपनी कन्याओको वर्णमालाकी शिक्षा दी।[1] आदिपुराणके उक्त सन्दर्भसे स्पष्ट है कि आदितीर्थंकरने पुत्रोकी अपेक्षा कन्याओकी

१. आदि० १६।१०३–१०४।

शिक्षाका प्रबन्ध सबसे पहले किया था। मातापिताको केवल कन्याके विवाहकी चिन्ता ही नही रहती थी, अपितु वे उसे पूर्ण विदुषी और कलाप्रवीणा बनाते थे। कन्याओकी शिक्षा पुत्रोकी शिक्षाकी अपेक्षा भिन्न होती थी।

३ विवाहके अवसरपर वर-वरणकी स्वतन्त्रता कन्याओंको प्राप्त थी। जयकुमार और सुलोचनाके आख्यान तथा श्रीपालके आख्यानसे उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है। कन्याएँ स्वयंवर भूमिमे उपस्थित हो स्वयं वरका निर्वाचन करती थी।

आदिपुराणमे ऐसे भी अनेक प्रमाण आये है, जिनसे व्यक्त होता है कि कन्याएँ आजीवन अविवाहिता रहकर समाजकी सेवा करती हुई अपना आत्मकल्याण करती थी। ब्राह्मी और सुन्दरीने कौमार्य अवस्थामे ही दीक्षा ग्रहणकर आत्मकल्याण किया था। उस समयके समाजमें कन्याका विवाहिता होना परमावश्यक नही माना जाता था। कन्याके वयस्क होनेपर माता-पिताको उसके विवाहकी चिन्ता होती थी और वे अनुरूप वरकी तलाशकर विवाह सम्पन्न करते थे। राजपरिवारोंके अतिरिक्त जनसाधारणमे भी कन्याकी स्थिति आजसे कही अधिक अच्छी थी। कन्याएँ वयस्क होकर स्वेच्छानुसार अपने पिताकी सम्पत्तिसे दानादिके कार्य करती थी। आदिपुराणमे बताया गया है कि सुलोचनाने कौमार्य अवस्थामे ही बहुत-सी रत्नमयी प्रतिमाओका निर्माण कराया और उन प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा कराके वृहत् पूजनाभिषेक किया।[1]

४. कन्याका पैतृक सम्पत्तिमे विवाहके पहले तक ही अधिकार रहता था। आजीविका अर्जनके लिए उन्हे मूर्तिकला, चित्रकलाके साथ ऐसी कलाओकी भी शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे अपने भरण-पोषणके योग्य अर्जन कर सकती थीं। पिता पुत्रीसे उसके विवाहके अवसरपर तो सम्मति लेता ही था, पर आजीविका अर्जनके साधनोपर भी उससे सम्मति लेता था। आदिपुराणके सप्तम पर्वमे आया है कि वज्रदन्त चक्रवर्ती अपनी कन्या श्रीमतीको बुलाकर उसे नानाप्रकारसे समझाता हुआ कलाओके सम्बन्धमे चर्चा करता था।

गृहिणीकी स्थिति

विवाहके अनन्तर वधू गृहस्थाश्रममे प्रविष्ट हो गृहिणी-पद प्राप्त करती है। आदिपुराणमे बताया गया है कि विवाह किसी पवित्र स्थानमे सम्पन्न होता था। यथा—

पुण्याश्रमे क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुख तयोः।
दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहणोत्सवः ॥ आदि० ३८।१२९

× × × ×

---

१. आदि०, ४३।१७४–१७५।

पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् ।
आसप्ताहं चरेद् ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥—वही, ३८।१३१

अर्थात्—तीर्थस्थानमें अथवा सिद्धप्रतिमाके सम्मुख विवाहोत्सव सम्पन्न किया जाना चाहिये। विवाहकी दीक्षामें नियुक्त वर-वधू देव और अग्निके साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते थे। अनन्तर अपने योग्य किसी देशमें प्रयाणकर अथवा तीर्थभूमिमें जाकर प्रतिज्ञावद्ध हो गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होते थे। दहेज माता-पिता स्वेच्छया देते थे, पर उसका बन्धन नहीं था।

विवाहिता स्त्री अपने परिवारकी सब प्रकारसे व्यवस्था करती थी। उस समय विवाह वासनाकी पूर्तिका साधन नहीं था, किन्तु संतति उत्पत्तिके लिये विवाह आवश्यक माना जाता था। यथा—

देवेमं गृहिणां धर्मं विद्धि दारपरिग्रहम् ।
सन्तानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥ १५।६४

गृहिणी गृहपतिकी सेवा-शुश्रूषा तो करती ही थी, पर उसके कार्योंमें भी सहयोग देती थी। गृहिणी या पत्नीके निम्नलिखित गुणोंका वर्णन आया है—

१. सुन्दरता
२. लावण्य
३. पति-हितकामनामें रत
४. पति-मनोरंजनमें संलग्न

विवाहिता स्त्रियोंकी वेशभूषा अनेक प्रकारकी थी। राज-परिवार एवं धनिक परिवारोंकी महिलाएँ मणि-माणिक्य, स्वर्ण एवं रजत आदिके आभूषणोंको धारण करती थी। मनोविनोदके लिये पुष्पों और कमलोंके आभूषण भी पहिनती थी। साधारण परिवारोंमें पुष्प और पल्लवोंके आभूषणोंका अधिक प्रचार था।

आदिपुराणके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि धनिक, सामन्त एवं राज-परिवारोंमें ही बहुविवाहकी प्रथा थी, सामान्य श्रेणीके व्यक्ति एक ही विवाह करते थे। अन्तःपुरोंमें कलह होती थी, पट्टमहिषीका प्रभुत्व समस्त सपत्नियोंपर रहता था।

विवाहिता नारीको घूमने-फिरनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता थी।[२] ये अपने पतियोंके साथ वनविहार, जलविहार आदि करती थी; पर कभी-कभी एकाकी भी वनविहार-के लिए जाती थी। विवाहिता नारीके ऊपर ऐसा कोई नियन्त्रण नहीं रहता था, जिससे उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाय।

---

१. आदि० १८।२०४। २. वही, ४।७६।

पतिसे ही स्त्रीकी शोभा नही थी, वल्कि पति भी स्त्रीसे शोभित होता था।[1] अतिवल नृपति मनोहरा रानीको प्राप्तकर कृतार्थ हो गया था।

गृहस्थ जीवनमें पति-पत्नियोमे कलह भी होता था।[2] स्त्रियाँ प्राय. रूठ जाया करती थीं। पति रूठी हुई पत्नियोको मनाते थे, जिससे गृहिणी-जीवनमें सरलता उत्पन्न होती थी।

विवाहिता नारियाँ व्रत उपवास अत्यधिक करती थी। वड़े-वड़े व्रतोको किया करती थी। पंचकल्याणकव्रत, सोलहकारणव्रत, जिनेन्द्रगुणसम्पत्तिव्रत करनेकी प्रथा प्रचलितकी। आदिपुराणके छठवें पर्वमे आया है कि मनस्विनी स्वयंप्रभाने अनेक व्रतोपवास किये थे। प्रियदत्तके[3] आख्यानमें आया है कि उसने विपुलमति नामक चारणऋद्धिधारी मुनिको नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया और मुनिराजसे पूछा—प्रभो! मेरे तपका समय समीप है या नही? परिवारमें धर्मात्मा और विदुषी गृहिणियोका अधिक सम्मान होता था।

दुराचारिणी स्त्रियोको समाजमे निन्द्य दृष्टिसे देखा जाता था तथा पापके फलस्वरूप उनका समाजसे निष्कासन भी होता था। समुद्रदत्त-सर्वदयिताके आख्यानमे वताया गया है कि समुद्रदत्तके वड़े भाई सागरदत्तने भ्रमवश सर्वदयिताको दुराचारिणी समझकर घरसे निकाल दिया था और उसके पुत्रको कुलकलंक समझ भृत्यद्वारा अन्यत्र भिजवा दिया था।[4]

स्त्रियोका अपमान समाजमे महान् अपराध माना जाता था। सभी स्त्रियोंको सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे। कोई भी उनका अपमान नही कर सकता था। पति अपने वाहुवलसे स्त्रीके भरण-पोषणके साथ उसका संरक्षण भी करता था। वताया है—

न सहन्ते ननु स्त्रीणां तिर्यञ्चोऽपि पराभवम्॥—आदि० ४३।२९

अर्थात्—तिर्यञ्च भी स्त्रियोंका पराभव नही सहन कर सकता है, तव मनुष्य अपनी पत्नीका अपमान या तिरस्कार किस प्रकार सहन करनेमे समर्थ है?

यह तो चर्चा हुई स्त्रियोकी महत्ताके सम्वन्धमें, पर कुछ ऐसे उद्धरण भी आदिपुराणमे उपलब्ध है, जिनसे नारीकी गणना भोग्यववस्तु[5] और परिग्रहके रूपमें सिद्ध होती है। यही कारण है कि नारीके स्वातन्त्र्यका अपहरणकर उसके साथ वलपूर्व विवाह करनेकी वात भी कही गयी है[6]।

---

१ स तया कल्पवल्ल्येव सुरागोऽलंकृतो नृपः॥ वही—६।५९। २. आदि० २७।१३२। ३. वही, ४६।७६। ४ वही, ४७।२०३–२०७। ५. वही, ३७।१४७। ६. वही, ७।१९६–१९७।

स्त्रियोंके स्वभावका विश्लेषण करते हुए बताया गया है कि स्त्रियाँ स्वभावतः चञ्चल, कपटी, क्रोधी और मायाचारिणी होती हैं। पुरुषोंको स्त्रियोंकी बातों पर विश्वास न कर विचारपूर्वक कार्य करना चाहिए। वासनाके आवेशमें आकर नारियाँ धर्मका परित्याग भी कर देती[1] हैं।

एक और सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि स्त्रियोंको अपने उत्थानके लिए पुरुषोंकी शक्तिपर विश्वास नहीं करना चाहिए। स्त्री ही स्त्रीका विपत्तिसे उद्धार कर सकती है। यथा—

स्त्रीणां विप्रत्प्रतीकारे स्त्रिय एवावलम्बनम्।—आदि० ६।१६९

इससे यह ध्वनित होता है कि उस समय स्त्रियोंमें सहयोग और सहकारिता की भावना सर्वाधिक थी। नारीको नारीके ऊपर अटूट विश्वास था, इसलिए नारी अपनी सहायताके लिए पुरुषोंकी अपेक्षा नहीं करती थी।

आदिपुराणसे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय सर्वसाधारण स्त्रियोंमें मद्यपानका भी प्रचार था। जो स्त्रियाँ मद्यपान नहीं करती थीं, वे श्राविका मानी जाती थीं। यथा—

दूरादेवात्यजन् स्निग्धाः श्राविका वाऽऽसवादिकम्॥—आदि० ४४।२९०

मद्यपानके समान सम्मान और धर्मको नष्ट करनेवाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। यही सोचकर ईर्ष्यालु, कलहकारिणी सपत्नियोंने अपनी सहवासिनियोंको खूब मद्य पिलाया। कुछ स्त्रियाँ तो वासनाको उत्तेजित करनेके लिए भी मद्यपान करती थीं।

वृथाभिमानविध्वंसी नापरं मधुना विना।
कलहान्तरिताः काश्चित्सखीभिरतिपायिता.॥ आदि० ४४।२८९

× × × ×

मधु द्विगुणितस्वादु पीतं कान्तकरार्पितम्।
कान्ताभि. कामदुर्वारमातङ्गमदवर्द्धनम्॥—वही ४४।२९१

गृहिणीरूपमें नारी वासना और आसक्तिका केन्द्र मानी गयी है, पर इतना स्पष्ट है कि आत्मोत्थान करनेवाली नारीको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। नारीके रूप, लावण्य, कान्ति, श्री, द्युति, मति और विभूति गुणोंका कथन आया है।[2]

जननीकी स्थिति

आदिपुराणमें जननीरूपको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा गया है। इन्द्राणीने जननीरूपमें मरुदेवीकी स्तुति की है, इस स्तुतिसे यह सिद्ध होता है कि जननी

---

१. आदिपुराण ४३।१००-११३। २. वही, १२।१२।

रूप नारी प्रत्येक व्यक्ति द्वारा वन्दनीय है। जो माता तीर्थंकर और चक्रवर्तियोंको जन्म देती है, उस माताके महत्त्वका मूल्याङ्कन कौन कर सकता है। गृहस्थावस्थामें तीर्थंकरने जिस जननीका पादवन्दन किया है, उसकी पवित्रता वचनातीत है। माता बननेके पूर्व गर्भवती स्त्रीका विशेष ध्यान रखा जाता है तथा उसके दोहदको पूर्ण करना प्रत्येक पतिका परम कर्त्तव्य होता है[1]।

स्तुति करते हुए इन्द्राणी कहती है—माता ! तू तीनों लोकोंकी कल्याणकारिणी माता है, तू ही मंगल करनेवाली है, तू ही महादेवी है, तू ही पुण्यवती है और तू ही यशस्विनी है[2]।

जननीको अपने पुत्रके विवाहके अवसरपर सबसे अधिक प्रसन्नता होती है।[3] आदिपुराणमें बताया गया है कि मरुदेवीको नवीन पुत्र-वधुएँ प्राप्तकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई।[4] इसी प्रकार वसुन्धराको अपने पुत्र-विवाहके अवसरपर परम हर्ष हुआ।[5] उसका रोम-रोम हर्ष विभोर हो उठा। अतः स्पष्ट है कि जननी गृहस्वामिनीके उत्तरदायित्वपूर्ण पदका निर्वाह करती हुई नवीन वधूके स्वागतकेलिए सदा उत्सुक रहती थी। सन्तानकी प्राप्तिमें माताको जितनी प्रसन्नता होती है, उससे कहीं बढ़कर वधूके आनेपर। वृद्धा जननीकी झलक हमें उस समय मिलती है, जब हम देखते हैं कि नवीन वधूके आते ही वह उसे अपना उत्तरदायित्वपूर्ण पद सौंप देती है और स्वयं धर्मसाधनमें लग जाती है। गृहस्थीके मोहजालसे छुटकारा प्राप्तकर जिनदीक्षा ग्रहण करनेमें ही जीवनकी यथार्थता है। वस्तुतः पाण्डित्य वही है, जो संसारसे व्यक्तिका उद्धार करनेमें समर्थ हो।[6] आदिपुराणमें 'अन्तर्वत्नी' (आदि० १२।२१२, १५।१३१) शब्दके प्रयोग द्वारा गर्भवती स्त्रीकी महत्ता सूचित की है।

विधवाकी स्थिति

आदिपुराणमें विधवा नारीकी स्थितिके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। सर्पिणी द्वारा काकोदर नामके विजातीय सर्पके साथ व्यभिचार करते देखकर राजा जयकुमारने उसे धिक्कारते हुए क्रीडाके नीलकमलसे ताड़न किया। वे नाग-युगल वहाँसे भागे, पर मार्गमें सैनिकों द्वारा आहत हो गये; जिससे धर्मध्यान पूर्वक मरणकर सर्पिणी नागकुमारकी पत्नी हुई। जब नागकुमारको अपनी पत्नीकी मृत्युका कारण राजा जयकुमार ज्ञात हुआ, तो वह उससे बदला चुकानेके लिए तैयार हुआ और कहने लगा कि इस मूर्ख नृपतिने वृथा मेरी पत्नीको

---

१. आदिपुराण १५।१३७। २. वही, १३।३०। ३. वही, १५।७३। ४. वही, १५।७४। ५. वही, ७।२०५। ६. वही, ८।८६।

वेधवा समझ लिया था[1], जिससे उसकी दुर्गति की। मै अपनी पत्नीके साथ किये ाये दुर्व्यवहारका अवश्य प्रतिशोध लूँगा।

उपर्युक्त आख्यानसे यह अभिव्यक्त होता है कि विधवाको अनाथ और बल-हीन समझा जाता था। अत. उसकी स्वतन्त्र स्थिति समाजमे सम्मानस्पद नही थी।

विधवाएँ धर्मसाधनमें अपना अवशेष जीवन व्यतीत करती थी तथा व्रतो-प्रवास द्वारा अपना आत्मशोधन कर स्वर्गादि सुखोंको प्राप्त करती थी। आदि-पुराणमे बताया है कि ललितांगदेवकी मृत्युके अनन्तर उसकी विधवा पत्नी स्वयं-प्रभाने अपने शेप जीवनका एक कार्यक्रम निश्चित किया था। आरम्भमे वह दु:खी हुई, पर अन्तमे साहस एकत्रकर सासारिक भोगोसे विरक्त हो आत्मशोधन-में प्रवृत्त हुई। वह मनस्विनी भव्य जीवोके समान छ. महीने तक जिनपूजामे उद्यत रही। तदनन्तर सौमनस वन सम्बन्धी पूर्व दिशाके जिनमन्दिरोमे चैत्य-वृक्षके नीचे पञ्चपरमेष्ठीका स्मरण करते हुए समाधिमरण धारण किया।[2]

स्वयम्प्रभाके इस आख्यानसे स्पष्ट है कि पतिकी मृत्युके पश्चात् स्त्री अपना धर्ममय जीवन यापन करती थी। वह लोकैषणा और वित्तैपणासे पृथक् होकर समाजसेवामे जीवन लगानेमे ही अपनेको कृतार्थ समझती थी। 'पतिवत्नी'[3] शब्दसे सौभाग्यवतीके महत्त्वपर और विधवाके दुर्भाग्यपर प्रकाश पड़ता है।

वारांगनाकी स्थिति

आदिपुराणमे वारागना और वेश्या इन दोनोकी पृथक्-पृथक् स्थिति प्रतिपादित है। वारागनाको वेश्याकी अपेक्षा पवित्र माना गया है। सातवें पर्वके निम्नलिखित पद्योंसे वारागनाकी स्थितिपर सुन्दर प्रकाश पडता है। ये केवल धार्मिक महो-त्सवोमे सम्मिलित होकर संगीत प्रस्तुत करती थी—

मङ्गलोद्गानमातेनुः वारवध्वः कलं तदा।
उत्साहान् पेठुरभितो वन्दिनः सहमागधाः॥
वर्द्धमानलयैर्नृत्तम् आरेभे ललितं तदा।
वारांगनाभिरुद्भ्रूभी रणन्नूपुरमेखलम्॥ आदि० ७।२४३-२४४

उक्त पद्योसे स्पष्ट है कि वारांगनाएँ मधुर मंगलगीत गाती थी और उत्सवो को समृद्ध बनाती थी। वे लय-तान युक्त भावपूर्ण नृत्य भी करती थी। विवाह, जन्म एवं राज्याभिषेकके अवसरपर वारागनाओका सम्मिलित होना मंगलमय माना जाता था। आदिपुराणके इस चित्रणसे ऐसा प्रतीत होता है कि आदिपुराण-

---

१. आदि० ४३।१९८। २. वही, ६।५५-५७। ३. वही, १२।५५। ४. वही० २६।३२।

कारकी दृष्टिमे देवदासियाँ ही वारागनाएँ है। जिनसेन जैसे आचार्यका ही यह साहस है, जिन्होने देवदासियोको खुले रूपमे वारांगना घोषित किया है। देवदासियाँ धार्मिक उत्सवोमे सम्मिलित होती थी और उनका सम्मिलित होना मंगलका कारण माना जाता था; आदिपुराणकी ये वारागनाएँ भी नृत्य-गानके अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करती हुई दिखलायी नही पडती है। ये धार्मिक अथवा मागलिक अवसरोपर ही बुलायी जाती थी।

वारागनासे भिन्न वेश्याओका एक अन्य चित्र भी आदिपुराणमे पाया जाता है। वेश्याएँ शील वेचकर धनार्जन करती थी। मद्यपान करना उनके लिए साधारण क्रिया थी। वेश्याओकी सामाजिक स्थिति वारांगनाओसे भिन्न थी। जब ऋषभदेव दीक्षाके लिए चलने लगे, तो एक ओर दिक्कुमारी देवियाँ मंगलद्रव्य लेकर खडी हो गयी और दूसरी ओर वस्त्राभूषण पहने हुई उत्तम वारागनाएँ मंगलद्रव्य लेकर प्रस्तुत थी।[1] इसी प्रकार आदि तीर्थंकरके निष्क्रमण कल्याणके अवसरपर वारागनाएँ नृत्य करती हुई दिखलाई पड़ती है।[2] अतएव आदिपुराणके आधारपर वारागना और वेश्या ये दो पृथक् नारियोकी स्थितियाँ है। वारांगनाओकी गणना शुभ शकुनके रूपमे की गयी है; अभिशापके रूपमे नही।

धात्रीकी स्थिति

धनी एवं सामन्त परिवारोंमे सन्तानके लालन-पालनके लिए धात्रीकी नियुक्ति की जाती थी। जिनसेनने धात्रीके कार्योको निम्नलिखित पाँच[3] वर्गोमे विभक्त किया है—

१. मज्जन
२. मण्डन
३ स्तन्य
४. संस्कार
५. क्रीडन

मज्जनसे तात्पर्य स्नान क्रियासे है। धात्री, शिशुओको स्नान किस प्रकार कराना चाहिये, इस विधिसे पूर्ण अभिज्ञ होती थी। इसी कारण धात्रीकी नियुक्ति शिशुओके संवर्द्धनकेलिए की जाती थी।

मण्डन विधिका तात्पर्य शिशुओंको वस्त्राभूषण पहनानेकी क्रियासे है। वस्त्र पहनानेमे अत्यन्त सावधानीकी आवश्यकता होती है। जो धात्री शिशुओको कला-

---

१. अन्यत. कृतनेपथ्या वारमुख्या वरश्रियः।—आदि० १७।८३। २. सलीलपदविन्यासमन्यतो वारयोषिताम्।—वही १७।८६। ३. धात्र्यो नियोजितास्चास्य देव्यः शक्रेण सादरम्। मज्जने मण्डने स्तन्ये संस्कारे क्रीडनेऽपि च॥ वही १४।१६५।

त्मक ढंगसे वस्त्र पहनानेमे जितनी सजग होती है, उसे धात्री-कार्यमे उतना ही निपुण समझा जाता है।

स्तन्य क्रियामे धात्री शिशुओको प्रेमपूर्वक दुग्ध पान कराती है। धात्रियाँ गोदुग्ध पान करानेके साथ स्वयं भी स्तनपान कराती थी। सामन्त परिवारमे शिशुओंको स्तनपान करानेकेलिये ही धात्रीको रखा जाता है।

तैलमर्दन करना, नेत्रोमे अञ्जन लगाना एवं शरीरमे उवटन लगाना संस्कार-विधिमे परिगणित किया गया है। यह कार्य भी धात्रियोके द्वारा सम्पन्न किया जाता था।

क्रीडन-विधिमें विभिन्न प्रकारके क्रीडनको—खिलौनो द्वारा शिशुका मनोरंजन किया जाता था। धात्रियोका कार्य केवल दुग्धपान कराना ही नही था, वल्कि शिशुओका मन वहलाव करना, उन्हे स्नान कराना, वस्त्र पहनाना एवं अञ्जन टीका आदि लगाना भी था।

कतिपय धात्रियाँ तो इस प्रकारकी आदिपुराणमे चित्रित की गयी है, जो माता एवं सखिका कार्य एक साथ करती है। श्रीमतीकी पण्डिता धात्री इसी श्रेणीकी धात्री[1] है। श्रीमती देवोको आकाशमे जाते हुए देखकर अपने पूर्व जन्मके पतिके स्मरण हो आनेसे मूर्छित हो जाती है। पण्डिता धाई श्रीमतीकी अन्तरङ्ग व्यथा-को जानकर सख्युचित व्यवहार करती है, और उसके प्रेमीकी तलाश करनेके लिए उसके द्वारा निर्मित चित्र-पटको लेकर जाती है।

इस सन्दर्भमें पण्डिताका व्यवहार और आचरण माता एवं सखि दोनोंके समन्वित रूपमें उपलब्ध होता है। श्रीमतीकी विरह-व्यथाको शमन करनेके लिए उसने जो सान्त्वना दी है, वह सान्त्वना किसी अभिन्न सखिकी ही हो सकती है। श्रीमतीकी प्राणरक्षाके लिए उसने अपने हृदयके जिस स्नेहका प्रदर्शन किया है, वह मातृस्नेहसे कम नही है, अतएव आदिपुराणमे धात्रीका स्थान सामान्य दासीके स्थानसे वहुत ही ऊँचा है।

आदिपुराणमे साध्वीकी स्थिति भी वर्णित है। साध्वियाँ समाजमे सभी प्रकार से पूज्य और मान्य होती थी, अतः उनके प्रति श्रद्धाभावका होना एक सामान्य-सी वात है। हम यहाँ साध्वीके सम्वन्धमे विशेष न लिखकर नारीके लक्ष्मी, सरस्वती, कीर्त्ति और मुक्ति[2] रूपोका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते है। आदिपुराणमे उक्त चारो रूपोंका सामान्यत. वर्णन आया है। मरुदेवी, स्वयंप्रभा, श्रीमती, सुलोचना, मदनसुन्दरी जैसी नारियाँ लक्ष्मी, सरस्वती और कीर्तिकी प्रतीक है।

---

१. आदि० ६।११४-१२५। २. वही ४३।११२।

मुक्तिकी प्रतीक ब्राह्मी और सुन्दरी है। अतः स्पष्ट है कि त्याग, सेवा, सहिष्णुता एवं विवेकके कारण नारी उक्त रूपोंको प्राप्त करती है। शीलका सम्बन्ध प्रधान-रूपसे नारीके साथ है। शीलभ्रष्ट नारीका समाजमें कोई भी महत्त्व नहीं, शीलके प्रभावमे नारीको सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है।

आदिपुराणमे कुछ ऐसी नारियोंके रूप भी उपलब्ध होते हैं, जिन्हे हम आजकी भाषामे दम्भी या मायावी कह सकते हैं।[1] ऐसी नारियाँ अपनी कन्याओंको सुखी रखनेकी भावनामे जामाताओंको धोखा देती थी और किसी भी प्रकार अपनी कन्याओंके प्रति उन्हें अनुरक्त बनाती थी। एक सन्दर्भमे आया है कि अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न हुई किसी स्त्रीने अपने जामाताको कुत्ता बनाकर अपनी पुत्रीके दोनो चरणोंपर खूब लोटाया और इस तरह अपनी पुत्रीको प्रसन्नकर उसे पुराना रूप देकर पूर्ववत् बना दिया।[2]

स्पष्ट है कि नारियाँ विद्याबलसे रूप-परिवर्त्तन करनेमे भी समर्थ थी। इसी सन्दर्भमे नारियोंके अन्य विद्या-सम्बन्धी चमत्कार भी उपलब्ध होते हैं। निस्सन्देह आदिपुराणमे प्रतिपादित भारतमे नारीके विभिन्न रूप प्रचलित थे तथा नारियाँ आजकी अपेक्षा उस समय अधिक योग्य एवं विद्यासे सम्पन्न थी। यद्यपि जयकुमारकी चर्चासे नारीके अनेक दुर्गुणोंपर भी प्रकाश पड़ता है,[3] तो भी नारीके महत्त्वको "वन्ध्या स्तनन्धयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः"[4] पदसे पुत्रवती नारीका महत्त्व प्रकट हो जाता है।

१०. पुरुषार्थ-संस्था

पुरुषार्थका अर्थ है, वह वस्तु जिसे मनुष्य अपने प्रयत्नो द्वारा प्राप्त करना चाहता है। यतः मानव जीवनके वास्तविक स्वरूप, महत्त्व और लक्ष्यका निर्धारण पुरुषार्थ द्वारा ही होता है। अतएव प्रत्येक व्यक्तिको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना चाहिए। इन चारो पुरुषार्थोमे मोक्ष परम लक्ष्य है; अर्थ और काम उस लक्ष्य तक पहुँचनेके साधन है और इन साधनोंके समुचित प्रयोग करनेकी विधि धर्म है। धर्म मनुष्यकी पाशविक और दैविक प्रकृतिके बीचकी शृंखला है। यही अर्थ और कामको नियन्त्रित करता है।

मनुष्य जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंकी समस्त आवश्यकताएँ, इच्छाएँ और उद्देश्य पुरुषार्थके अन्तर्गत आ जाते है। इसमें सन्देह नही कि सामाजिक व्यवस्थामे धर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली अवधारणा है। यह जीवनको सुसंस्कृत और परिमार्जित करता है। मानवजीवनमे अनेक प्रकारकी इच्छाएँ एवं संघर्षात्मक आवश्यकताएँ होती है। धर्मका उद्देश्य इन समस्त इच्छाओं और आवश्यकताओ

१-२. आदि० ४७।५५-५६। ३. वही, ४७। १०१-१०२। ४. वही, ४३।७४।

को व्यवस्थित, नियमित एवं संयोजित करना है। अतएव धर्म वह है जो जीवन की विविधताओ, भिन्नताओ, अभिलाषाओं, लालसाओ, भोग, त्याग, मानवीय आदर्श एवं मूल्योको नियमवद्ध कर नियमितता प्रदान करता है। यह मनुष्यके नैतिक कर्त्तव्योकी ओर संकेत करता है।

धर्मके दो रूप है—वैयक्तिक शोधक—नियन्त्रक और सार्वजनीन शोधक—नियन्त्रक। वैयक्तिक धर्म सामायिक, स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, विकारनियन्त्रण, संयम एवं राग-द्वेष त्यागरूप है। व्यावहारिक धर्मके रूपमे देवपूजा, दान, सेवा, परोपकार, अतिथिसत्कार एवं अहिंसक आचार आदिको ग्रहण किया जा सकता है। वैयक्तिक धर्म साधना द्वारा व्यक्ति अपने जीवनको परिष्कृत कर समाजोपयोगी जीवन-यापन करनेके लिए अपनेको तैयार करता है। अत. वैयक्तिक धर्मको सामाजिक उपयोगिताकी दृष्टिसे साधन माना जा सकता है।

आदिपुराणके वर्ण्य विषयका निरूपण करते हुए वताया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मार्ग; मोक्षरूप इसका फल तथा धर्म, अर्थ और कामरूप विस्तारका वर्णन इस ग्रन्थमे किया जायगा।[1] स्पष्ट है कि आदिपुराणमे पुरुषार्थ चतुष्टयका निरूपण प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। जीवनके विधेय कर्त्तव्योंका निर्णय भी पुरुषार्थोके वर्णन प्रसंगमे सर्वत्र आया है।

इस ग्रन्थमे धर्मको एक वृक्ष कहा है, अर्थ इसका फल है और काम उसके फलोका रस है।[2] धर्म, अर्थ और कामको त्रिवर्ग कहते है, इस त्रिवर्गकी प्राप्तिका मूल कारण धर्मश्रवण है। धर्म ही अर्थ और कामकी उत्पत्तिका स्थान है। धर्मकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य ही धनी और सुखीहो सकता है। धन, सम्पत्ति, ऋद्धि और सुखका मूलसाधन धर्म ही है। धर्म कामधेनु, चिन्तामणिरत्न और कल्पवृक्ष है।[3] यही पतितसे मनुष्यको पावन वनाता है। स्वयं शान्तिपूर्वक जीवन यापन करना और अन्य व्यक्तियोको शान्तिपूर्वक जीवन यापन करने देना धर्मका ही कार्य है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य रूप धर्म सार्वभौमिक धर्मका रूप है।

जिनसेनने आदिपुराणमे वताया है कि शास्त्राभ्याससे मनुष्यकी धार्मिक प्रवृत्ति वृद्धिगत होती है, जिससे वह सम्पत्ति और काम इन दोनो वर्गोको नियन्त्रित कर सन्मार्गमे प्रवृत्त होता है। अर्थ पुरुषकी आवश्यकता है। न्याय-नीतिपूर्वक

१. मार्गो मार्गफलञ्चेति पुरुषार्थसमुच्चायः।—आदि० २।१२०। २. पश्य धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रस.। सत्रिवर्गत्रयस्यास्य मूलं पुण्यकथाश्रुतिः॥ धर्मादर्थश्च कामश्च स्वर्गश्चेत्यविगानतः। धर्म. कामार्थयोः सूतिरित्यायुष्मन्विनिश्चिनु॥ धर्मार्थी सर्वकामार्थी धर्मार्थी धनसौख्यवान्। धर्मो हि मूल सर्वासा धनर्द्धिसुखसम्पदाम्॥—वही, २।३१, ३२, ३३। ३ वही, २।३४, ३५, ३६, ३७।

अर्थार्जन करना गृहस्थका आवश्यक कर्त्तव्य है। अर्थ लौकिक जीवनकी समस्त आवश्यकताओंका साधन है। अर्थपुरुषार्थसे अभिप्राय भौतिक सुखों और आवश्यकताओंकी पूर्तिसे है। समस्त भौतिक उन्नतिके साधन इसी पुरुषार्थसे समवेत किये जाते है। धर्मनिरपेक्ष अर्थ सुखोका साधन नहीं हो सकता है और न इसके द्वारा समाजका आर्थिक उन्नयन ही सम्भव है। अतएव धनार्जन करते समय धार्मिक नियमोका पालन करना परम आवश्यक है। इसी प्रकार ऐन्द्रियिक विषयोंके सेवनके समय भी धार्मिक दृष्टि बनाये रखना जीवन-नियन्त्रणका साधन है।

११ चैत्यालय-संस्था

चैत्यालय प्राचीन समयसे संस्कृति और समाजोत्थानके केन्द्र रहे हैं। उनका अस्तित्व एक सामाजिक संस्थाके रूपमें पाया जाता है। कलाकारोंने अपनी सर्वोत्तम कृतियाँ समर्पित की, कवियोंने अपनी कविताएँ और संगीतज्ञोंने अपने गीत पहले-पहल चैत्यालयोंमें ही गाये। सुन्दरता, पवित्रता, ज्ञानाभ्यास यति-निवास एवं मनोरञ्जनकी एक साथ प्राप्ति चैत्यालयोंमे होती थी। धार्मिक और सामाजिक पञ्चायतें, शास्त्रसभाएँ, संगीत-वाद्यका आयोजन चैत्यालयोंमें होता था। चैत्यालय धार्मिक संस्थाके साथ सामाजिक संस्था भी थे। डॉ० राधाकृष्णन्‌ने लिखा है—

"विश्राम और रहस्योसे युक्त मन्दिरोके भवनोका सौन्दर्य, असगयुता तथा विस्मयका भाव जगानेवाली धुँधली ज्योतियाँ, गान और संगीत, मूर्त्ति और पूजा, इन सबमें व्यञ्जना (संकेत करने) की शक्ति है। सब कलाओं, वस्तु-कौशल, संगीत, नृत्य, कविता, चित्रकला और मूर्त्तिशिल्पका प्रयोग इसलिए किया जाता है कि हम धर्मकी उस शक्तिको अनुभव कर लें, जिसकी परिभाषा ही नही की जा सकती और जिसकेलिए कोई भी कला यथेष्ट वाहन नही है। जो लोग पूजामे भाग लेते है, वे उन ऐतिहासिक हिन्दू अनुभव और उन प्रगाढ़ आध्यात्मिक शक्तियोसे मिलकर एक हो जाते है, जिन्होंने हमारे आनुवंशिक उत्तराधिकारको गढ़ा है"।[1]

स्पष्ट है कि चैत्यालय एक संस्थाके रूपमे अभिप्रेत था। जिनसेनाचार्यने महापूत चैत्यालयका जो [illegible]र्णन किया है, उससे उसका संस्थाके रूपमे अस्तित्व सिद्ध होता है। पण्डि[illegible] आ[illegible] श्रीमती द्वारा निर्मित चित्रपटको लेकर महापूत चैत्यालयकी चित्र[illegible]पूर्ण एवं प्र[illegible]। यह चैत्यालय विभिन्न वर्णके पाषाणो द्वारा निर्मित हुआ था। [illegible]रता है। मान[illegible]वालोमें नाना प्रकारकी मणियाँ जटित थी।

१. धर्म और समा[illegible] [illegible]पाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सन् १९६१ ई०, पृ० १४५।

रातमे भी उनमे जटित मणियोके कारण प्रकाश वना रहता था। उस चैत्यालयमे मुनि गम्भीर शब्दोद्वारा स्तोत्रपाठ करते थे। शिखरोके अग्रभागपर नाना प्रकारकी पताकाएँ सुशोभित हो रही थी। उनके भीतर वजते हुए घण्टे लटक रहे थे, स्तोत्रपाठसे गम्भीर घोप हो रहा था, अनेक सुदृढ स्तम्भ उस चैत्यालयमे लगे हुए थे। पाठ करनेवाले मनुष्योके पवित्र शब्दोके साथ वन्दना करनेवाले व्यक्तियोंका जयघोप भी मेघध्वनि कर रहा था। विद्याधर, शास्त्राभ्यासी, ऋद्धिधारक मुनि अपनी नित्यनियम सम्वन्धी क्रियाओका सम्पादन कर रहे थे। पण्डिता धायने इसी चैत्यालयकी चित्रशालामे अपना चित्रपट फैला दिया[1]। इस चित्रपटको साधारण दर्शकोके अतिरिक्त वासव और दुर्दान्त नामक[2] धूर्तोने भी देखा था तथा अपने मनके अनुसार उस चित्रपट की व्याख्या की थी। सवसे अन्तमे उस चित्रपटको वज्रजंघने देखा सौर अपने पूर्वभवकी स्मृतिके आधारपर उसकी व्याख्या स्पष्ट की और अपना चित्रपट भी दिया।

श्रीमती और वज्रजंघने विवाहके अनन्तर इस महापूत जिनालयमे मुनियोके दर्शन किये और सुवर्णमयी प्रतिमाओके अभिपेक पूर्वक पूजन, स्तुतिपाठ आदि भक्तिकार्य सम्पन्न किये[3]।

चैत्यालयके उपर्युक्त वर्णनसे निम्न लिखित तथ्य प्रसूत होते है—

१ चैत्यालयमे चतुर्विध संघ निवास करता था; प्रधानतः मुनि या त्यागीवर्ग चैत्यालयमें आकर ठहरता था।

२. मुनि और त्यागी वर्ग स्तोत्रपाठ करता था तथा चैत्यालय स्तोत्रपाठसे गुंजारित रहते थे।

३. शास्त्रागार भी मन्दिरोमे रहते थे। स्वाध्यायशालामे वैठककर दर्शनार्थी स्वाघ्याय करते थे। मुनियोका धर्मोपदेश भी श्रवण करते थे।

४. चित्रशाला भी चैत्यालयोमे रहती थी, इस चित्रशालामे पुराने चित्रोके साथ नवीन चित्र भी संकलित किये जाते थे। दर्शनार्थी भगवान्के दर्शनके पश्चात् चित्रशालामे भी जाते थे और नवीन चित्रोपर अपनी सम्मति प्रकट करते थे।

५. संगीत और नाटचशालाका प्रवन्ध भी चैत्यालयमे रहता था। भगवान्के दर्शन, पूजनके अनन्तर संगीत द्वारा दर्शनार्थी अपना मनोरञ्जन भी करते थे। भगवान्के समक्ष नृत्य-गान करने वाले भी रहते थे।

६. वासव, दुर्दान्त एवं वज्रजंघ द्वारा चित्रपर प्रकट किये गये अभिमतसे

---

१. आदिपुराण ६।१७९-१९३। २. वही ७।११२-११५। ३. वही ७।२७२-२६०।

यह प्रकट होता है कि धार्मिक चेतनाके साथ सामाजिक चेतनाकी प्रेरणा भी चैत्यालयोंसे प्राप्त होती थी।

७. चैत्यालयोंमे भक्तोंकी भीड़ सदैव बनी रहती थी।

८. चैत्यालय कई कक्षोमे विभक्त रहता था, जिन कक्षोमें कई प्रकारकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ सम्पन्न की जाती थी।

९. चैत्यालयमें सामाजिक विषयोंकी चर्चा एवं सामाजिक समस्याओंके के निर्णय भी किये जाते थे।

अतएव चैत्यालय धार्मिक संस्थाके साथ सामाजिक संस्था भी था। इसपर वैयक्तिक स्वत्व न होकर सामाजिक स्वत्व माना जाता था। व्यक्तिविशेषद्वारा चैत्यालयका निर्माण कराये जाने पर भी स्वत्व सामाजिक ही रहता था।

इस प्रकार जिनसेनने अपने आदिपुराणमे मानव-जीवनके परिष्कारके लिए उक्त सामाजिक संस्थाओका प्रतिपादन किया है। इन संस्थाओं द्वारा जीवनकी कुत्सित वृत्तियोका निषेधकर सुसंस्कारो एवं सामाजिक दायित्व और कर्त्तव्योंका भी परिज्ञान कराया गया है। यद्यपि जिनसेनकी दृष्टिमे आत्माको परमात्मा बनानेका चरम आदर्श उपस्थित था तो भी उन्होंने समाजको सुदृढ करनेके लिए वर्णाश्रम, कुल आदिकी व्यवस्था प्रतिपादित की है।

अध्याय : ४

सांस्कृतिक जीवन

प्रथम परिच्छेद

भोजन-पान एवं अन्य उपभोग्य सामग्रियाँ

जीवनमूल्यों और उन मूल्य दृष्टियोका विवेचन संस्कृति कहलाता है। वस्तुत: संस्कृति उन गुणोका समुदाय है, जिन्हे मनुष्य अनेक प्रकारकी शिक्षा एवं अपने सद्प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करता है। संस्कृतिका सम्बन्ध मुख्यत: मनुष्यकी वुद्धि, स्वभाव और मनोवृत्तियोंसे है।

संस्कृति जीवनका एक तरीका है। यह तरीका सदियोसे जमा होकर उस समाजमें व्याप्त रहता है, जिसमे हम जन्म ग्रहण करते है। मन, आचार एवं रुचियों-का परिष्करण संस्कृतियोके अन्तर्गत समाविष्ट है। मनुष्यकी समस्त भूपण-भूत चेष्टाएँ संस्कृतिमे परिगणित की जाती हैं। यत. इन चेष्टाओं द्वारा ही चेतना प्रवुद्ध होती है और यह प्रवुद्ध चेतना जीवन मूल्योको समझनेके लिए प्रेरित करती है। अतएव संस्कृति मानवीय व्यक्तित्वकी वह विशेपता या विशेषताओका समूह है, जो व्यक्तिके व्यक्तित्वको सभी दृष्टियोसे महत्त्वपूर्ण वनाता है। जो व्यक्ति जीवनके दर्शनको समझना चाहता है, उसे अपने प्राकृतिक जीवनको सांस्कृतिक जीवनके रूपमे परिवर्त्तित कर देना पड़ता है। अतएव सौन्दर्यवोध, जातीय चेतना, जीवन-मूल्य, आध्यात्मिक विकासकी गणना संस्कृतिमे की जाती है। शव्दकोपमे संस्कृति-की परिभाषा वतलाते हुए लिखा है—"संसारमे जो भी सर्वोत्तम वाते जानी या कही गयी हैं; उनसे अपने आपको परिचित करना संस्कृति है।" एक दूसरी परिभापामें यह कहा गया है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियोका प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।"[1]

---

१. संस्कृतिके चार अध्याय—श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखित प्रस्तावना, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, द्वितीय सस्करण पृ० १।

संस्कृति ही मानवताकी प्रतिष्ठायिका है। यही असत्यसे सत्यकी ओर, अन्धकारसे ज्योतिकी ओर, मृत्युसे अमरत्वकी ओर, अनैतिकतासे नैतिकताकी ओर अग्रसर करती है। मानव हृदयमे अहर्निश सम्पन्न होनेवाले देवासुर-संग्रामके मध्य आसुरी वृत्तियोको दबाकर दैवी वृत्तियोका उद्‌बोधन संस्कृतिकी सहायतासे होता है। संस्कृति मानवताको परिष्कृतकर उसमें सुविचारोका अंकुर उत्पन्न करती है और यही अंकुर कालान्तरमें कल्पपादप बन सुस्वादु फलोको प्रदान करता है। अतएव भोजनपान, आहार-विहार, वस्त्राभूपण, क्रिया-कलाप आदिको सुसंस्कृत कर जीवन यापन करना सास्कृतिक प्रेरणाका प्रति फल है। मानवता अपने आन्तरिक भावतत्त्वोसे ही निर्मित होती है और इन भावतत्त्वोका विकास मनुष्यकी भूषणभूत चेष्टाओ द्वारा होता है।

आदिपुराणमे सास्कृतिक जीवन यापनके लिए पूर्ण प्रयत्न किया गया है। पुराणकारोने आहार-पान, रहन-सहन एवं रीति-रिवाजोके परिष्करणपर पूरा जोर दिया है। उन्होंने सुसंस्कृत भोजनपान एवं सुसंस्कृत जीवन-क्रियाओंपर प्रकाश डाला है। संस्कृतिका जहाँ कलादर्शन एवं आचारके साथ सम्बन्ध है, वहाँ भोजन-पान एवं वस्त्राभूपण आदिके साथ भी है। शरीर, मन और आत्मा इन तीनोंको संस्कृत—अलंकृतकर उच्चतम जीवनमूल्योको प्राप्त करना ही सांस्कृतिक जीवनका लक्ष्य है।

भोजन और पान द्वारा शरीरकी पुष्टिके साथ मन एवं मस्तिष्कका भी संवर्द्धन होता है। हम जैसा भोजन करते है, वैसे ही हमारे विचार और क्रिया-कलाप होते जाते है। सात्त्विक भोजन करनेवाले व्यक्तिके विचार अहिंसक होते हैं। वह अपने कार्य व्यापारों द्वारा अन्य व्यक्तियोके कार्योंमे सहायक और सहयोगी वनता है। लोकमे भी कहावत प्रसिद्ध है कि 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी वैसी होवे वानी'। अत. भोजन-पानकी शुद्धि एवं समृद्धि सास्कृतिक जीवन यापन करनेके लिए आवश्यक है। विवेकद्वारा ही व्यक्ति खाद्य, अखाद्य, पेय, अपेय आदिका विचार करता हैं। सुन्दर सुखादु पक्वान्न उसकी सास्कृतिक चेतनाके ही फल है। जिस समाजके व्यक्ति जितने अधिक सुसंस्कृत होते है; उस समाजका भोजन-पान एवं रहन-सहन उतना ही अधिक उन्नत होता है। हम चौकेको देखकर व्यक्तिके सांस्कृतिक जीवनका पता लगा सकते है। यद्यपि समृद्ध भोजनका सम्बन्ध सभ्यताके साथ है, संस्कृतिके साथ नही, पर सौन्दर्य एवं ऐन्द्रियिक रुचि परिष्कार उसे सांस्कृतिक कोटिमे ही ले आते है। इस प्रकार सभ्यता भी अपनी सीमाके क्षेत्रको संस्कृतिके क्षेत्रमे मिला देनेके लिए प्रयत्नशील रहती है। वर्गीकरणकी दृष्टिसे हम आहार-पान और वस्त्राभूषणोंको

भौतिक संस्कृतिमे परिगणित कर सकते है और भावविचार एवं सौन्दर्य-बोधोंको आध्यात्मिक संस्कृतिमे अन्तर्भूत किया जा सकता है।

आदिपुराणमे भोजन-सामग्रीकी शुद्धि[1] स्वीकार की गयी है। बताया गया है कि स्नानके अनन्तर[2] भोजन ग्रहण किया जाता है और भोजन आसनपर बैठकर[3] ही ग्रहण करना सांस्कृतिक दृष्टिसे उपादेय माना गया है। भोजन शरीर-शुद्धिके पश्चात् ही ग्रहण करना उचित है।

भोजन-सामग्री खाद्य, स्वाद्य और भोज्य इन तीन[4] रूपोमे विभक्त मिलती है। खाद्यके अन्तर्गत लड्डू आदि पदार्थ परिगणित है, स्वाद्यमे पान, सुपाड़ी, जावित्री, केशर लवंगादि पदार्थ ग्रहण किये गये है और भोज्यमे रोटी, चावल, दाल आदि पदार्थ परिगणित है। शरीर-पुष्टिके लिए अमृतके समान सुस्वादु, षट्-रसमय भोजनको उपादेय माना गया है। आदिपुराणके एक अन्य सन्दर्भमे चार प्रकार[5] के भोज्य पदार्थ माने हैं—असन, पानक, खाद्य और स्वाद्य। खाद्य और स्वाद्य तो वे ही पदार्थ है, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। असनके अन्तर्गत उन पदार्थोकी गणना की गयी है, जिन्हे पूर्वमे भोज्य कहा है। पानकमें दूध, जल, शरबत आदि पदार्थ गृहीत किये हैं।

षट्रसोमें[6] कटु, अम्ल, तिक्त, मधुर, कषाय और लवणको गिनाया गया है। षट्रस भोजनकी चर्चा भारतीय साहित्यमे सर्वत्र उपलब्ध होती है। भोजनके सम्बन्धमे यहाँ यह स्मरणीय है कि आचार्योने सुस्वादु, पुष्टिकर, हितकर एवं भक्ष्य भोजनपर ही जोर दिया है।

आदिपुराणमें जिस भोजन-सामग्रीका उल्लेख आया है, उसे हम निम्नलिखित तीन वर्गोमें विभक्त कर सकते है—

१. अन्न भोजन।

२. पक्वान्न भोजन।

३. फलभोजन।

अन्नभोजन

आदिपुराणकी दृष्टिमे अन्न-भोजनका विशेष महत्त्व है। इसमे कई प्रकारके चावलोंका निर्देश आया है। चावलकी सात जातियाँ विशेष प्रसिद्ध रही है—

साठी[7]—यह चावलका वह प्रकार है, जो वर्षाऋतुमे शीघ्र ही फल देता है। साठ दिनोमें पककर तैयार होनेके कारण इसे साठी कहा जाता है।

---

१. आदिपुराण २०।८६। २. वही २०।२१। ३. वही २०।२१। ४. वही २०।२४। ५. वही ९।४६। ६. वही ६।४६। ७. वही ३।८६।

शालि[1]—चावलका वह प्रकार है जिसका पौधा रोपा जाता है और जो हेमन्त ऋतुमे तैयार होता है। यह चावल खानेमें स्वादिष्ट और पुष्टिकर होता है।

कलम[2]—कलमदान नामक चावल लम्बे दानेका होता है। यह चावल वजनमे भी अन्य चावलोको अपेक्षा अधिक भारी माना जाता है। कलमदान महीन और सुगन्धित होता है। इस चावलका भात स्वादिष्ट तो होता ही है, सुगन्धित भी रहता है। वर्त्तमान कलमदानकी अपेक्षा कलम नामक चावल अधिक अच्छा होता था।

व्रीहि[3]—चावल वर्षाके दिनोंमें तैयार होनेवाला चावल है। इसकी फसल प्राय: भादो या आश्विन मासमे आती है। व्रीहिकी प्रसिद्धि प्राचीन भारतमें अत्यधिक रही है, इसी कारण 'द्रोणो व्रहि'[4] जैसे प्रयोग व्याकरणके क्षेत्रमें भी प्रसिद्ध रहे हैं।

सामा[5]—धान विना वोये ही उत्पन्न होता है। यह एक प्रकारसे निर्धन व्यक्तियोंका भोजन माना जाता है। प्राचीन ऋषि महर्षि भी जंगलमे उत्पन्न होनेवाले सामा धानका उपयोग करते थे। सामाकी उत्पत्तिके लिए किसी भी प्रकारका प्रयास या प्रयत्न नही किया जाता है।

नीवार[6]—का व्यवहार प्राचीन भारतमे विशेष रूपसे होता था। महाकवि कालिदासने अभिज्ञानशाकुन्तलमे नीवारका प्रयोग[7] किया है। यह निकृष्ट श्रेणी-का चावल माना गया है। इसकी उत्पत्ति जंगलोमे विशेष रूपसे होती थी। वर्त-मानमे इसे तिन्नी धान कहते है और फलाहारीमे इसका उपयोग किया जाता है।

अक्षत[8] और तण्डुल[9] का प्रयोग आदिपुराणमें अनेक स्थानोपर उपलब्ध होता है। चावलके कई प्रकार वर्णित मिलते है। पूर्वोक्त प्रतिपादित कलम, साठी, व्रीहि आदि चावलके ही भेद हैं। आदिपुराणकारने चावलके प्राय: समस्त भेदो-की चर्चा की है। अक्षत अखण्ड चावलोको कहा गया है और तण्डुल शब्दका प्रयोग भी इसी अर्थमे आया है।

श्यामाक[10]—धान्य बहुत ही प्रसिद्ध रहा है। कालिदासने भी अपने अभिज्ञान-

---

१ आदिपुराण ४।६०। २ वही ३।१८६। ३. वही ३।१८६। ४. 'द्रोणरूप यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थ.'—सि० कौमुदी कारक प्रक० २।३।४६। ५ आदिपुराण ३।१८६ ६ वही ३।१८६। ७. 'नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति' अ० शा० अंक २ पृ० ३५। 'प्रति-ष्ठितनीवारहस्ताभि.' वही अंक ४ पृ० ६५ 'नीवारभागधेयोचितै:' रघुवंश १।५०। ८. आदिपुराण ११।१३५। ९ वही ३।२२५। १०. आदिपुराण ३।१८६।

शाकुन्तलमे श्यामाक[1]का प्रयोग किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलके टीकाकार राघवभट्टने इसको धान्यविशेष कहा है।

कोदो[2]—को आदिपुराणकारने कोद्रवक कहा है। यह साँवा जातिका एक मोटा चावल होता है। कोदोंका भोजन प्राय. निर्धन व्यक्ति ही करते है।

यव[3]—प्राचीन भारतका एक विशेप अन्न रहा है। इसका प्रयोग विवाह आदि मागलिक अवसरो पर भी किया जाता था। यवाङ्कुर विलासी व्यक्तियोके लिए वसन्त ऋतुमे विलासके केन्द्र थे। रघुवंश महाकाव्य मे[4]भी यवका प्रयोग उपलव्ध होता है। वैदिक साहित्यमे यवान्न विशेपरूपसे वर्णित मिलता है।

गोधूम[5]—उत्तरी भारतका प्रमुख खाद्यान्न है। पश्चिमी भारतमे इसकी उपज वहुतायतसे होती है। गोधूमका निर्देश कालिदासके ग्रन्थोमे नही मिलता है। यह सवसे प्रमुख खाद्यान्न है।

तिल[6]—प्राचीन खाद्यान्नोमें यव, गोधूम और चावलके अतिरिक्त तिल प्रयुक्त किया जाता था। संस्कृतवाङ्मयमे तिलको हवन आदि कार्योमे विशेपरूपसे व्यवहृत माना गया है। मृत्यु होनेपर तिलकी अञ्जलि देनेकी प्रथा प्रचलित थी।

मसूर[7]—की गणना दलहन अन्नोंमे की जाती है। अर्थात् यह दाल वनानेके लिए प्रयोगमे लाया जाता है। मसूर अन्न मनुष्योंके साथ पशुओको भी खिलाया जाता है।

मुद्ग[8]—अर्थात् मूंगका प्रयोग समस्त भारतमें पाया जाता है। यह भी दलान्न ही है। मूंगकी दाल एवं उसके द्वारा अनेक प्रकारके खाद्य पदार्थ प्रस्तुत किये जाते है।

अतीसी[9]—का दूसरा नाम अलसी है। इसे तिलान्न कहते है। तिलके समान अलसीका प्रयोग भी तैल और खाद्य दोनो रूपोमे किया जाता था।

माष[10]—उड़द भी दलान्न है। इसकी उपयोगिता दालकी दृष्टिसे सर्वाधिक है। यह अत्यन्त पौष्टिक खाद्यान्न है।

आढकी[11]—अरहरके अर्थमे आढ़कीका प्रयोग आया है, यह दलान्न है। सर्वसाधारणमे आढकीका प्रचार पाया जाता है।

---

१. श्यामाकपुष्टिपरिवर्धितको...अ० शा० ४।१४. २. आदिपुराण ३.१८५। ३. वही ३।१८६। ४. रघु० ९।४३, १७।१२। ५. आदिपुराण ३।१८६। ६. वही, ३।१८७। ७. वही, ३।१८७। ८. वही, ३।१८७। ९. वही, ३।१८७। १०. वही ३।१८७। ११. वही ३।१८७।

राजमाष[1]—उडदके अर्थमें प्रयुक्त है। राजमाषको अलमान्द्र भी कहा गया है। हिन्दीमें रोंसा कहा जाता है।

निष्पाव[2]—मोंठके अर्थमें प्रयुक्त है। यह दलान्न है, इसका उपयोग दाल-के रूपमें किया जाता है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे मोंठकी दाल पथ्य मानी गयी है।

चना[3]—उत्तर भारतका प्रसिद्ध खाद्यान्न है। यों तो इसका प्रचार समस्त भारतमें है, पर उत्तरमें इससे नाना प्रकारके खाद्यपदार्थ तैयार किये जाते हैं।

कुलित्थ[4]—कुलथी एक विशेष प्रकार का अन्न है।

त्रिपुट[5]—हिन्दीमें इसे तेवरा कहते हैं।

वरका[6]—मटर एक उपयोगी खाद्य है।

पक्वान्न

पक्वान्नका व्यवहार प्राचीन कालसे चला आ रहा है। आगम साहित्यमें भी पक्वान्नोंकी नामावली उपलब्ध होती है। इसे मधुरान्न भी कहा जाता है। आदिपुराणमें कुछ ही पक्वान्नोंके नाम आये हैं।

महाकल्याणभोजन (आदि० ३७।१८७)

चक्रवर्तीके दिव्य भोजनोंमें महाकल्याणभोजनका नाम आया है। यह पुष्टि-कर और स्वादिष्ट होता था। इस भोजनमें खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय सभी प्रकारके अद्भुत भोजन एकत्र रहते थे।

अमृतगर्भमोदक (आदि० ३७।१८८)

अत्यन्त गरिष्ठ स्वादिष्ट सुगन्धित और रुचिकर पदार्थोंसे अमृतगर्भमोदक बनाये जाते थे, ये मोदक समान्य व्यक्तियोंके लिए दुष्पाच्य थे, केवल चक्रवर्ती ही उनका उपभोग कर सकता था।

अमृतकल्पखाद्य (आदि० ३७।१८९)

यह स्वाद्य हृदयको प्रिय और सुखकर था, इसे अनेक प्रकारके सुस्वादु लवंग, इलायची, दालचीनी आदि पदार्थोंसे सुसंस्कृत किया जाता था। इस खाद्यका सेवन सामान्य व्यक्ति नहीकर सकते थे, यह केवल चक्रवर्तीके लिए ही ग्राह्य था।

अपूप[7]—पुआ भारतका बहुत पुराना पक्वान्न है। गेहूँके आटेको चीनी और पानीमे मिलाकर घीमें मन्दी-मन्दी आँचसे उतारे हुए मालपुए अपूप कह-लाते थे। अपूप कई प्रकारके बनाये जाते थे। गुडापूप गुड डालकर बनाये जाते

---

१. आदिपुराण ३।१८७। २. वही ३।१८७। ३. वही ३।१८७। ४. वही ३।१८८। ५. वही ।३।१८८। ६. वही ८।१८६। ७. वही ८।२३६-२३७।

थे और तिलापूप चावलके आटेमें तिल डालकर तैयार किये जाते थे। ये आज-कलके अँदरसेके तुल्य होते थे। भ्रष्टा अपूप आजकलकी नानखटाई या खौरी है। भाड़मे रखकर इनको सेका जाता था। चीनी मिलाकर बनाये हुए भ्रष्टा अपूप वर्तमान बिस्कुटके पूर्वज हैं। चूर्णिन अपूप गूझे या गुझिया हैं। ये कसार या आटा भीतर भरकर बनाये जाते थे।

गुड[1]—गुडका व्यवहार विभिन्न प्रकारके खाद्यान्नोको तैयार करनेकेलिए किया जाता था। गुड स्वयं ही खाद्य है। गन्नेके रसको औटाकर गुड, राब और चीनी बनायी जाती थी। गुडसे अपूप, गुडधाना, पलल (तिलकुट) आदि मधुरान्न निर्मित किये जाते थे।

विष्वाण[2]—इस प्रकारके भोजनको कहा जाता था, जिसमे पञ्च पक्वान्न सम्मिलित रहते थे। इस भोजनमें मोदक, पायसान्न, सन्तानिका—जलेबी, दधि-शर्करा (श्रीखण्ड) एवं शष्कुलीका रहना आवश्यक माना जाता था।

आदिपुराणमें कादाम्बिक[3]—हलवाईका उल्लेख आया है, अतः विभिन्न प्रकारके मधुरान्नोका व्यवहार करना नितान्त स्वाभाविक है।

सर्पिगुडपयोमिश्रशाल्योदन (४६।३१३)—पक्वान्नोंमे घृत, गुड और दूध मिश्रित शालिचावलोका भात विशेष प्रिय माना गया है। इस प्रकारके भातको सर्वाधिक स्वादिष्ट बनाया जाता था। एक प्रकारसे यह मीठा भात होता था।

व्यञ्जन[4]—"व्यञ्जनं येनान्नं रुचिमापद्यते तद्दधिघृतशाकसूपादि." अर्थात् जिन पदार्थोके मिलानेसे या साथ खानेसे खाद्य पदार्थमे रुचि अथवा स्वाद उत्पन्न होता है, वे दधि, घृत, शाक और दाल आदि पदार्थ व्यञ्जन कहलाते है। व्यंजन-का व्यवहार किये जानेका उल्लेख आदिपुराणमे कई स्थानोपर प्राप्त है। व्यञ्जन नाना प्रकारके बनाये जाते थे। व्यञ्जनोसे भोजन स्वादिष्ट और रुचिवर्धक बनता था।

सूप[5]—दालका व्यवहार पाणिनिसे भी पूर्व होता था। पाणिनिने सूपका प्रयोग किया है। आचार्य हेमचन्द्रके व्याकरणमे "लवणेन संसृष्टो लवण. सूप." (६।४।५), 'घार्तिकःसूप.' (६।४।८) प्रयोग पाये जाते हैं। अरहर, मूँग, उड़द, मटर, मौठ, चना और मसूर प्रभृति दालोके नाम आदिपुराणमे समाविष्ट है।

फल

फल-भोजनका वर्णन भी आदिपुराणमे उपलब्ध होता है। फलोमे आम्र,

---

१. आदि० २०।२७७। २. वही ३६।११२। ३. वही ८।२३४। ४. वही ३।२०२। ५. वही १२।२४३।

जम्बू आदि प्रमुख रूपसे गिनाये गये हैं। अतिथिसत्कारकेलिए अथवा किसीसे भेंट करते समय फलोंका व्यवहार किया जाता था।

आम्र[१]—यह प्रसिद्ध फल है। इसका कच्चे और पके दोनो रूपोंमें प्रयोग किया जाता है। खानेके अतिरिक्त इसका अचार, मुरब्बा आदि भी बनाया जाता है।

जम्बू—जामुन का फल स्वास्थ्यके लिए विशेष गुणकारी माना गया है।[३]

पनस[२]—कटहलकी उत्पत्ति दक्षिण भारतमे विशेष रूपसे होती है। इसकी सब्जी बनायी जाती है, पर पकनेपर इसका प्रयोग फलके रूपमे किया जाता है।

लकुच[४]—यह एक प्रकारका फल है, सम्भवतः इसे लीची कहा जा सकता है।

केला[५]—कदली फलका व्यवहार प्रायः समस्त भारतमे होता है। इसे मांगलिक फल माना गया है।

दाडिम[६]—अनारका व्यवहार अत्यन्त गुणकारी माना जाता है।

मातुलिंग[७]—बिजौरा एक प्रकारका मीठा नीबू है। इसका प्रयोग सूत्रकाल-से ही चला आ रहा है।

कुवलीफल[८]—बैरका फल उत्तर भारतमे विशेप उत्पन्न होता है। यह मीठा और खट्टा दोनो ही प्रकारका फल है।

नालिकेर[९]—नारियलका व्यवहार खाने और मांगलिक कार्य तथा पूजा आदिके अवसरपर पाया जाता है।

पूगी[१०]—सुपाडीका प्रयोग पूजा, प्रतिष्ठा एवं प्रत्येक मांगालिक अवसरके अतिरिक्त मुख-शुद्धिके हेतु किया जाता था।

अमृतपानक—(आदि० ३७।१८९)

भरत चक्रवर्तीके पेय पदार्थोमें अमृत पानकका निर्देश आया है। यह पानक यों तो दिव्य है, पर इसका प्रस्तुतीकरण दुग्ध, कुंकुम, कस्तूरी एवं अन्य मधुर और सुगन्धित पदार्थोंके संयोगसे किया जाता था। स्वाद और गुण दोनोमे ही यह अमृतके समान था।

मोच[११]—कदलीफलके लिए मोचका प्रयोग हुआ। यह विशेप प्रकारका केला है।

क्रमुक[१२]—सुपाडी विशेप है।

---

१. आदि० १७।२५२। २. वही १७।२५२। ३. वही १७।२५२; ३०।१९। ४. वही १७।२५२। ५ वही १७।२५२। ६. वही १७।२५२ ७ वही १७।२५२। ८. वही १७।२५२। ९. वही १७।२५२; ३०।१३; २९।११८। १०. वही ३०।१३। ११. वही १७।२५२। १२. वही १७।२५२।

इसके अतिरिक्त कतिपय व्यक्ति मांसाहार[1] भी करते थे। यद्यपि आदिपुराणकी दृष्टिमे इस प्रकारका आहार अभक्ष्य और अखाद्य माना गया है, पर समाजके कतिपय सदस्योमे इसका व्यवहार होता था। मांस तीन प्रकारका होता है—पशु-मांस, पक्षी-मांस और मत्स्य। पशुओमे सिंह, व्याघ्र, हिरण, शूकर, अरण्य-महिष आदिका मास प्रमुख है। शिकारी पशु और पक्षी इन दोनोंका ही मांस लाते थे। दूकानोंपर भी विक्री होती थी। घृत[2] और सर्पि[3] का व्यवहार भी किया जाता था।

पेय पदार्थ

आदिपुराणमे विभिन्न देशोंका उल्लेख उपलब्ध होता है। हैमव्याकरणसे इन देशवासियोके रुचिकर पेय पदार्थोपर प्रकाश पड़ता है। बताया है—,'पुनः पुनः क्षीरं पिबन्ति क्षीरपायिण. उशीनरा. (हेम० ५।१।१५७; २।३।८०); तक्रपायिणा. सौराष्ट्राः; कषायपायिणो गान्धाराः; सौवीरपायिणो वाल्हीकाः (५।१।१५८; २।३।७७) तथा सुरापाणाः प्राच्या. (हेम० २।३।७०) अर्थात् उशीनर देश निवासी दूध पीनेके शौकीन, सौराष्ट्र निवासी मट्ठा पीनेके शौकीन और गान्धार निवासी कषाय रसके पीनेके शौकीन थे। वाल्हीक-मद्र देश वासियोमे सौवीर—कांजी पीनेकी प्रथा एवं प्राच्य देशोमे सुरा पीनेकी प्रथा प्रचलित थी। कषायरस आजकलकी चायका प्रतिरूप था।

आदिपुराणमे दूध पीनेका निर्देश क्षीर,[4] पय[5] और दुग्धके नामसे आया है। 'क्षीर स्यत्' (२६।४२) का प्रयोग दूध पीनेकी इच्छा रखनेवालेके अर्थमे किया है। इसमे सन्देह नही कि आदिपुराणके समयमे दूधका उपयोग अधिक रूपमे होता था। दूध देनेवाली गायोकी व्यवस्थाका वर्णन भी आया है।

सुरा[6] (मदिरा)—तत्कालीन भारतीय समाजमे मदिरा या सुरा पीनेकी प्रथा प्रचलित थी। कामक्रीडाके सहायक द्रव्योमे इसकी प्रमुखता बतलायी है। आदिपुराणमे स्त्री और पुरुप दोनो मे सुरापान सम्बन्धी उदाहरण उपलब्ध होते है। सुरा कई प्रकारकी होती थी।

मैरेय[7]—सम्भवत. यह मदिरा मिरा देशमे तैयार की जाती थी। इस प्रकारकी मदिरा अधिक मद उत्पन्न करती थी तथा इसे सुवासित भी किया जाता था।

सीधु[8]—यह मदिरा राव या गुड़से तैयार की जाती थी। कालिदासने रघुवंशकाव्यमे इसका निर्देश किया है। उत्तम प्रकारकी मदिराओमे इसकी गणना की गयी है।

---

१. आदि० ५।३४। २. वही ८।२२५। ३. वही २०।१७७। ४. वही २०।१७७। ५. वही १३।१६३। ६. वही ३६।८७। ७. वही ६।३७। ८. वही ६।३७।

अरिष्ट[1]—द्राक्षा, गुड आदि पदार्थोको गर्म करनेके उपरान्त अरिष्ट तैयार किया जाता है। यह नशा उत्पन्न नही करता। इसमे जड़ी-बूटियोंका भी उपयोग किया जाता है।

आसव[2]—यह द्राक्षा, गुड, चावल आदि पदार्थोको सड़ाकर बनाया जाता है। इसका प्रयोग स्वास्थ्यवृद्धिके लिए करते थे।

नारियलकी मदिरा भी बनती थी (३०।२५)। इस मदिराका नशा सर्वाधिक होता था।

इक्षुरस[3]—इक्षुरसका आहार राजा श्रेयासने आदि तीर्थंकरको भी दिया था। इक्षुरसके पानका प्रचार आदिपुराणके भारतमे सर्वत्र था।

पुण्ड्रेक्षुरस[4]—पौंडा नामक गन्नेका रस। इस श्रेणीके गन्नेमें अधिक रस निकलता है और यह अधिक मधुर भी होता है। नारियलके रसपान (३०।२०) का भी उल्लेख आया है।

अन्य उपभोग्य पदार्थ

अन्य उपभोग्य पदार्थोमें एला[5] (इलायची), लवंग[6] (लौंग), ताम्बूल,[7] कर्पूर[8] प्रभृति पदार्थोका उपयोग किया जाता था। मसालोमें हरिद्रा[9] (हल्दी), लौंग[10], मिरच[11], सरसो[12], धनियाँ[13] और जीराका[14] उपयोग सर्वत्र प्रचलित था। नमक मसालेका आवश्यक अंग माना गया है। रससेवनका[15] प्रचार भी परिलक्षित होता है। भोजन[16] सामग्रीके सन्दर्भमे भोज्य पदार्थोके साथ नमक, मिरच, धनियाँ प्रभृति मसाले भी ग्राह्य बतलाये गये है। पीथ[17] दूधसहित मक्खनके अर्थमे आया है।

भोजनशालामें प्रयुक्त पात्र

आदिपुराणमे भोजन बनानेके लिए व्यवहृत पात्रोंका भी कथन प्राप्त होता है। निम्नलिखित पात्रोंके नाम आये है—

स्थाली—(आदि० ३।२०४; ९।४७)—थाली

चषक (आदि० ९।४७)—प्याला या कटोरा

उष्ट्रिका (आदि० १०।४४)—कटाह-कढाहा

पिठर (आदि० ५।७२)—बटलोई

कलश (आदि० १६।६५)—जल भरनेका घड़ा

---

१. आदि० ६।३७। २. वही ९।३७। ३. वही १६।२६। ४. वही, १६।७३। ५. २६।९९, २६।१००। ६. वही, १६।६९। ७. वही, २६।८१, ५।१२६। ८. वही, ३१।०१। ९. वही, ३६।२१। १०. वही, २६।९६, ३०।३०। ११. वही, ३०।२१, ३०।२२। १२. वही, ३०।१८७) १३. वही, ३।१८७। १४. वही, ११।१८७। १५ वही ११।८६। १६. वही, २०।२ १७. वही, २७।२६।

पार्थिव (आदि० ३५।१२६)—मिट्टीका जल भरनेका घडा ।

भृंगार (आदि० ९।४७, १३।६७) झारी या सागर ।

करक या करवा (आदि० ९।४७)—नारियल द्वारा निर्मित कमण्डलुके आकारका जलपात्र ।

शुक्ति-आकृति-पात्र (आदि० ९।४७)—किनारेदार कटोरे, जिनमे जलादि-पदार्थोको गिरानेके लिए निश्चित स्थान बना रहता है ।

कुण्ड या कुण्डा (आदि० ४२६।४६)—पत्थरका कठौता ।

स्वर्णकुम्भ (आदि० ४३।२१०)—स्वर्णकुम्भ—अवसर विशेषपर इस प्रकारके कलशोका उपयोग होता था ।

वरत्रा (आदि० ३५।१४९)—मजबूत रस्सीके अर्थमें प्रयुक्त है । संभवतः यह चर्म द्वारा बनायी जाती थी ।

●

द्वितीय परिच्छेद

वस्त्र

संस्कृतिके अन्तर्गत वस्त्रोंका पहिराव भी आता है । आदिपुराणमे वस्त्रोंका जैसा वर्णन है, उससे सिले हुए कपड़े पहननेपर कोई विशेप प्रकाश नही पडता । दुकूल, अंशुक, उत्तरीय, उष्णीश, स्तनांशुक, स्तनपट्ट आदिके नाम मिलते है । आदिपुराणमें वसन[1] और वस्त्र[2] दो शब्दोंका प्रयोग आता है । ये दोनों शब्द अपना-अपना पृथक् अर्थ रखते है । यों तो सामान्यतया दोनों एकार्थवाची हैं, पर इनमें अर्थ-भेद निहित है । हमारी समझसे वसन बिना सिले कपडेकेलिए और वस्त्र सिले हुए कपड़ोंके लिए प्रयुक्त हुआ है । प्राचीनकालमे ढीले-ढाले वस्त्रोका व्यवहार किया जाता था । वसन यों ही लपेटनेके काममे आता था, पर वस्त्र विशेप अवसरोपर सौन्दर्य प्रसाधनके लिए प्रयोगमें लाया जाता था ।

आठवी-नवी शतीकी उपलब्ध स्त्री-मूर्त्तियोमे निम्नलिखित विशेषताएँ परि-लक्षित होती है—

१. उत्तरीय या चादरके ओढ़नेका अभाव ।

२. वक्ष स्थल और नाभिका खुला हुआ प्रदर्शन ।

---

१. आदि० १६।४१ । २. वही ३।१०८; ५।२७८ ।

वस्त्रोंके प्रकार

आदिपुराणमे सूती, रेशमी और ऊनी ये तीन प्रकारके वस्त्र प्रतिपादित किये गये है ।

क्षौम (आदि० १२।१७३)

डाक्टर मोतीचन्दके मतानुसार यह बहुत महीन और सुन्दर वस्त्र था । यह अलसीकी छालके रेशोसे बनता था ।[1] कौशेयके समान यही भी रेशमी वस्त्र है । क्षौमकी उपमा दुधिया रंगके क्षीरसागरसे दी जा सकती है । क्षौम अधिक कीमती, मुलायम और सूक्ष्म होता था । कुछ विद्वानोके मतमे यह आसाम और बंगालमे उत्पन्न होनेवाली एक घास विशेषके छिलकेसे तैयार होता था ।

दुकूल, (आदि० ९।२४; ९।४२; ११।२७; ६।६६)

यह वस्त्र दुकूल वृक्षकी छालके रेशेसे बनता था । बंगालका बना दुकूल सफेद होता था ।[2] विवाह आदि मागलिक अवसरोंपर क्षौम तथा कौशेयका प्रयोग किया जाता था । दुकूल मृदु, स्निग्ध और महार्घ वस्त्र है । धनिक परिवारोंमें इसका व्यवहार किया जाता था ।

अंशुक (आदि० १०।१८१; ११।१३३, १२।३०; १५।२३)

ग्रीष्मर्तुमें इसका अधिक उपयोग होता था । यह चन्द्रकिरण और श्वेत कमलके समान सफेद होता था[3] । अंशुक वस्त्रके आदिपुराणमें कई प्रकार बतलाये गये हैं । सिताशुक, रक्ताशुक और नीलाशुक भेद वर्ण या रंगकी अपेक्षासे ही उपलब्ध होते है । अंशुक वस्तुत. दो प्रकारका होता था —भारतीय और चीनदेशसे लाया हुआ । अंशुक गंगाजलकी धाराके समान स्वच्छ होता था । यह भी रेशमी वस्त्रका भेद है ।

शुकच्छायांशुक (आदि० ९।५३)—यह महीन हरितवर्णका रेशमी वस्त्र है । यह इतना हल्का होता था कि हवासे उड सकता था ।

स्तनांशुक (आदि० १२।१७६,।६७२; ८।८)

नाभि, त्रिवलय, रोमराजि एवं पयोधरोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस बातकी पुष्टि करता है कि यह एक प्रकारकी 'अंगिया' था । ब्लाउजके रूपमे नही माना जा सकता है । खुले अंग ब्लाउजमे नही रह सकते थे । वस्त्रधारण करनेका प्रधान लक्ष्य अंग सौष्ठव था, अंग ढकना नही । रेशमी वस्त्रका टुकडा लेकर वक्षःस्थल पर सामनेसे लेजाकर पीछे गाठ बाँध ली जाती थी । कूर्पासक अवश्य चोलीके ढंगका सिला वस्त्र है, पुरुषोके लिए इसे 'आधी बाँहकी मिर्जई' कह सकते है ।

---

१. डॉ० मोतीचन्द : प्राचीन वेश-भूषा, भूमिका, पृ० ५ । २. वही, भूमिका पृ० ५ । ३. वही, पृ० ५५ ।

यावदानमे रेशमी वस्त्रके लिए पटाशुक,
व्यवहार किया गया है। पटाशुक, श्वेत

। वस्त्रको सदंशुक कहा गया है। आदि-
ते थे। इसमे सन्देह नही कि यह वस्त्र
वृद्धिमे भी अपूर्व योगदान देता था।
व्यक्ति ही धारण करते थे।

उज्ज्वलाशुक इस प्रकारके रेशमी वस्त्रको कहा जाता था, जो अत्यन्त श्वेत वर्णका होता था। स्त्रियाँ इसे शाटिका--साड़ीके रूपमे पहनती थी। श्रीमती उज्ज्वलांशुक धारण करनेसे अत्यधिक सुन्दरी प्रतीत होती थी।

अंशुकका व्यवहार करते समय माला एवं पुष्पहारोका धारण करना अधिक सौन्दर्य सूचक माना गया है। अंशुक स्त्री और पुरुष दोनो धारण करते थे, यह ग्रीष्म ऋतुमें अधिक आराम देता था। अंशुककी महत्ता इसी बातसे प्रकट है कि उत्तम कोटिके नायक तथा उच्चश्रेणीकी नायिकाएँ इसका व्यवहार करती थी उज्ज्वलाशुक इतना सुन्दर होता था कि इसके धारण करते ही सौन्दर्यकी वृद्धि कई गुनी हो जाती थी। देवाङ्गनाएँ भी अंशुकका व्यवहार करती दिखलायी पड़ती है। महाराज्ञी मरुदेवीको देवियाँ अंशुक वस्त्र ही उपयोगार्थ देती है। अंशुकमे तारवानेका काम भी रहता था। अंशुक किमखाव अथवा पोत जैसा कपड़ा था।

कुसुम्भ (आदि० ३।१८८)

यह लाल रंगका रेशमी वस्त्र होता था। सूती लालवस्त्रके अर्थमे भी कुसुम्भका व्यवहार पाया जाता है। आदिपुराणके अध्ययनसे ऐसा अवगत होता है कि यह सूती लालवस्त्र ही है। इसका व्यवहार सर्वसाधारणमे विशेषरूपसे किया जाता था। धनिकवर्गके व्यक्ति रेशमी कुसुम्भका व्यवहार करते थे और साधारण जनता सूती कुसुम्भका।

नेत्रवस्त्र (आदि ४३।२११)

नेत्र कलाबत्तू और रेशमसे बुना हुआ वस्त्रविशेष है। अमरकोषके[1] टीकाकार

---

१. अमरकोष–२,६।११७।

क्षीरस्वामीके मतसे नेत्र एक वृक्षविशेषकी छालके रेशेसे बनता है। १४वी शती तक बंगालमें नेत्र मजबूत रेशमी कपड़ेको कहते थे। वस्तुतः यह महीन रेशमी कपड़ा है।[1]

चीनपट (आदि० ९।४२)

चीनपट्टका उल्लेख बृहद् कल्पसूत्र भाष्यमें भी आया है। इसकी व्याख्यामें बताया गया है—'कोशिकाराख्यः कृमिः तस्माज्जातं' अथवा चीनानाम् जनपदः तत्र यः श्लक्ष्णतरपटः तस्माज्जातं' अर्थात् कोशकार नामक कीड़ेके रेशम से बना वस्त्र अथवा चीन जनपदके बहुत चिकने रेशमसे बना कपड़ा चीनपट कहलाता है।[2] निशीथमें इसकी व्याख्या "सुहुमतरं चीणसुयं चीणविसये वा जात चीर्णसुय" अर्थात् बहुत पतले रेशमी कपड़े अथवा चीनके बने रेशमी कपड़े को चीनाशुक या चीनपट कहते है।[3]

प्रावार (आदि० ९।४८)

प्रावारका अर्थ दुशाला है। हेमचन्द्रने "राजाच्छादनाः प्रावाराः" (३।४।४१) लिखा है, इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि राजा-महाराजाओंके ओढने-बिछाने योग्य ऊनी या रेशमी चादर प्रावार कहलाते थे। कौटिल्यके अनुसार जंगली जानवरोंके रोयेंसे प्रावार नामक दुशाला बनता था, यह पण्यकम्बल की अपेक्षा मृदु और सुन्दर होता था।

आचारागसूत्रमे भी प्रावारका निर्देश आया है।[4] यह ओढने और बिछाने, दोनो ही तरहकी चादरोंके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। निशीथमें नील गायके चमडेसे बनी चादरको प्रावार कहा गया है।[5]

परिधान (आदि० ९।४८; १३।४८)

अधोवस्त्र अर्थात् धोतीको परिधान कहा है। अधोवस्त्र और उत्तरीयका प्रचार प्राचीन कालसे चला आ रहा है।

उवसंव्यान (आदि० १३।७०)

अमरकोशमे धोतीके लिए चार[6] शब्द प्रयुक्त है—अन्तरीय, उपसंव्यान, परिधान और अधोशुक तथा दुपट्टे या चादरके लिए प्रावार, उत्तरासंग, बृहतिका, संव्यान और उत्तरीय ये पाँच शब्द आये[7] है। उपसंव्यान धोतीके लिए आया है।

उष्णीष (आदि० १०।१७८)

'उष्णीषः शिरोवेष्टनम्' अर्थात् पगडी या साफाके लिए उष्णीषका प्रयोग

---

१. डॉ० मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा पृ० १५७। २. बृहद् कल्पसूत्र ४।३६६१। ३. निशीथ, ७ पृ० ४६७। ४. आचाराग २।५।१,३-८। ५. निशीथ ४७ पृ० ४६७। ६. अमरकोश २; ८६,११७। ७. वही, २,६,११७-११८।

हुआ है। कालिदासके ग्रन्थोंमे अलकवेष्ठन,[1] शिररोवेष्ठन[2] और शिरस्त्रजाल[3] शव्दोंका व्यवहार उष्णीषके लिए आया है। अलकवेष्ठन शव्दसे ऐसा आभास होता है कि इस प्रकारकी पगडीके फेंटे शिरके लम्वे वालोंसे मिलाकर वाँधे जाते थे अर्थात् यह पगड़ी वालोंके साथ फँसी रहती थी। उष्णीष इस प्रकारकी पगडी थी, जो वाँधकर निकाल ली जाती थी तथा पुन. उसका प्रयोग किया जाता था।

कम्वल (आदि० ४७।४६)

कम्वलका व्यवहार प्राचीनकालसे होता आ रहा है। सर्वसाधारणसे लेकर राजा-महाराजा तक कम्वलका प्रयोग करते थे। कम्वल कई प्रकारके होते थे। पाण्डुदेशसे भी कम्वल आते थे। कम्वलोंसे रथोंके पर्दे भी वनते थे, ये रथ "पांडुकम्वलेन छन्नः पाण्डुकम्वली रथः[4]" कहलाते थे। नेपालके कम्वल रत्नकम्वल कहे जाते थे।

चीवर (आदि० १।१४)

चीवर बौद्धभिक्षुओंका परिधान है। 'चीवरं परिधत्ते परिचीवरयते[5]'—आरम्भिक श्रमण और व्रह्मचारी चीवर धारण करते थे। चीवरोको स्वयं स्वच्छ भी करते थे। हेमके 'चीवरं सम्मार्जयति संचीवरयते' (३।४।४१) से उक्त कथन सिद्ध होता है। चीवर पीले रंगके रेशमी वस्त्रसे वनता है। डॉ० मोतीचन्दने वौद्ध भिक्षुओके तीन वस्त्र वतलाये हैं[6]—संघाटी—कमरमे लपेटनेकी दोहरी तहमत; अन्तरवासक—ऊपरी भाग ढकनेका वस्त्र और उत्तरासंग—चादर।

वल्कल (आदि० १।७)

वल्कल धारण करनेकी प्रथा वैदिक कालसे भी पहलेकी है। तापसी और जटाधारी साधु वल्कल वस्त्र पहनते थे। भूर्जपत्र जैसे वृक्षोकी छाल कपडेके लिए काममें लायी जाती थी। शाकुन्तल नाटकमें[7] भी वल्कल वस्त्रोंका व्यवहार कण्वमुनिके आश्रमवासियोमें पाया जाता है। आश्रमवासी तपस्वी वल्कल वस्त्रो द्वारा गुह्य अंगोका आच्छादन करते थे।

दूष्यकुटी (आदि० ८।१६१; ३७।१५३)

कपडो द्वारा चाँदनी और मण्डप आदि निर्मित होते थे। सैन्य शिविरका निर्माण पटमण्डप द्वारा ही होता था। आदिपुराणमे दूष्यकुटीका व्यवहार तम्वूके अर्थमें आया है। दूष्यका व्यवहार चादर और तकियाके अर्थमे भी पाया जाता है। दूष्यशाला (२७।२४) कपड़ेकी चाँदनीके लिए प्रयुक्त है।

१. रघुवंश १।४२। २ रघुवंश ८।१२। ३. वही ७।६२। ४. हैम व्याकरण ६।२।१३२। ५. वही, ३।३३१। ६. प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० ३५। ७. शाकुन्तल १।१९, पृ० १३, पृ० १०।१४, ६।१७।

करती थी। सम्भ्रान्त परिवारकी महिलाएँ रेशमी वस्त्र धारण करती थी। वस्त्रोंको सुवासित करनेवाले चूर्णको पटवास (आदि० १४।८८) कहा है।

विवाहके अवसरपर माताएँ अपनी कन्याओंका स्वयं शृंगार करती थी[1] तथा वे उत्तम प्रकारके वस्त्राभूषणो द्वारा उनको सजाती थी। सहज सुन्दर अंगों को वस्त्रोसे सुसज्जितकर अधिक रमणीय बनाया जाता था। सुगन्धित द्रव्योंके व्यवहारकी प्रथा भी थी। यह ठीक है कि सामान्यावलोकनसे आदिपुराणमे प्रतिपादित वेशभूपामे रूढिवद्धता परिलक्षित होगी, क्योकि धोती, चादर, पगड़ी, कम्वल वाली पुरुपोकी वेशभूपा सनातन है। यह आज भी वही है, जो आदिपुराणके भारतमें थी, अथवा उसके पूर्ववर्ती भारतमे थी; पर पहनावेमे अन्तर अवश्य था। आदिपुराणके भारतमे धोती, चादर और पगड़ीको धारण करनेकी जो प्रक्रिया है, वह अजन्ताके भित्तिचित्रोमे अंकित वेश-भूपाकी प्रक्रियासे मिलती जुलती है। नारियाँ साड़ी धारण करती थी, किन्तु उनके पहननेकी कई विधियाँ प्रचलित थी। साड़ीकी निचाई एड़ी तक रहती थी और स्तनोके बीच पट्ट बांधा जाता था। दर्पणमे मुख देखती हुई राजकुमारियाँ धारीदार साड़ी वा घँघरी पहनती थी। एलोराकी चामर ग्राहिणियोकी मूर्तियोमे अंकित वेशभूषाकी विधि भी आदिपुराणके समान है।

●

तृतीय परिच्छेद

आभूषण

वस्त्रोके समान समृद्ध और सुखी जीवनके लिए आभूषणोका व्यवहार करना भी परम उपादेय माना गया है। सुसंस्कृत जीवनके लिए आत्मा और शरीर दोनोंका संस्कृत और सज्जित रहना आवश्यक है। आदिपुराणमे विभूषणाङ्ग नामक कल्पवृक्षोंका[2] प्रतिपादन किया गया है, जो विभिन्न प्रकारके आभूपण एवं प्रसाधन सामग्री प्रदान करते थे।

भारतीय वाङ्मयकी यह प्रमुख विशेपता है कि वृक्ष सम्पत्ति जीवनोपयोगी भोजन, वस्त्र एवं आभूपण आदि प्रदान करनेमे समर्थ मानी गयी है। संस्कृत नाटकोंमे मूर्धन्य स्थान प्राप्त अभिज्ञानशाकुन्तलमे शकुन्तलाकी विदाईके अवसर-

१. आदिपुराण, ७।२३९। २. वही ३।३६।

पर वृक्षोसे आभूपण और शृंगार प्रसाधन सामग्रकी प्राप्तिका निर्देश आया है ।[1] अतएव स्पष्ट है कि वृक्षोसे आभूपण एवं भोज्यपदार्थ प्राप्तिका सम्बन्ध अति प्राचीन है । समस्त भारतीय वाड्मयमे इस प्रकारके अनेक उदाहरण उपलब्ध है ।

धातुनिर्माणकी दृष्टिसे समस्त आभूषणोको रत्नजटित, स्वर्णभूपण, मुक्ताभूपण रजताभूपण एवं पुष्पाभरणके रूपमे विभक्त किया जा सकता है ।

मणियाँ

रत्नजटित आभूपणोमें विभिन्न प्रकारकी मणियोंका प्रयोग किया जाता था। आदिपुराणमे इन्द्रमणि[2], पद्मरागमणि[3], मरकतमणि[4], स्फटिकमणि[5], मुक्ता[6], गोमुखमणि[7], प्रवाल[8], वज्र[9]—हीरा आदिका उल्लेख उपलब्ध होता है। इन्द्रनीलमणि[10] दो प्रकारकी देखी जाती है—हल्के नीले रंगकी और गहरे नीले रंगकी । गहरे नीले वर्णकी मणिको महा-इन्द्रमणि और हल्के नीले रंगकी मणिको इन्द्रनीलमणि कहा गया है । धातुओमे स्वर्ण और रजतका व्यवहार किये जानेका कथन आया है ।

नर और नारी दोनोके आभूषणमे विशेप अन्तर नही है । दोनोके आभूपण प्रायः समान है । अंगद, वलय, हार, मुद्रिका, कुण्डल दोनो के ही आभूपण है । पुरुप वलय बाएँ हाथमे पहनते थे । वे गलेमे माला भी धारण करते थे । कमरके आभूपणोमे रशना, मेखला, काची और पैरोमें नूपुर नारियाँ ही धारण करती थी । पुष्पोका प्रसाधन भी नारियों द्वारा ही किया जाता था। पुरुपोंके शिखामणि, किरीट, और मुकुट विशेप आभूषण थे । किरीट, मौलि और मुकुट राजा सामन्त ही पहनते थे, साधारण व्यक्ति नही ।

सिरेके आभूपण

शरीरमे सबसे उत्तम अंग मस्तक और सिर माने जाते है । सिरके आभूपणोका निर्देश आदिपुराणमें पाया जाता है ।

चूडामणि (आदि० १४।८; ४।९४)

साधारणत इसे मुकुटका ही पर्याय माना जा सकता है; पर यह स्मरणीय है कि मुकुटसे इसमें कुछ भिन्नता पायी जाती है । मुकुटमें मणि हो या न हो,

---

१. क्षौम केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं, निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारस. केनचित् । अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभि: ॥–शाकु० ४।५ । २. आदि० १५.५ । ३. वही १३।१३६ । ४. वही, १३।१३६ । ५ वही, १३।१५४ । ६. वही, ७।२३१; १५।८१ । ७. वही, १४।१४ । ८. वही, १२।४४; ३५।२३४ । ९. वही, ३५।५२ । १०. वही, १३।१३७ ।

परन्तु चूड़ामणिके वीचमे एक वहुत वड़ी मणिका होना आवश्यक है। चूडामणि-का व्यवहार सामन्त और राजन्य दोनो ही वर्गके व्यक्तियोमे पाया जाता था।

आदिपुराणमें चूड़ामणिके साथ चूड़ारत्न (आदि० ११।११३; २९।१६७) का भी व्यवहार आया है। अलंकरणकी दृष्टिसे दोनो ही समान प्रतीत होते हैं। केवल नामका ही भेद है, अर्थतः कोई भेद नही है।

किरीट (आदि० ११।१३३)

चूडामणि छोटे राजा धारण करते थे, पर वड़े सम्राट् किरीट पहनते थे। किरीटका जहाँ भी वर्णन आता है, वहाँ उसे वडे-वड़े राजा या युवराज ही धारण करते दिखलायी पड़ते हैं। प्रभावशाली राजाओके महत्त्वकी सूचना किरीट द्वारा प्राप्त होती है। किरीट स्वर्ण द्वारा निर्मित होता था।

किरीटी (आदि० ३।७८)

छोटे किरीटको किरीटी कहा गया है। किरीटी स्वर्ण और माणिक्यो द्वारा निर्मित होती थी। किरीटीको स्त्री-पुरुष दोनों ही धारण करते थे। यह भी स्वर्ण द्वारा निर्मित होती थी।

मुकुट (आदि० ९।४१; १०।१२६; १५।५; १६।२३४; ३।९१; ३।१३०; ३।१५४ ५।४)

किरीटकी अपेक्षा मुकुटका मूल्य कम है। रत्नजटित तो यह भी होता था, पर इसमे चूड़ामणिके समान वीचमें वड़ा रत्न नहीं रहता था। इसमे ताम, झाम और झालर आदि भी लगी रहती थी। वर्तमान मुकुटोमे भी उक्त रूपरेखा देखी जा सकती है। मुकुटका प्रचार राजपरिवारोंमें विशेष रूपसे था। यही कारण हैं कि आदिपुराणमे इसका अनेक स्थलोंपर उल्लेख आया है। आदितीर्थंकरको इन्द्रने स्वयं ही मुकुट धारण कराया था। इसमे सन्देह नही है कि मुकुटका महत्त्व प्राचीनकालमे अत्यधिक था। युद्धमे सम्मिलित होनेवाले सामन्तोके मुकुटमें विशेष प्रकारके चिन्ह वने रहते थे।

मौलि (आदि० ९।१८९)

इसका स्थान भी किरीटसे नीचे प्रतीत होता है। सिरके आभूपणोंमे मौलिका स्थान विशेप महत्त्वपूर्ण है। मुकुट विशेष प्रकार ही मौलि है। जो राजा आदि तीर्थंकरको नमस्कार करते थे, उनके सिरपर सुशोभित मौलिसे उनके नखमणि घर्पित हो गये थे। मौलिको मुकुटसे ऊँचा स्थान प्राप्त है। राजा वननेके पूर्व भी मौलिको धारण किया जा सकता था।

उत्तंस (आदि० १४।७)

उत्तंस कीरीटसे भी उत्तम कोटिका मुकुट है। यह दिव्य रत्न-जटित होता था। इसका उपयोग विशिष्ट नेता ही करते थे। उत्तंसकी सुन्दरता सभी प्रकारके मुकुटोंसे अधिक होती थी। उत्तंस धर्मनेता ही धारण करते थे। यह कीरीट और मुकुटसे आकारमे छोटा होता था, पर मूल्यमे उन दोनोंसे वडा।

कुन्तली (आदि० ३।७८)

कुन्तलीका उल्लेख किरीटके साथ आया है, इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि कुन्तली किरीटसे आकृतिमे बडी होती थी और इसे केशोंमे कलगीके रूपमें लगाया जाता था। किरीटो धारण करने पर ही कुन्तली धारणकी जाती थी। किरीटके विना कुन्तलीका महत्त्व नही था। किरीट मस्तक पर पहनी जाती थी और कुन्तली उसके ऊपर। कुन्तली नर और नारियाँ दोनोही व्यक्ति धारण करते थे। साधारण जनतामे कुन्तलीके व्यवहारका प्रचार नही था। राजपरिवार या श्रेष्ठि वर्गके यहाँ कुन्तली पहननेकी प्रथा थी। इसे धारण करनेसे व्यक्तिका व्यक्तित्व कई गुना वढ जाता था। नारीयाँ भी अपनी समृद्धि और प्रभुताको प्रकट करनेके लिए कुन्तली धारण करती थी।

पट्ट (आदि० १६।२३३)

वराहमिहिरने पट्टको स्वर्ण निर्मित माना है। पट्ट पाँच प्रकारके होते हैं[1]—(१) राजपट्ट (२) महिषीपट्ट (३) युवराजपट्ट (४) सेनापतिपट्ट और (५) प्रसादपट्ट। राजपट्टमे पाँच शिखाएँ; महिषीपट्टमे तीन शिखाएँ; युवराज पट्टमे भी तीन शिखाएँ, सेनापति पट्टमे एक शिखा और प्रसाद पट्टमे शिखा नही होती है। यहाँ शिखासे तात्पर्य कलँगीसे है। अतएव स्पष्ट है कि पट्ट सोनेका होता था और इसको पगडीके ऊपर बाँधा जाता था। कह भी राजचिन्ह है। यह मुकुट और किरीटसे छोटा होता था, इसे कुमारके सिर पर भी बाँधा जाता था।

कण्ठाभूषण

कण्ठाभूषण स्त्री और पुरुष दोनोही धारण करते थे। प्रायः कण्ठाभरण मुक्ता और स्वर्णसे ही जटित होते थे। हारके जितने विविध प्रकार आदिपुराणमे वर्णित है, उतने अन्यत्र किसी एक स्थान पर नहीं मिलेंगे। आदिपुराणमे प्रतिपादित कण्ठाभूषण कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। इनसे उस समयके भारतकी

१. वृहत्संहिता, ४८।२४।

आर्थिक समृद्धिकी तो सूचना मिलती ही है पर स्वर्णकारोंकी शिल्प-कुशलताका भी परिचय प्राप्त हो जाता है।

इस श्रेणीके आभूषणोंको यष्टि, हार और हारके विविध भेद-प्रभेदोमे विभक्त किया जा सकता है। यष्टिके शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक और तरलप्रतिबन्ध ये पाँच भेद वतलाये गये है। पुनः प्रत्येकके मणिमध्या तथा शुद्धा भेदोंका उल्लेख आया है। मणिमध्याका अन्य नाम सूत्र अथवा एकावली भी आया है। एकावलीके बीचमे एक मणि होता था। हर्षचरित्रमे वताया है कि वासुकी नागने मुक्ताफलोंको गूँधकर एकावली हार वनाया था।[1] मध्यकालीन मूर्तियोमें एकावलीके दो रूप प्राप्त होते हैं। प्रथम वह है जिसमे एकावली हार कंठसे चिपका रहता था और द्वितीय वह है, जिसमे उसे नाभितक लटकाया हुआ दिखलाया गया है।

शुद्ध यष्टिका दूसरा नाम रत्नावली आया है। विभिन्न प्रकारकी मणियो तथा रत्नोसे वननेके कारण उसे रत्नावलीकी संज्ञा दी गयी है।

अपवर्त्तिका (आदि० १६।५१)

जो यष्टि निश्चित प्रमाण वाले सुवर्ण मणि-माणिक्य और मोतियोके वीच अन्तर दे-देकर गूँथी जाय, उसे अपवर्त्तिका कहते हैं। अपवर्तिका हार मध्य-कालीन मूर्तियोमें अंकित मिलता है।

अवघाटक (आदि० १५।५३)

जिसके वीचमे एक वड़ा मणि हो और उसके दोनो ओर क्रमश. घटते हुए छोटे मोती लगे हों, उसे अवघाटक कहते हैं। अवघाटक स्त्री और पुरुष दोनों ही धारण करते थे। अवघाटकके प्रचारका ज्ञान अजन्ता और एलोराकी मूर्तियों से भी होता है। यक्ष-यक्षिणियोकी मूर्तियाँ अवघाटक हार धारण किये हुई हैं। वस्तुत. यह भी एक लड़ीवाली माला है।

इन्द्रच्छन्दहार (आदि० १५।१५६)

जिसमे एक हजार आठ लड़ियाँ हो, वह इन्द्रछन्दहार कहलाता है। यह सवसे उत्तम हार होता है। इसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती ही धारण करते हैं, अन्य व्यक्ति नही। मूल्य और सौन्दर्य दोनोही दृष्टियोसे यह उत्तम कोटिका हार है।

उपशीर्षक (आदि० १६।५२)

जिस हारके वीचमें क्रम-क्रमसे वढते हुए तीन मोती हो, उसे उपशीर्षक कहते हैं। उपशीर्षक यष्टि भी मोतियोकी लड़ीसे निर्मित होता है।

---

१. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १६७।

अर्धहार (आदि० १६।५९)

इसमे ६४ मुक्तालडियाँ रहती है और यह आकर्पक होता है। लडियोकी संख्याकी अपेक्षा ही इसे अर्धहार कहा गया है।

अर्धगुच्छक (आदि० १६।६१)

२४ लड़ियोंके हारको अर्धगुच्छक कहा है।

अर्धमाणव (आदि० १९।६१)

दस लडियोके हारको अर्धमाणव कहा गया है।

इन्द्रच्छन्दमाणव (आदि० १६।६२)

इन्द्रच्छन्दहारके मध्यमें जव मणि लगा दी जाती है, तो इसे इन्द्रच्छन्द-माणव कहते है। इस हारकी शोभा मध्यमणिपर ही अवलम्वित रहती है।

प्रकाण्डक (आदि० १६।५३)

जिस हारके वीचमे क्रमश. वढते हुए पाँच मोती लगे हों, वह प्रकाण्डक हार कहलाता है।

तरलप्रतिवन्ध (आदि० १६।५४)

जिस हारमें सभी मोती एक समान आकृति और वजनके लगे हुए हो, वह तरलप्रतिवन्ध कहलाता है। यह हार भी एक लडीका ही वनता है।

एकावली (आदि० १६।४९)

मोतियोकी एक लड़ीकी माला एकावली कहलाती थी। यह मोतियोको घने-रूपमें गूंथकर वनायी जाती थी। इसे देखकर आँखें चौंधियाँ जाती थी। हर्पचरित-में आया है कि एकावलीके देखते ही हर्पके नेत्र खुलने और वन्द होने लगे थे[1]। उसके वीचमें एक पदक या मध्यमणि लगी रहती थी। मोतियोकी तरल किरणें कपूरके समान विकीर्णित होती थी। एकावलीकी शोभा अनुपम वतलायी गई है।

रत्नावली (आदि० १६।५०)

मणिमध्या यष्टि सुवर्ण और मोतियोसे चित्र-विचित्र होनेके कारण रत्नावली कहलाती थी। रत्नावलीमें नाना प्रकारके रत्न गूँथे जाते थे और मध्यमें एक वड़ी मणि जटित रहती थी।

यष्टि (आदि० १६।४६)

यष्टि वड़ी सुन्दर मणि, माणिक्य और मुक्ताओं द्वारा निर्मित हार है। यष्टिहार-

---

१. हर्पचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, विहार राष्ट्रभापा परिषद्, पृ० २०२;

के अनेक भेद-प्रभेदोका वर्णन आदिपुराणमे आया है। यष्टि शब्दका अर्थ लड़ियो-का समूह है, अतः लड़ियोंकी संख्याके अनुसार यष्टिके अनेक भेद संभव हैं।

विजयच्छन्द (आदि० १६।५७)

विजयच्छन्दहारमे इन्द्रच्छन्दहारसे आधी अर्थात् पाँचसौ लड़ियाँ होती थी। इस हारको अर्धचक्रवर्ती, बलभद्र आदि पुरुष धारण करते थे। सौन्दर्यकी दृष्टिसे यह हार महत्त्वपूर्ण होता था।

हार (आदि० १६।५८)

हार यह सामान्य शब्द है। आदिपुराणमे हारमे एकसौ आठ मुक्ता-लड़ियोंका रहना आवश्यक माना है। हारका वर्णन महाकवि कालिदासने भी किया है। कवि-की नायिकाएँ हार,[1] हारशेखर,[2] हारयष्टि,[3] तारहार,[4] लम्बहार[5] प्रभृति हारो-को धारण करती थी।

देवच्छन्द (आदि० १६।५८)

देवच्छन्दहारमे ८१ मुक्ता-लड़ियाँ रहती थी। यह अत्यन्त दिव्य और सुन्दर होता है। इसे सेनापति, सामन्त और श्रेष्ठि वर्ग धारण करता था।

रश्मिकलाप (आदि० १६।५९)

इस हारमे ५४ लड़ियाँ होती थी। उसकी मुक्ताओसे अपूर्व कान्ति निस्सरित होती है। रश्मिकलाप यह सार्थक नाम है।

गुच्छ (आदि० १६।५९)

बत्तीस लड़ियोके हारको गुच्छ बतलाया है। इसे श्रेष्ठिवर्गके सभी नर-नारी धारण करते थे।

नक्षत्रमाला (आदि० १६।६०)

अश्विनी, भरणी आदि २७ नक्षत्रोकी हँसी उडाता हुआ २७ लड़ियों वाला नक्षत्रमाला नामक हार होता है। नक्षत्रमालाके मुक्तामणि नक्षत्रोकी आकृतिके होते है, अतः इस हारका विशिष्ट सौन्दर्य होता है। समस्त हारका आकार भी नक्षत्रावलीके तुल्य रहता है। यह हार स्तनोके मध्य तक लटकता है।

माणव (आदि० १६।६१)

माणव बीस लड़ियोका हार होता है। इस हारके मध्यमणिकी अपेक्षा अनेक भेद सम्भव हैं। मध्यमणिके आकार-प्रकार और वजन आदिके कारण इस श्रेणी

---

१. ऋतु० १।४, २।१८, उत्तरमेघ ३०, कुमा० ५।८; २. ऋतु० १।६; ३. वही १।८; ४. रघु० ५।५२; ५. वही, ६।६०।

के हारके इन्द्रच्छन्दहार, विजयच्छन्दहार आदि भेद उत्पन्न होते है ।

फलकहार (आदि० १६।६५)

अर्धमाणवहारके मध्यमे मणि लगा देनेसे फलकहार तैयार होता है । मध्य-मणिकी विभिन्नताके कारण इस हारके अनेक रूप हो सकते है ।

मणिसोपान (आदि० १६।६६)

फलकहारमें जव स्वर्णके तीन या पाँच फलक लगा दिये जाते है, तो मणिसो-पान तैयार होता है । मणिसोपानमें बीस लड़ियाँ मुक्तामणिकी होती है और उसमे पाँच फलक स्वर्णके लगे रहते है । इस हारको नारियाँ विशेषरूपसे धारण करती थी । यहाँ स्मरणीय है कि मणिसोपानके फलक रत्नजटित होते है ।

सोपानहार (आदि० २६।६५)

इस हारमे केवल स्वर्णके ही फलक होते है । यहाँ फलकका अर्थ गोलदाने या गुरियासे है । सोपानहार भी बीस लडियोका होता है और इसके मध्य पाँच फलक शुद्ध स्वर्णके लगे रहते है । मुक्तामणि और स्वर्णके संयोगसे सोपानहार निर्मित होता है । मणिसोपानहारके फलक रत्नजटित स्वर्णके होते है और सोपान हारके फलक केवल स्वर्णसे ही वनाये जाते है ।

हारयष्टि (आदि० ७।२३१; १४।२१३; १५।१५)

हारयष्टि अनेक लडोका हार होता है । इसके वीचमें चन्द्रहारकी तरह पक्ले नही लगे रहते हैं । दूसरे शब्दोमें यह केवल मुक्ताओकी लडियोका ही हार होता है और ये सव लडियाँ ऊपर जाकर एकमें मिल जाती है ।

मौक्तिक हारावली (आदि० ७।२३१; १५।८१)

मुक्ताओकी एक लडीकी माला ही मौक्तिक हारावली अथवा मुक्तावली है । हारावलीमें आँवले जैसे गोल मोती लगे रहते थे । शुंगकालीन मूर्तियोमें भी मौक्तिक हारावलीका अंकन पाया जाता है ।

मणिहार (आदि० १४।११ ५।१३६)

यह हार माणिक, पन्ना, मुक्ता, चन्द्रकान्त, पुष्पराग प्रभृति अनेक मणियों द्वारा निर्मित होता था । एक प्रकारसे इसे हम रत्नमाला कह सकते है । स्तन-पर्यन्त यह हार लटकता रहता था । इसकी कान्ति अद्भुत थी । मणिहारमें मध्य-मणिका विशेष महत्त्व था । आजकल जिस प्रकार 'टिकडे' लगाये जाते है, उसी प्रकार आदिपुराणके भारतमें मणियोके ही टिकडे लगाये जाते थे ।

कण्ठाभरण (आदि० १५।१९३)

यह पुरुषोका आभूषण है । स्वर्ण और विद्रुम मणि अथवा स्वर्ण तथा मुक्ता-

मणिद्वारा तैयार किया जाता था। कण्ठाभरणकी प्रमुख विशेपता अपने आकार-प्रकारसे पूरे कण्ठको आच्छादित करने की है। आदिपुराणके सन्दर्भमे वताया है कि कण्ठाभरणमे अनेक प्रकारके रत्न भी रहते थे, जिनसे किरणें निकलती थी। भरतके आभूषणोमें इसकी गणना की गयी है।

हारलता (आदि० १५।१९२)

हारलता हारसे वहुत भिन्न नही है। यह छोटे और स्निग्ध चमकदार मोतियोसे वनायी जाती थी। जहाँ कण्ठाभरणमे विविध प्रकारके रत्न जटित रहते थे, वहाँ हारलतामे केवल मुक्ताएँ ही लगी रहती थीं। हारलता हारकी अपेक्षा पतली और अधिक चमकदार होती थी। हारलता भुजापर्यन्त लटकती रहती थी।

हारवल्ली और हारवल्लरी (आदि० १५।१९३. १५।१९४)

हारवल्ली और हारवल्लरी हार प्रायः एक समान प्रतीत होते है। यह निश्चय है कि हारवल्ली या हारवल्लरी लम्वहार था। इस लम्बे हारको पुरुष धारण करते थे। स्त्रियाँ जिस लम्वेहारको पहनती थी, उसे स्तनलम्विहार कहा गया है। आदिपुराणमें उक्त दोनो हार भरतके आभूपणोमे निर्दिष्ट किये गये हैं। इसको आदिपुराणमे 'स्तनोपान्तहार'[1] की संज्ञा दी है।

कण्ठमालिका (आदि० ६।८)

कण्ठमालिका आनकलकी मोहनमाला है। यह स्वर्णके दानोसे तैयारकी जाती थी तथा मध्यमे यत्र-तत्र रत्न या मोती भी लगे रहते थे। कण्ठमालिकाको स्त्री और पुरुप दोनो ही पहनते थे। कण्ठमालाका प्रचार मध्यकालीन मूर्त्तिकलासे स्पष्ट हो जाता है। मध्यकालमें इसका पर्याप्त प्रचार था।

हेममाला (आदि० ३०।१२४)

स्वर्णनिर्मित माला है। इसे प्रायः स्त्रियाँ ही धारण करती थी। हेममालाका सौन्दर्य हारावलीके वीच ही शोभित होता था। इसे आजकलकी 'स्वर्ण जंजीर' या 'लच्छा' भी कहा जा सकता है। मध्यकालमे हेममालाका पर्याप्त प्रचार था।

ग्रैवेयक (आदि० २९।१६७)

गलेमे पहने जानेवाला स्वर्ण-रत्न जटित कण्ठा ग्रैवेयक कहलाता था। साहित्य-दर्पणमें वताया है[2]—"अस्माकं सखिवाससी न रुचिरे ग्रैवेयकं नोज्ज्वलाम्" अर्थात् उज्ज्वल ग्रैवेयकके प्रति भी रुचि नही है। वस्तुत· ग्रैवेयक स्वर्ण और प्रवाल द्वारा निर्मित होता था। एक दाना स्वर्णका और दूसरा दाना प्रवाल या अन्य किसी मणिका रहता था। ग्रैवेयकमे मध्यमणि या अन्य प्रकारका टिकड़ा नहीं

---

१. आदिपुराण ६।७३। २. साहित्यदर्पण, कलकत्ता संस्करण, तृतीय परिच्छेद।

के हारके इन्द्रच्छन्दहार, विजयच्छन्दहार आदि भेद उत्पन्न होते हैं।

फलकहार (आदि० १६।६५)

अर्धमाणवहारके मध्यमें मणि लगा देनेसे फलकहार तैयार होता है। मध्य-मणिकी विभिन्नताके कारण इस हारके अनेक रूप हो सकते हैं।

मणिसोपान (आदि० १६।६६)

फलकहारमे जब स्वर्णके तीन या पाँच फलक लगा दिये जाते है, तो मणिसोपान तैयार होता है। मणिसोपानमें वीस लडियाँ मुक्तामणिकी होती है और उसमें पाँच फलक स्वर्णके लगे रहते हैं। इस हारको नारियाँ विशेषरूपसे साधारण करती थी। यहाँ स्मरणीय है कि मणिसोपानके फलक रत्नजटित होते है।

सोपानहार (आदि० २६।६५)

इस हारमे केवल स्वर्णके ही फलक होते है। यहाँ फलकका अर्थ गोलदाने या गुरियासे है। सोपानहार भी वीस लड़ियोंका होता है और इसके मध्य पाँच फलक शुद्ध स्वर्णके लगे रहते है। मुक्तामणि और स्वर्णके संयोगसे सोपानहार निर्मित होता है। मणिसोपानहारके फलक रत्नजटित स्वर्णके होते है और सोपान हारके फलक केवल स्वर्णसे ही वनाये जाते है।

हारयष्टि (आदि० ७।२३१; १४।२१३; १५।१५)

हारयष्टि अनेक लडोका हार होता है। इसके बीचमें चन्द्रहारकी तरह पक्खे नही लगे रहते है। दूसरे शब्दोमे यह केवल मुक्ताओंकी लड़ियोका ही हार होता है और ये सब लड़ियाँ ऊपर जाकर एकमें मिल जाती हैं।

मौक्तिक हारावली (आदि० ७।२३१; १५।८१)

मुक्ताओकी एक लड़ीकी माला ही मौक्तिक हारावली अथवा मुक्तावली है। हारावलीमें आँवले जैसे गोल मोती लगे रहते थे। शुंगकालीन मूर्तियोंमे भी मौक्तिक हारावलीका अंकन पाया जाता है।

मणिहार (आदि० १४।११ ५।१३६)

यह हार माणिक, पन्ना, मुक्ता, चन्द्रकान्त, पुष्पराग प्रभृति अनेक मणियो द्वारा निर्मित होता था। एक प्रकारसे इसे हम रत्नमाला कह सकते है। स्तन-पर्यन्त यह हार लटकता रहता था। इसकी कान्ति अद्भुत थी। मणिहारमें मध्य-मणिका विशेष महत्त्व था। आजकल जिस प्रकार 'टिकडे' लगाये जाते हैं, उसी प्रकार आदिपुराणके भारतमें मणियोके ही टिकडे लगाये जाते थे।

कण्ठाभरण (आदि० १५।१९३)

यह पुरुषोका आभूषण है। स्वर्ण और विद्रुम मणि अथवा स्वर्ण तथा मुक्ता-

परिभाषाओंको मिलाकर अवगत कर लेना चाहिए। निस्सन्देह आदिपुराणके भारतमें कण्ठाभूषणोका विशेष रूपसे विस्तार और प्रचार था। उक्त ५५ भेदो-को भी मणिमध्या अर्थात् विभिन्न प्रकारके टिकड़ोके आधार पर अनेक रूपान्तरोमें विभक्त किया जा सकता है। वस्तुत आचार्य जिनसेनका एतद् विषयक ज्ञान अत्यन्त विस्तृत है।

कण्ठके अन्य आभूषणोमें नक्षत्रमालाहार[1], हारावली[2], कंठिका[3], तारावली आदि भी परिगणित है। नक्षत्रमाला और नक्षत्रमालाहारमे अन्तर है। नक्षत्र-मालाहार केवल नारियाँ ही स्तनोके मध्यमे धारण करती थी, जवकि नक्षत्र-मालाको पुरुष भी पहनते थे।

कर्णाभूषण

प्राचीन भारतमे कानोंमे आभूषण धारण करने की प्रथा प्रचलित थी। नर और नारियाँ दोनोंके ही कानोंमें छिद्र रहते थे, तथा दोनो ही आभूषण धारण करते थे। आदिपुराणमें प्रतिपादित कई प्रकारके कर्णाभूषणोके उल्लेखसे प्रतीत होता है कि पुरुष केवल कुण्डल ही कानोमे पहनते थे। कुण्डलके लिए कर्णाभूषण शब्द भी प्रयुक्त मिलता है। कुण्डल मणि-माणिक्य और स्वर्णसे जटित होते थे। नारियाँ-कुण्डल, कर्णपूर, अवतंस आदि कानोमे धारण करती थी।

कुण्डल (आदि० १०।१२७, ११।१७, ११।१३३, १४।१०; १६।२३४; १६।१३; ३।१३०; ३।१५४; ५।२५७)

कुण्डल नर-नारियोके लिए प्रिय कर्णाभूषण है। ये मणि, काचन और मुक्ता आदिसे वनाये जाते थे। इनकी आकृति गोल-गोल छल्लेके समान होती थी तथा खटकेसे वन्द हो जाते थे। कुण्डलोका प्रचार वर्तमान भारतमे भी पाया जाता है।

मणिकुण्डल (आदि० ३३।१२४; ९।१९०, १४।११)

काचनके साथ मणियोंका विशेपरूपसे व्यवहार किया जाता था। मणिकुंडल मणियोंके द्वारा वनाये जाते थे। मणिकुण्डलकी आकृति भी गोल होती थी, इसमे किनारे पर मणियाँ जटित रहती थी। इनकी आकृति वर्तमान ईयरिंगकी जैसी प्रतीत होती है। मणिकुण्डलोंका प्रचार पर्याप्त मात्रामे था।

रत्नकुण्डल (आदि० ४।१७७, १५।१८९)

आदिपुराणमे दो प्रसंगोंमें रत्नकुण्डलका उल्लेख आया है और दोनों ही प्रसंगोमे रत्नकुण्डल पुरुषपात्रो द्वारा धारण किये गये है। रत्नजटित होनेके कारण

---

१. वही १५।८३। २. वही ४१।२८। ३. वही ९।१५०, १४।११।

लगाया जाता था। यह कण्ठमालाके समान ही था, विशेषता इतनी ही थी कि इसमे टिकडा नही रहता था। ग्रैवेयक कण्ठमालासे बड़ा होता था और अधिक कीमती भी रहता था।

आदिपुराणमे कण्ठाभूषणोंका बहुत अधिक विस्तार पाया जाता है। इसमे हारोके पचपन प्रकार बतलाये गये है:—(१) इन्द्रच्छन्द, (२) विजयच्छन्द, (३) देवच्छन्द, (४) रश्मिकलाप, (५) गुच्छ, ६) नक्षत्रमाला, (७) अर्धगुच्छ, (८) माणव, (९) अर्धमाणव (१०) इन्द्रच्छन्दमाणव और (११) विजयच्छन्दमाणव ये ग्यारह यष्टिके भेद है। इनको शीर्षक; उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक और तरलप्रबन्ध इन भेदोमे विभक्त करने पर ५५ खेद होते है। नामावली निम्न प्रकार है—

(१) शीर्षक इन्द्रच्छन्द (२) शीर्षक विजयच्छन्द (३) शीर्षक देवच्छन्द (४) शीर्षक रश्मिकलाप (५) शीर्षक गुच्छ (६) शीर्षक नक्षत्रमाला (७) शीर्षक अर्ध-गुच्छ (८) शीर्षक माणव (९) शीर्षक अर्धमाणव (१०) शीर्षक इन्द्रच्छन्दमाणव (११) शीर्षक विजयच्छन्दमाणव (१२) उपशीर्षक इन्द्रच्छन्द (१३) उपशीर्षक विजयच्छन्द (१४) उपशीर्षक देवच्छन्द (१५) उपशीर्षक रश्मिकलाप (१६) उप-शीर्षक गुच्छ (१७) उपशीर्षक नक्षत्रमाला (१८) उपशीर्षक अर्धगुच्छ (१९) उपशीर्षक माणव (२०) उपशीर्षक अर्धमाणव (२१) उपशीर्षक इन्द्रच्छन्दमाणव (२२) उपशीर्षक विजयच्छन्दमाणव (२३) अवघाटक इन्द्रच्छन्द (२४) अवघा-टक विजयच्छन्द (२५) अवघाटक देवच्छन्द (२६) अवघाटक रश्मिकलाप (२७) अवघाटक गुच्छ (२८) अवघाटक नक्षत्रमाला (२९) अवघाटक अर्धगुच्छ (३०) अवघाटक माणव (३१) अवघाटक अर्धमाणव (३२) अवघाटक इन्द्रच्छन्द माणव (३३) अवघाटक विजयच्छन्द माणव (३४) प्रकाण्डक इन्द्रच्छन्द (३५) प्रकाण्डक विजयच्छन्द (३६) प्रकाण्डक देवच्छन्द (३७) प्रकाण्डक रश्मिकलाप (३८) प्रका-ण्डक गुच्छ (३९) प्रकाण्डक नक्षत्रमाला (४०)-प्रकाण्डक अर्धगुच्छ (४१) प्रका-ण्डक माणव (४२) प्रकाण्डक अर्धमाणव (४३) प्रकाण्डक इन्द्रच्छन्दमाणव (४४) प्रकाण्डक विजयच्छन्द माणव (४५) तरलप्रबन्ध इन्द्रच्छन्द (४६) तरलप्रबन्ध विजयच्छन्द (४७) तरलप्रबन्ध देवच्छन्द (४८) तरलप्रबन्ध रश्मिकलाप (४९) तरलप्रबन्ध गुच्छ (५०) तरलप्रबन्ध नक्षत्रमाला (५१) तरलप्रबन्ध अर्धगुच्छ (५२) तरलप्रबन्ध माणव (५३) तरलप्रबन्ध अर्धमाणव (५४) तरलप्रबन्ध इन्द्र-च्छन्द माणव और (५५) तरलप्रबन्ध विजयच्छन्द माणव[1]।

उपर्युक्त ५५ प्रकारके हारोके लक्षण संयोग करके अर्थात् उपपद और पदोको

---

१. आदि० १६।६३-६४।

अजके द्वारा मारे गये योद्धाओमे एकके केयूरकी नोंक शिवाके तालूमे चुभ गयी थी[1]। व्युत्पत्तिके अनुसार "के वाहौ शिरसि वा याति—इति केयूर:" हिन्दीमे टाड या विजायठ भी कहते है।

कटक (आदि० १४।१२, १५।१९९; १६।२३६; ७।२३५)

कडेके समान एक आभूषण है। कटक चूडीके समान पहने जाते थे तथा ढीले रहते थे। कटकरत्न जटित स्वर्णके होते थे। नर और नारी दोनों ही समान रूपसे इन्हे धारण करते थे। कटकका अर्थ कडा भी किया गया है। कटक प्रकोष्ठमे स्थित रहता था। काँचनके कटक सुन्दर होते थे और मजबूत भी माने जाते थे।

दिव्यकटक (आदि० २९।१६७)

रत्नजटित सुन्दर कड़ोको दिव्यकटक कहा है। दिव्यकटकके निर्माणमे बहुमूल्य रत्नोके साथ धौत चामीकरका व्यवहार किया जाता था।

मुद्रिका (आदि० ४७।२१९; ७।२३५)

अँगूठीके लिए मुद्रिकाका प्रयोग किया है। मुद्रिकाएँ तीन प्रकारकी होती थी—

१. रत्नजटित—रत्नों द्वारा नामोत्कीर्णित।
२. स्वर्णघटित—सादा अँगूठी।
३. पशु-पक्षी आदिकी आकृति अंकित।

आदिपुराणमे सामान्य मुद्रिकाका ही व्यवहार पाया जाता है। अँगुलीय आभूषणोमे मुद्रिकाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह आदिके अवसर पर स्मृतिको स्थायित्व प्रदान करनेकी दृष्टिसे मुद्रिका उपहारमे भी दी जाती थी।

कटि आभूषण

कटि आभूषणोंका भी कम महत्त्व नही है। कटि आभूषणोमे मेखला, रशना, काञ्ची और दामकी गणना की गयी है। ये आभूषण स्वर्ण, रत्न, मुक्ता प्रभृति द्वारा निर्मित होते थे।

मेखला (आदि० १५।२३)

मेखलामे किंकिणी नही लगी रहती है, जिससे यह बजती नही है। कही-कही काव्योमे चित्रण आता है कि मेखलासे रानियाँ राजाओंको बाँध देती है। यह चौड़ाईमे पतली होती है। मेखला दो प्रकारकी होती थी—(१) सादी स्वर्ण-

---

१. रघुवंश ७।५०।

ही ये रत्नकुण्डल कहलाते थे। महावलके रत्नकुण्डलोसे मण्डित दोनों कान सरस्वती देवीके झूलनेके लिए दो झूलेके समान ही प्रतीत हो रहे थे।[1]

कुण्डली (आदि० ३।७८)

कुण्डली कुण्डलसे छोटी एवं आकार मे मनोहर होती थी। कुडली अल्प-वयस्क व्यक्ति ही धारण करते थे। कुण्डली भी गोलाकार होती थी और कानोसे नीचे लटकती रहती थी। अनेक यक्ष-यक्षिणियोकी मूर्तियोके कानोमे कुण्डली अंकित-की गयी है। कुण्डलसे इसमें इतनी ही भिन्नता होती है कि कुण्डल वड़ा रहता है और कुण्डली आकारमे छोटी होती है।

मकराकृति कुण्डल (आदि० १६।३३)

प्राचीन भारतकी उपयोगी शिल्पकलामें नाना प्रकारके आभूपणोकी परिगणना-की गयी है। मकराकृति कुण्डल—मकरकी आकृतिके वनाये जाते थे। रत्न, मणियो और स्वर्ण द्वारा इस श्रेणीके कुण्डलोको कर्णपूर जैसा वनाया जाता था; यतः मकराकृतिका निर्माण कर्णपूरमे ही संभव है। इन कुण्डलो द्वारा कर्ण प्रदेश आच्छादित हो जाता था। इसके वीचमे पेंच लगा रहता था, जिससे ये गिर नही सकते थे।

कराभूपण

प्राचीन भारतमे अंगद, वलय, केयूर, कटक और अंगूठी ये पाँच कराभूपण प्रचलित थे। इन आभूपणोका स्त्री और पुरुष दोनोही समान रूपसे व्यवहार करते थे। अन्तर इतना ही था कि पुरुपवर्ग सादे आभूषणोको धारण करता था और नारी वर्गके आभूपणोंमें घुँघुरू आदि लगे रहते थे।

अङ्गद (आदि० ७।२३५, १५।१९९, ९।४१; ११।४४, ११।१३३, १४।१२; १६।२५३; ५।२५७)

भुजाओं पर वाँधनेका एक आभूपण है। स्त्री और पुरुप दोनों ही इसे समान-रूपसे धारण करते थे। व्याकरणके अनुसार इसका व्युत्पत्ति जन्य अर्थ है—अङ्गं दायति द्यति वा अङ्गदम्। यह कोहनीके ऊपर भुजामे पहना जाता है। हिन्दी मे इसे वाजूवन्द भी कह सकते है। यह स्वर्ण द्वारा निर्मित होता था।

केयूर (आदि० ९।४१; ९।१९०, ११।१३३; १४।१२; १५।२०, १५।१९९, ५।२५७, ४।१८१; १६।२३६)

अंगदके समान यह भी भुजवन्ध ही है। अंगदकी अपेक्षा इसमे एक विशेपता यह रहती है कि इसमे नोक होती है। रघुवंश महाकाव्यमे वताया गया है कि

१, श्रुताङ्गना समाक्रीडलीलादोलायिते दधौ—आदि० ४।१७७।

अजके द्वारा मारे गये योद्धाओमे एकके केयूरकी नोक शिवाके तालूमे चुभ गयी थी[1]। व्युत्पत्तिके अनुसार "के बाहौ शिरसि वा याति—इति केयूर:" हिन्दीमे टाड या विजायठ भी कहते है ।

कटक (आदि० १४।१२; १५।१९९; १६।२३६; ७।२३५)

कड़ेके समान एक आभूषण है । कटक चूडीके समान पहने जाते थे तथा ढीले रहते थे । कटकरत्न जटित स्वर्णके होते थे । नर और नारी दोनों ही समान रूपसे इन्हे धारण करते थे । कटकका अर्थ कडा भी किया गया है । कटक प्रकोष्ठमे स्थित रहता था । काँचनके कटक सुन्दर होते थे और मजबूत भी माने जाते थे ।

दिव्यकटक (आदि० २९।१६७)

रत्नजटित सुन्दर कड़ोको दिव्यकटक कहा है । दिव्यकटकके निर्माणमे बहुमूल्य रत्नोंके साथ धौत चामीकरका व्यवहार किया जाता था ।

मुद्रिका (आदि० ४७।२१९; ७।२३५)

अँगूठीके लिए मुद्रिकाका प्रयोग किया है। मुद्रिकाएँ तीन प्रकारकी होती थी—

१. रत्नजटित—रत्नों द्वारा नामोत्कीर्णित ।

२. स्वर्णघटित—सादा अँगूठी ।

३ पशु-पक्षी आदिकी आकृति अंकित ।

आदिपुराणमे सामान्य मुद्रिकाका ही व्यवहार पाया जाता है । अँगुलीय आभूषणोंमें मुद्रिकाका महत्त्वपूर्ण स्थान है । विवाह आदिके अवसर पर स्मृतिको स्थायित्व प्रदान करनेकी दृष्टिसे मुद्रिका उपहारमे भी दी जाती थी ।

कटि आभूषण

कटि आभूषणोका भी कम महत्त्व नही है । कटि आभूषणोंमे मेखला, रशना, काञ्ची और दामकी गणना की गयी है । ये आभूषण स्वर्ण, रत्न, मुक्ता प्रभृति द्वारा निर्मित होते थे ।

मेखला (आदि० १५।२३)

मेखलामें किंकिणी नही लगी रहती है, जिससे यह बजती नही है । कहीं-कही काव्योमें चित्रण आता है कि मेखलासे रानियाँ राजाओको बाँध देती है । यह चौड़ाईमे पतली होती है । मेखला दो प्रकारकी होती थी—(१) सादी स्वर्ण-

---

१. रघुवश ७।५० ।

मय और (२) रत्नजटित या मणि मेखला। ध्वनि उत्पन्न करनेके लिए क्वचित् कदाचित् मेखलाओमे घुंघुरू भी बांध दिये जाते थे। कुछ स्त्रियाँ साडीपर घण्टियोसे बनी मेखलाएँ पहनती थी। मेखलाके टूट जानेसे उसके मोती बिखर जाते थे।

'मीयते प्रक्षिप्यते काममध्यभागे' इति मेखला अर्थात् कमरमे पहना जानेके कारण मेखला कहलाती है। करधनी, तगडी या कटिबन्ध इसे कहा जा सकता है।

रशना—(आदि० २।२३६; १५।२०३)

रशनामे क्षुद्र घण्टिकाएँ जटित रहती थी, अतः इससे शब्द निकलते रहते थे। रशना और मेखला आकार-प्रकारमे समान है, अन्तर केवल घुँघरूका है। घुँघरू लगे रहनेके कारण रशना शब्दायमान रहती थी। यह भी पतली होती थी, जिससे कभी-कभी नायिकाएँ अपने प्रेमियोको रशना द्वारा ताड़ित करती थी।

क्षुद्र घण्टिकाओके सूत्र टूट जानेसे घण्टिकाएँ बिखर जाती थी। मत्स्य, हंस प्रभृति नाना आकृतियोकी घण्टिकाएँ बनी रहती थी। रत्न, मणि एवं मुक्ताएँ भी रशनामे जटित रहती थी।

काञ्ची (आदि० १२।२९–३०; १४।२१३; ७।१२९)

काञ्ची चौड़ी पट्टी-सी होती थी। मेखला एवं रशनाकी पतली पट्टी रहती थी, किन्तु काञ्चीकी चौड़ी पट्टी रहती थी। यह स्वर्ण अथवा काञ्चनमयी रत्न-चित्रोसे परिपूर्ण रहती थी। काञ्चीको शब्दमयी बनानेके लिए घुँघरूओका भी प्रयोग किया जाता था। क्वणितकनककाञ्चीका वर्णन अनेक स्थानो पर आया है। काञ्चीकी लड़ियाँ होती थी; संभवतः यह सात या पाँच लड़की रहती थी। आदि-पुराणके काव्यात्मक वर्णनोके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि कटि आभूषणोमे काञ्ची-का महत्त्वपूर्ण स्थान था। नारियाँ रशना, मेखला और काञ्ची इन तीनों आभू-षणोको कटिमे एक साथ पहनती थी।

मेखलादाम (आदि० ४।१८४)

यह पुरुषोका कटि आभूषण है। महाबलके चार प्रधान आभूषणोमे मेखला-दामकी गणना की गयी है। दामकी पट्टी मेखला और रशना दोनोकी अपेक्षा चौड़ी होती थी। मेखलादामका अभिप्राय यह है कि यह ऐसी करधनी थी, जिसका पट्टा उक्त दोनोकी अपेक्षा चौड़ा रहता था।

किंकिणीयुक्त मणिमयदाम (आदि० १४।१३)

कमरमे पहननेके लिए चौड़े पट्टेकी कई लड़ोंको करधनी बनाई जाती थी। यह करधनी मणिमय तो होती ही थी, पर इसमे किंकिणी भी लगाई जाती थी।

इस प्रकारकी करधनीको नारियाँ ही पहनती थी। यह करधनी नृत्यके अवसर-पर अथवा क्रीडाविशेपके अवसरपर व्यवहारमे लायी जाती थी। शिशु भी मनो-रंजनार्थ इस करधनीको धारण करते थे।

मुक्तामयदाम (आदि० ११।१२१)

दामका अर्थ माला भी होता है। विमानसे सम्बन्ध रहनेसे प्रस्तुत सन्दर्भ-मे माला अर्थ अधिक उपयुक्त भी है। पर मुक्तामयदाम सामान्यतः मोतियोकी वनी करधनीके लिए प्रयुक्त होता है। यह करधनी सात लड चौड़ी बनायी जाती थी।

काञ्चीदाम (आदि० ८।१३)

स्वर्ण द्वारा वनायी गयी चौड़ी पट्टेदार करधनीको काञ्चीदाम कहा जाता है। आदिपुराणमे इस प्रकारकी करधनीको नारियाँ धारण करती थी, इसका स्पष्ट उल्लेख है। श्रीमतीके कटिभागपर यह करधनी विशेष रूपसे शोभित थी, जिससे वज्रजंघका मन श्रीमतीके कटिभाग रूपी निधिपर ही रमण करता था।

आदिपुराणमे कटिसूत्र (आदि० १३।६९; १६।२३५; १६।१९; ३।१५९) का भी निर्देश मिलता है। यह स्वर्णसूत और रेशमका होता था।

पादाभूषण

पैरोको सजाना और उन्हे अनेक प्रकारसे सुन्दर बनाना सुरुचिपूर्ण व्यक्तियो-के लिए आवश्यक था। जीवनका उद्देश्य सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त करना है। जिन व्यक्तियोको जीवनकलाका परिज्ञान है, वे वेशभूपा, आभरण एवं अन्य प्रकारकी प्रसाधन सामग्री द्वारा अपने शरीरको सुसंस्कृत करते है। उनकी यह सुरुचि ही संस्कृति है तथा सुरुचिपूर्ण जीवन यापन करना सांस्कृतिक जीवन है।

पादाभूषणोमे नूपुर, मणिनूपुर, तुलाकोटिक और गोमुखमणिके नाम विशेष रूपसे आते है। नूपुर कई प्रकारके होते थे। नारियाँ ही नूपुर धारण करती थी, पुरुष नही। विशेष अवसरोपर स्त्री-पात्रोंका रूप धारण करनेवाले पुरुष भी नूपुर पहनते थे।

नूपुर (आदि० १६।१७८; १६।२३७, ६।६३)

नूपुरका अर्थ विछुए नही, पायल था। कुमारी कन्याएँ भी नूपुर धारण करती थी। नूपुर मणिजटित भी वनते थे, यदि इन्हे विछुए मान लें तो मणि-जटित होनेकी गुंजायश ही नही निकल सकती है। नूपुरोंमें घुंघरू लगाये जाते थे। नूपुर कई प्रकारके उपलब्ध होते है। यथा—

१. शिञ्जितनूपुर
२. मणिनूपुर
३. भास्वत कलनूपुर
४. कलनूपुर

आदिपुराणमे मणिनूपुरका (आदि० ७।२३७; १२।२२, ५।२६८; ७।१२९) विशेष उल्लेख आया है। ये नूपुर गुल्फतक भी चढाये जाते थे। मणिनूपुरों-की प्रमुख विशेषता मणियोकी ही थी। इनको मणिजटित माननेमे किसी भी प्रकारकी विप्रतिपत्ति नही है। साधारण नूपुर स्वर्णके होते थे।

तुलाकोटिक (आदि० ९।४१)

नूपुरके विशेप-भेदके अर्थमे तुलाकोटिकका व्यवहार किया गया है। इस श्रेणीके नूपुरोमे घुँघरू लगे रहते थे, अतः ध्वनि निकलती रहती और ये अपनी ओर सहृदयोके मनको आकृष्ट कर लेते थे।

गोमुखमणि (आदि० १४।१४)

गोमुखके आकारके नूपुरविशेप, जिनमे मणियाँ जटित रहतो थी, गोमुख-मणि कहलाते थे। पैरोमे पहनने योग्य आभूपणोमे गोमुखकणिको नूपुररूपमे इसी कारण परिगणित किया गया है, कि इसकी आकृति नूपुर तुल्य ही होती थी।

प्रसाधन सामग्री

वस्त्राभूषणोंके अतिरिक्त सुगन्वित चूर्ण, पुष्पमालाएँ, चन्दनद्रव, कुंकुम, केशर प्रभृति पदार्थो द्वारा शरीरका प्रसाधन किया जाता था। इतना ही नहीं स्नानके लिए भी सुगन्वित जलका प्रयोग किया जाता था। आदिपुराणमे आयी हुई प्रसाधन सामग्रीको निम्नलिखित वर्गोंमे विभक्त कर विश्लेपित किया जायगा।

१. केशरचना सम्बन्धी सामग्री।
२. मुख-सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री।
३. अन्य शारीरिक अंग प्रसाधन सामग्री।
४. शृंगारिक सामग्री।

केशरचना सम्बन्धी सामग्री

स्त्री और पुरुप दोनो ही लम्बे-लम्बे वाल रखते थे। नारियाँ केशोंका

वन्धन विशेषरूपसे करती थी। केश-वन्धनकी आदिपुराणमे दो विधियाँ उल्लिखित है—

(१) कवरी (आदि० ३७।१०७; १२।४१) और (२) धम्मिल (आदि० ६।८०)।

विशेष केशरचनाका नाम कवरी है। गूंथे हुए वालोके दो नाम आये हैं—वेणी और प्रवेणी। कवरी वस्तुतः वेणी या प्रवेणीके रूपमे रहती थी। यह ऐसा वेणी वन्धन था, जिसमे केशोंमें पुष्पोको अवश्य लगाया जाता था। जूड़ा और वेणी दोनोमे पर्याप्त अन्तर है। कवरी लम्वाईके रूपमे वालोको ग्रथित करने पर निर्मित होती थी।[1] कोशकारोने धमिल्लको संयत केशरचना कहा है।[2] ललाटपर लटकते हुए केशोंको भ्रमरक, कुन्तल और भ्रमरालक वताया गया है। धम्मिलमे मुक्ता और पुष्प भी लगाये जाते थे और इसे जूड़ेके समान वाधा जाता था। जूड़ा-वन्धनकी विधि कई रूपोमें प्रचलित थी। सौन्दर्य प्रसाधनके हेतु सभी नायिकाएँ जूडावन्धन किया करती थी। वेला, चमेली आदि सुगन्धित पुष्पोको भी धम्मिल नामक जूडेमे गूँथा जाता था।

एक वेणीका प्रसंग भी आता है। विरहावस्थामें वाल खुले रहते थे तथा पतिके विदेश जाने पर तेल लगाना, वेणी धारण करना एवं पुष्पोसे केशोंको अलंकृत करना वर्जित था। केशप्रसाधनकी कई प्रकारकी सामग्री आदिपुराणमें आयी है।

अलकाश्चूर्णकुन्तलाः (आदि० १२।२२१)

अमरकोषमे अलकका स्वरूप "अलकाश्चूर्णकुन्तलाः[3]" वताया है। इससे यह सूचित होता है कि अलकावली वनानेमे चूर्णका प्रयोग किया जाता था। चूर्णकुन्तल कुंकुम, कर्पूर आदिके द्वारा तैयार किया जाता था। यह चूर्ण होते हुए भी अवलेप होता था, जिसके व्यवहारसे वालोंमे भँवर पैदा किये जाते थे। महाकवि कालिदासने भी रघुवंशमे वतलाया है कि केरल देशकी स्त्रियाँ अलकोमे चूर्णका प्रयोग करती थी।[4] इन्दुमति अपने केशोंको घूँघरदार या छल्लेदार वनानेके लिए चूर्णकुन्तलका व्यवहार करती हुई परिलक्षित होती है। लटोको चूर्ण, कुन्तल या अलकके रूपमे लानेसे लम्वाई कम हो जाती होगी। अलकोमे वक्रता या घुमावको सौन्दर्यकी दृष्टिसे आवश्यक माना जाता था। घुँघरालेवालोंको वनानेके कई प्रकार वर्णित हैं।

---

१. कवरी केशवेशोऽथ धम्मिल्लः संयताः कचा.।—अमरकोश २।६।९७। २. धमिल्लः संयताः केशाः—अभिधानचिन्तामणि ३।२३४। ३. अमरकोश २।६।९६। ४. रघुवंश ४।५४।

सीमन्त या माँगके दोनो ओर केवल वलीभूत अलकोकी समानान्तर पंक्तियाँ सजी रहती हैं। इस विन्यासका व्यवहार कुषाण और गुप्तकालकी मूर्त्तिकलामे प्रचुर रूपमे पाया जाता है।

सीमन्त या केशवीथीको एक आभूषणसे सज्जित किया जाता था। इसका वर्तमानरूप सिरवोर कहा जा सकता है। इस आभूषणके लिए सीमन्तस्थान कुछ विस्तृत दिखलाया गया है, इससे थोड़ा हटकर घूँघर आरम्भ किया जाता है।

घूँघरकी पहली पंक्ति ललाटके ऊपर अर्द्धवृत्तकी तरह घूमती हुई सिरके प्रान्त भाग तक जाती है। यह खुली छतरी जैसी प्रतीत होती है।

माँगके दोनो ओर पहले पटिया, तत्पश्चात् घूँघर आरम्भ होकर दोनों ओर फैल जाते है।

अलक केशरचनाके अन्य प्रकार भी उपलब्ध होते हैं। वस्तुत. सौन्दर्यकी दृष्टिसे केशरचनाका मूल्य अत्यधिक था।

चूडापाश, कुटिलपाटिया, मौलि, केशवन्धन, वेणीवन्धन आदि नानातरहसे केशोको सुन्दरतम वनानेका आयास किया जाता था।

केशसंस्कारी धूप (आदि० ९।२१)

केशोको सुगन्धित करनेके लिए कालागुरुकी विशेष सुगन्धित धूप तैयार की जाती थी, जिसके धूमसे केशोंको सुगन्धित और स्निग्ध वनाया जाता था। इस धूपका धुँआ वहुत सुगन्धित और सुहावना होता था। श्रीमन्तघरोकी नारियाँ केशोंको धोनेके अनन्तर धूपके धूममे सुगन्धित करती थी। आदिपुराणकी सभी नायिकाओमें केशोको सुगन्धित करनेकी प्रथा पायी जाती है।

पुष्पमालाभरण (आदि० ७।२३२, १५।९०)

कुटिल केशोपर पुष्पमालाएँ धारण करनेकी प्रथा प्रचलित थी। श्रीमतीके कुटिल केशोंसे सुशोभित मस्तकपर धारण की गयी पुष्प माला नीलगिरिके शिखरके समीप प्रवाहित होती हुई सीता नदीके समान शोभायमान हो रही थी। चोटीके ढीले हो जानेपर उसमे वाँधे गये पुष्प फैल गये थे[1]। एक अन्य सन्दर्भमे वताया है कि देवियाँ अपने ललाटतटपर लटकते हुए जिन अलकोको धारण कर रही थी, वे सुवर्णपट्टकके किनारेपर जडे हुए इन्द्रनील मणियोके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे। देवियोके केशपाशोके शिथिल हो जानेसे लटकती हुई पुष्पमालाएँ ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो कृष्णवर्णके सर्प श्वेत वर्णके सर्पोको निगलकर पुनः उगल रहे हो[2]।

---

१. विस्रस्तवक्कवरीवन्धविगलित्कुसुमोत्करैः।—आदि० १२।५३। २. स्रस्तस्रक्कवरीवन्धः तयोरुत्प्रेक्षितो जनैः। कृष्णाहिरिव शुक्लाहिं निगीर्य पुनरुद्गिरन्॥—वही १५।९०।

स्पष्ट है कि केशप्रसाधनके लिए पुष्पमालाओका व्यवहार किया जाता था। पुष्पमालाएँ कुटिल अलकावलीमें अपनी मनोहर छटा प्रदर्शित करती थीं।

केवल पुष्पोंका व्यवहार (आदि० १२।५३)

पुष्पो द्वारा विभिन्न प्रकारका प्रसाधन किया जाता था। वालोमे वेला, चमेली, चम्पक आदि नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्प धारण किये जाते थे। मरुदेवी और श्रीमती दोनों ही केश-प्रसाधनमे पुष्पोंका व्यवहार करती थी। केशोंका संस्कार धूपके धूम द्वारा तो होता ही था, पर पुष्पपराग केशसंस्कारमें कम सहायक नहीं था। कमलपराग एवं अन्य सुगन्धित पुष्प केशोंको सजानेके लिए काममे लाये जाते थे।

मुखसौन्दर्य-प्रसाधनसामग्री

मुखको सुन्दर और आकर्षक वनानेके लिए पत्ररचना की जाती थी। गोरोचन और कुंकुम आदिके द्वारा अनेक प्रकारकी पत्ररचना मुखपर की जाती थी। यह पत्ररचना नर और नारी दोनोंके मुखपर निर्मित की जाती थी। गोरोचन, चन्दन, कुंकुम प्रभृति सुगन्धित पदार्थोका उपयोग सर्वत्र प्रचलित था। श्रीमन्त और निर्धन दोनों ही प्रकारके व्यक्ति मुखको पुष्पो और सुगन्धित पदार्थोसे सज्जित करते थे।

ललाट तिलक (आदि० १४।६)

माथेपर लगाया गया तिलक मुख-सौन्दर्यके लिए विशेप महत्त्व रखता है। स्त्री और पुरुप दोनों ही मस्तकपर तिलकका व्यवहार करते थे, यह तिलक हरताल, मन.शिला, केशर आदि द्रव्योका वनाया जाता था। स्त्रियाँ लालरंगका तिलक लगाती थी। लालरंगकी विन्दी लगानेका प्रचार भी नारियोमे था। ललाट तिलकके अभावमे मस्तक शून्य समझा जाता था, उसे एक प्रकारसे अमाङ्गलिक भी माना जाता था। नारियाँ सौभाग्य चिह्नकी अभिव्यक्तिकेलिए केशोमे कुंकुम तो लगाती ही थीं, पर मस्तकपर भी सुगन्धित तिलक लगाती थी। मालविकाग्निमित्र[1] और रघुवंशमे[2] ललाट-तिलकका उल्लेख आया है। कुमारसम्भवमे[3] तिलकका फूल स्त्रियोके तिलकके समान कहा गया है।

पत्ररचना (आदि० ७।१३४)

स्त्री-पुरुष दोनो ही मुखपर पत्ररचना किया करते थे। यह गोरोचन और कुंकुमसे की जाती थी। ललितागने स्वयंप्रभाके कपोलफलकपर कितनी ही वार पत्ररचना की थी। राज्याभिषेकके अवसरपर राजकुमारोके कपोलोंपर भी पत्र रचना की जाती थी।

---

१. मालवि० ३।४; ४।१। २. रघुवंश १८।४४। ३. कुमार० ३।३०।

अञ्जन (आदि० १४।९)

सौन्दर्यके लिए आँखोंमें अंजनका प्रयोग किया जाता था। यह अंजन काला होता था। ऋषभदेवके नेत्रोंमें अंजन अंजित किया गया था। विरह और साधना-की स्थितिमें अंजन—काजल लगाना वर्जित था। अंजन शलाकाओं द्वारा लगाया जाता था। अजन लगनेसे मुखका सौन्दर्य कई गुना बढ जाता था।

मज्जन (आदि० २०।२०–२१)

शरीरको स्वच्छ, दिव्य और कान्तिमान, बनानेके लिए मज्जनका व्यवहार किया जाता था। स्नान शरीरशुद्धिके लिए आवश्यक माना गया है, स्नान करने-के उपरान्त मुखकी कान्ति भी बढ जाती है और शरीर रमणीय प्रतीत होने लगता है। स्नान करनेमें विशेष प्रकारकी सामग्री प्रयुक्त होती थी। आदिपुराणमें 'मज्जन सामग्र्या'[1] कहकर ही मज्जनविधिका उल्लेख कर दिया है। पर सामग्री शब्द द्वारा यह सूचित हो रहा है कि 'स्नानीयचूर्णम्'के समान कोई सुगन्धित चूर्ण या उबटन सामग्री अवश्य रहती थी, जिसका उपयोग स्नानके पूर्व किया जाता था। स्नानके पूर्व तैल मर्दन भी होता था, जिससे माँसपेशियाँ दृढ होती थी। स्नानका महत्त्व तो जन्माभिषेकसे ही प्रकट है।

अधरराग (आदि० ४३।२४९)

ओष्ठ रंगनेका प्रचलन था। रंगनेसे ओष्ठोका सौन्दर्य निखर जाता था। जो ओष्ठ स्वाभाविकरूपसे लाल होते थे वे ताम्बूल रससे और अधिक अनुरक्त होकर सुन्दर प्रतीत होने लगते थे। ओष्ठोकी उपमा प्रवालसे[2] दी जाती है। प्रवाल या विद्रुम लालवर्णका होता है, अतः लाल ओष्ठ सौन्दर्यका प्रतिमान माने जाते हैं। संस्कृत वाङ्मयमें अधरोको रंगनेका वर्णन अनेक स्थानोपर आया है।

अन्य शारीरिक अंग-प्रसाधनसामग्री

अन्य शारीरिक अंगोमें कान, हाथ, पैर प्रभृतिका स्थान आता है। आदि-पुराणमें अन्य अगोके प्रसाधन और अलंकरणका वर्णन आया है। मध्य युग अलंकरणका युग था, उस युगमें प्रत्येक अंगको अलकृत करना आवश्यक था। अन्य अंगोके अलंकरणकी सामग्री पुष्प, कुंकुम, लाक्षारस और आलक्त आदि है।

कर्णोत्पल (आदि० १५।८८)

कानोको सजाने और सुन्दर दिखलानेके लिए कर्णाभरणोके अतिरिक्त नीलो-त्पल अथवा सामान्य उत्पल भी धारण किये जाते थे। कर्णोत्पलोका वर्णन तथ्य-परक साहित्यिक शैलीमें किया है। अशोककलिका, चम्पककलिका, कमलकलिका-

१. आदि० २०।२१। २ वही १२४४॥

आदिसे तो कानोंको अलंकृत किया ही जाता था, पर उत्पलोंको भी आभूषणोके रूपमे धारण किया जाता था। नीलोत्पल अथवा अन्य किसी प्रकारके कमलोंको भी कानमे पहना जाता था।

कुंकुमाभरण (आदि० १२।३४; १३।१७८; ९।७; ३१।६१)

शरीरको सुगन्धित करनेके लिए नर और नारी दोनो ही केशरका उपयोग करते थे। कर्पूर, केशर, कालागुरुका लेप स्वास्थ्यके लिए भी गुणकारी होता था। अत कुंकुमका उपयोग स्तनो पर लेप करनेके लिए किया गया है। कुंकुमका माथे पर भी तिलक लगाया जाता था। समस्त शरीरमे भी कुंकुमका लेप किया जाता था। शरीरपर लगानेके लिए जिस अंगरागका व्यवहार किया जाता था, उसमे प्रधान अंश कुंकुमका ही होता था।

कर्पूर (आदि० ३१।६१)

कर्पूरका उपयोग सन्तापको दूर करने तथा शरीरको सुगन्धित करनेके लिए किया जाता था। मुखको सुवासित करनेके लिए पानके साथ भी इसका व्यवहार होता था। चतुर्जातिचूर्णमे कर्पूर, इलायची, लवग और जायपत्रीका प्रयोग किया जाता था।

चन्दन (आदि० १।८१; ६।८०, ८।९; ९।११)

शीतलता तथा सौन्दर्यके लिए चन्दनका व्यवहार किया जाता था। हेमन्त और शिशिरको छोडकर सभी ऋतुओमे स्त्रियाँ चन्दनका उपयोग करती थी। चन्दनको कस्तूरी और केशर द्वारा सुवासित किया जाता था। प्रियंगु, कस्तूरी, कालीय और कुंकुमको मिलाकर अवलेप तैयार किया जाता था। चन्दनको घिसकर घोल तैयार किया जाता था, इस घोल द्वारा घर या सडकको सुवासित करनेका वर्णन भी आदिपुराणमे आया है। गलियों या सडको पर सुगन्धित करनेके लिए पुष्प भी विकीर्णित किये जाते थे।[1]

आलक्तक (आदि० ७।१३३)

जिस प्रकार ओष्ठपर अधरराग प्रयुक्त किया जाता था, उसी प्रकार चरणों पर अलता। आदिपुराणमे अलताको लाक्षारस (७।१४५) भी कहा है और इसके द्वारा पैरोंको रंगनेका सन्दर्भ अंकित किया है। अलता द्वारा पैरोंको रंगनेकी कलामें स्त्रियाँ अत्यन्त निपुण होती थी। लाक्षा या आलक्तक वस्तुत. महावर है, जिसका उपयोग आजतक होता आ रहा है। आलक्तकको 'पदयावक' (आ० ४।८६) भी कहा है।

---

१. आदि० ८।२००।

पुष्पमाला (आदि० २०।१८; ११।१३३; १६।२३४; ५।२५७; १०।२०५; ९।४२; ३।३५; ३।१०८; १७।१६७; १६।८८; ११।१२०)

सभी ऋतुओमे गलेमे पुष्पमालाएँ धारण करनेकी प्रथा प्रचलित थी। उत्सवों- में विशेष प्रकारसे सुगन्धित पुष्पमालाओका उपयोग होता था। पुष्पमालाएँ प्रसा- धनका अनुपम साधन समझी जाती थी। धनी-गरीब सभी प्रकारके व्यक्ति जीवन मे आनन्दोल्लास प्राप्त करनेके लिए उत्सुक रहते थे। माल्याभरण सभीके लिए सुलभ था। मालाएँ कई प्रकारकी बनायी जाती थी। दुहरे पुष्पोंको गूंथकर जो मालाएँ बनती थी, वे श्रीमन्तोके उपयोगमे आती थी। पुष्प और पुष्पमालाओं- का विशेष प्रचार था। मन्दारमालिका,[1] चम्पकमाला,[2] कमलमाला प्रभृति विशेष- विशेष मालाएँ भी निर्मित होती थी। पुष्पमालाएँ सर्वाङ्गमें धारण की जाती थीं। भुजाओमें बाजूबन्दके रूपमे और हाथमें कंकणबन्धके रूपमे मालाओका व्यवहार किया जाता था।

सुगन्धितचूर्ण (आदि० १४।८८)

सुगन्धित द्रव्योके समान नाना प्रकारके सुगन्धित चूर्णोका भी उपयोग किया जाता था। आजकल जिस प्रकार पाउडरका व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार आदिपुराणके भारतमे विभिन्न प्रकारके सुगन्धित चूर्णोका उपयोग किया जाता था। पटवास चूर्ण अत्यन्त सुगन्धित होता था, जिसकी सुवास सभी को आकृष्ट करती थी। कमलपराग (आदि० ९।५) का व्यवहार भी किया जाता था। केसरचूर्ण, कस्तूरीचूर्ण प्रभृतिका उपयोग भी उस समय होता था।

पुष्पोंका व्यवहार

पुष्पोका व्यवहार अनेक प्रकारसे किया जाता था। आदिपुराणके भारतमें निम्नलिखित पुष्पोका व्यवहार होता था—

उत्पल (आदि० ९।४)
शिरीष कुसुम (आदि० ९।१२)
कदम्बपुष्प (आदि० ९।१७)
अम्भोज (आदि० १।१३)
नीलोत्पल (आदि० ४।११२)
कुवलय (आदि० ४।११२)
पद्म (आदि० ४।११८)
मन्दारपुष्प (आदि० ४।१९७)
अरविन्द (आदि० ५।११६; ६।६३)

---

१. वही ११।२। २ वही ३१।६४।

चम्पक (आदि० ३।१९४)
केतकी (आदि० १२।२४७)
अशोक कलिका (आदि० ९।९)
कुटज (आदि० ९।१६)
कुरवक (आदि० ६।६२; १२।२१)
अब्ज (आदि० ६।६४)
नलिनी (आदि० ६।१६७)
रक्तकमल (आदि० ७।१४५)
कुन्द (आदि० ७।१४५)
इन्दीवर (आदि० ९।२३)
अयुच्छद या सप्तवर्णच्छद या सप्तपर्णच्छद (आदि० ९।२)
लोध्र पुष्प (आदि० १९।१६८)
जपा पुष्प (आदि० २३।४१)
माधवी पुष्प (आदि० ६।१७७; २७।४७)
बन्धूक पुष्प (आदि० २६।२१)—दुपहरिया पुष्प
पाटल (आदि० ३७।९०)—गुलाव
पंकज (आदि० ६।७९)
सरोज (आदि० ६।१६७)
कञ्ज (आदि० ६।७३)
प्रियंगु (आदि० ७।१३४)

उपर्युक्त पुष्पावलीमे अब्ज, उत्पल, कञ्ज, पंकज, सरोज, अम्भोज प्रभृति कमलके ही रूपान्तर है, पर इनका व्यवहार भिन्न-भिन्न सन्दर्भोमे आया है। अतः उपयोगिता और व्यवहारकी दृष्टिसे अरविन्द, इन्दीवर आदिको पृथक् रूपमे परिगणित किया गया है।

आम्रमञ्जरी (आदि० ५।२८८)

आम्रमञ्जरीका व्यवहार वसन्तऋतुमे विशेप रूपसे होता था। शौकीन व्यक्ति वनविहार और जलविहार करते थे तथा वहाँ नायक-नायिकाएँ आम्रमञ्जरीद्वारा विभिन्न प्रकारको क्रीडाएँ करती थी। आम्रमञ्जरीका उपयोग कई प्रकारसे होता था। आदिपुराणके एक सन्दर्भमे आम्रमञ्जरी उपमानके रूपमे व्यवहृत है। वताया है कि जिस प्रकार नवीन आम्रमञ्जरी भ्रमरको प्रिय होती है, उसी प्रकार स्वयंप्रभा ललितांगदेवको प्रिय थी। सहकार-आम्रवनोमे प्रियाओके साथ वसन्तक्रीडाके चित्रण भी पाये जाते है।[1]

१. आ.दि० ६।८।

पुष्पमञ्जरी (आदि० ११।१८)

वनविहारके समय उद्यानोमे विलासी व्यक्ति पुष्पमञ्जरियोसे क्रीडाएँ करते थे। पुष्पमञ्जरीका तात्पर्य पुष्पगुच्छोसे है। ये पुष्पमञ्जरियाँ कई प्रकारके पुष्पो को एक साथ लेकर गुलदस्ता जैसी वनायी जाती थी।

दर्पण (आदि० १।४०; ११।११, १५।२१; ७।३)

दर्पणका उपयोग मुखावलोकनके लिए सभी स्त्री-पुरुष करते थे। चक्रवर्ती अपनी पुत्री श्रीमतीको समझाता हुआ कहता है कि तू शीघ्र ही सुखपूर्वक स्नान कर, अलंकार धारण कर और चन्द्रविम्वके समान उज्ज्वल दर्पणमे अपने मुखकी शोभा देख। इस कथनसे स्पष्ट है कि चिन्ता या विपत्तिके समय दर्पणका उपयोग नही किया जाता था। जव मनमे उत्साह और उमंग रहती थी, तभी दर्पणमे अपनी आकृति देखकर अलंकरण और प्रसाधनका कार्य सम्पादित होता था। जहाँ दासियाँ अलंकरण करती थी, वहाँ भी अलंकरणके पश्चात् स्वामिनी दर्पण-मे अपना प्रतिविम्व देखकर ही यथार्थता और अयथार्थताका निर्णय करती थी। दर्पणकी शोभाका वर्णन सभी प्रसंगोमे किया गया है। दर्पणका उपमानके रूप में(१।४०) मे उपयोग हुआ है। इस उपमान द्वारा वस्तुओके साक्षात् अवलोकन पर प्रकाश डाला गया है।

अन्य उपभोग्य सामग्री

सास्कृतिक जीवनके लिए रहन-सहनके स्तरका उन्नत होना आवश्यक है। अतएव आदिपुराणमे शय्या, व्यजन, पल्यङ्क, चन्दनलेप आदिका भी उल्लेख प्राप्त होता है।

शय्या (आदि० ४७।१०५)

शय्याकी उपयोगिता अत्यधिक है। शय्या कई प्रकारकी होती थी। पुष्पोंसे शय्याको सजाया जाता था।

तल्प (आदि० ९।२४)

गद्देदार शय्याको तल्प कहा गया है। इस शय्यापर सुन्दर स्वच्छ चादर भी विछी रहती थी। तल्पका प्रयोग धनिक परिवारोमे होता था, पर शय्या—खाट या चारपाईका व्यवहार सर्वसाधारणमें भी पाया जाता था।

दर्भशय्या (आदि० ३५।१२५)

त्यागी, साधक या निर्धन व्यक्ति दर्भकी शय्या वनाकर अर्थात् दर्भकी चटाई वनाकर शयन करते थे। वस्तुत. किसी विशेष अभीष्टकी सिद्धिके लिए दर्भशय्या का आश्रय ग्रहण किया जाता था।

व्यजन (आदि० ६।९२)

व्यजन पंखाके अर्थमे प्रयुक्त है। आतापकी शान्तिके लिए अथवा शीतोपचारके लिए व्यजनका व्यवहार किया जाता था। सुवासित जल, रक्तकमल और व्यजन द्वारा की गयी वायु आताप-शमनके लिए लाभदायक बतलायी गयी है।

•

चतुर्थ परिच्छेद

वाहन

आदिपुराणके भारतमे विभिन्न प्रकारके वाहनोंका प्रचार उपलब्ध होता है। मानव अपनी सीमित शक्तिके कारण देशकृत दूरीको पैरों द्वारा नही नाप सकता है, अतएव उसे तीव्रगामी वाहनोकी आवश्यकता होती है। वाहन अनेक रूपोमें प्रयुक्त किये जाते थे। राजपरिवार, सामन्त, श्रेष्ठिवर्ग एवं सार्थवाहोमे विशेष प्रकारके वाहनोका प्रयोग होता था। हाथी, घोडे, रथ एवं शिविका आदि साधारण व्यक्तियोके लिए दुर्लभ थे। यान और विमानोका व्यवहार तो केवल सार्थवाह और विद्याधरोमे ही होता था। सर्वाधिक तीव्रगामी वाहनोमे विमानकी गणना की गयी है। विमान आकाशमार्गमे चलता था और इसके चालक विद्याधर श्रेणीके व्यक्ति थे। समाजशास्त्रकी दृष्टिसे विद्याधर ऐसा वर्ग है, जो विज्ञानका वेत्ता है और विज्ञान द्वारा विद्युत्-चालित यन्त्रोंका आविष्कारक है। जिन आकाशगामी विमानोका उल्लेख आदिपुराणमे आया है, वे जनसाधारणके लिए दुर्लभ है। जनसाधारण शकट, अश्वतरी—खच्चर एवं घोडेका प्रयोग करता था। कृषकवर्ग वृषभ और शकटका उपयोग करता हुआ परिलक्षित होता है। फसल एवं अन्य घरेलू वस्तुओके यातायातके लिए शकट ही सबसे उपयोगी वाहन है।

बोझा ढोनेके लिए खच्चरोका उपयोग सर्वाधिक रूपमे किया जाता था। हाथी भी युद्धके अवसरपर वस्तुओके यातायातमे प्रयुक्त होते थे।

सामान्यतः आदिपुराणके अवलोकनसे ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन समस्त वाहनोंका व्यवहार आदिपुराणकी जनता करती हुई दिखलाई पड़ती है। गुप्तकालमें अश्व और गज सर्वाधिक प्रिय वाहन थे। राजा महाराजा ऐसे रथोंका व्यवहार करते थे जिनमें तीव्रगामी अश्व जोते जाते थे। अश्वयुगलके साथ किसी

किसी रथमें दो युगल अश्व भी प्रयुक्त मिलते है। भरत चक्रवर्त्तीने दिग्विजयके अवसरपर जिस रथका[1] उपयोग किया है, वह रथ जल और स्थल दोनोमे समान रूपसे चलता था। पहाड़ी भूमि भी उसके लिए दुष्कर नही थी। चक्रवर्त्तीके इस रथका अध्ययन करनेपर इसकी तुलना हम आजके टैंकोंसे कर सकते है। टैंक जलमे नही चलते, पर चक्रवर्तीका रथ जलमे भी गमन करता था। अतएव स्पष्ट है कि गुप्तकालमें इस प्रकारके रथ व्यवहारमे लाये जाते थे, जिनकी गति अप्रतिहत थी।

अश्व और उसकी गतियाँ (आदि० ३१।१-९)

आदिपुराणमे जिन वाहनोंका उल्लेख आया है, उनकी चाल एवं अन्य तत्सम्बन्धी उपकरणोंका भी वर्णन पाया जाता है। आदिपुराणमें घोडोंकी चालके लिए 'धौरित'[2] शब्दका प्रयोग किया है। वताया गया है कि सवारीके लिए उत्तम जातिके अश्वोंकी परख करते समय उनकी धौरित गतिकी पहचान करनी चाहिये। उत्साहसे उनका वल जाना जाता है, स्फूर्तिसे उनकी चाल चलनेकी शिक्षा ज्ञात की जाती है। आदिपुराणमे स्वयं ही 'गतिचातुर्य' को धौरित कहा है। इस ग्रन्थमे उत्साहको पराक्रम[3] विनयको शिक्षा[4] और रोमोकी कान्तिको शरीरका गुण वताया गया है।[5] अच्छी तरह मार्ग तय करनेवाले घोडे वहुत जल्दी-जल्दी चलते थे। उनके खुरोंसे जो धूल उडती थी, उसीसे उनकी गतिका अनुमान किया जा सकता था। घोड़ोंकी गतिका वर्णन वायुके उपमान द्वारा किया गया है।[6] वायु जितनी तीव्र गतिसे चलती है, उत्तम जातिके अश्व भी उतनी ही तीव्र गतिसे गमन करते हैं। अश्वोंका पराक्रम भी अद्भुत होता था, और उन्हे अनेक प्रकारको शिक्षाएँ दी जाती थी। केवल चाल ही नही सिखलाई जाती थी, अपितु पीछेके पैरोंपर खडे होकर आगेके पैरो द्वारा शत्रुके मुकुटका अपहरण करना, शत्रुके अश्वको घायल करना एवं अपने आतङ्क और प्रभाव द्वारा शत्रुके अश्वको रणभूमिसे भगा देना, आदिकी भी शिक्षा दी जाती थी।

आदिपुराणमें अश्वकी चालके पाँच भेद वताये गये है[7]—

१. आस्कन्दितम्

२. धौरितकम्

---

१. तन. स्थपतिरत्नेन निर्ममे स्यन्दनो महान्। सुवर्णमणिचित्राङ्गो मेरुकुञ्जश्रियं हसन्॥ चक्ररत्नप्रतिस्पर्धिचक्रद्वितयसगत। वज्राक्षघटितो रेजे रथोऽस्येव मनोरथः॥ आदि० २६।६९–७०, तथा २८।१०५–११४। २ धौरितं गतिचातुर्यम्—आदि० ३१।३। ३ उत्साहैः सत्त्वम्—वही, ३१।२। ४. शिक्षाञ्च लाघवैः, शिक्षाविनयसम्पत्ती। वही, ३१।२–३। ५. रोमच्छाया वपुर्गुणः। वही, ३१।३।६. वायुरहसाम्—वही, ३१।९। ७, वही, ३१।४–५।

३. रेचितम्

४. वल्गितम्

५. प्लुतम्

पैरोको उछाल-उछालकर रखना आस्कन्दित गति है। कङ्क, मयूर, नकुल आदिके समान सपाटेसे चलना धौरितक है। मध्यम वेगसे चक्रवत् भ्रमण करना रेचित है। पैरोके वल कूदकर चलना वल्गित है। मृगके समान उछलकर चलना प्लुत है। प्लुत गतिमे अश्व कूदता हुआ दौड़ता है। सामान्यतः अश्वके गमनको धारा शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। जिस प्रकार नदीकी धारा अनेक रूपाकृतियोमे प्रवाहित होती है, उसी प्रकार अश्व भी कही उछलकर, कही कूदकर, कही सरपट और कही शान्त वेगपूर्वक गमन करता है। अतएव धाराके समान अश्वकी गतिका वर्णन बहुत ही सार्थक प्रतीत होता है।

घोडोकी घुडसारको मन्दुरा[1] कहा गया है। मन्दुराकी व्यवस्था अनेक प्रकारसे की जाती थी। सवारीके घोड़ोको स्वस्थ रखनेके लिए अङ्गराग[2]का प्रयोग किया जाता था। यह अड्गराग घोडोंके शरीरमे लिप्त किया जाता था, जिससे उनकी शारीरिक थकावट तो दूर होती ही थी, साथ ही वे अगली मंजिल तक पहुँचनेकी शक्ति भी प्राप्त करते थे। घोडोके मुखमें लगाम लगायी जाती थी, जिसे 'मुखभाण्ड'[3] कहा गया है। मुखभाण्ड वस्तुत. आजके तोवरा जैसा था, खलीन जैसा नही। खलीन केवल घोडेको नियन्त्रित करनेके लिए प्रयोगमे लायी जाती थी।

घोडोंके शरीरपर जो पलान रखा जाता था, उसे 'पर्याण[4]'—पल्यायन कहा है। पर्याण अत्यन्त सुखद और सवारको बहुत समय तक बैठे रहनेपर भी श्रान्ति-क्लान्ति उत्पन्न न हो इस दृष्टिमे मुलायम गद्देदार बनाया जाता था। सवारीके लिए आदिपुराणके भारतमे जितने साधन उपलब्ध थे, उन सबमें अश्व और गजकी सवारी विशेष महत्त्वपूर्ण थी। अश्वोंको युद्ध, सामान्य घुडदौड एवं विशेष उत्सवोमे सम्मिलित होनेके हेतु विनयकी शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया जाता था। अश्व गजकी अपेक्षा तेज वाहन था। यह सिन्धुदेश[5], कम्बोज[6], तुरुष्क[7], वाल्हीक[8] आदिसे भी खरीदकर लाया जाया जाता था।

गजवाहन (आदि० ३०।४८, २९।१२२)

सवारीके लिए गज़का प्रयोग आदिपुराणमे सर्वत्र पाया जाता है। श्वेतरंगका गज सवारीके लिए सर्वोत्तम माना गया है। हाथीको वनसे पकडनेके

---

१ आदि० २९।१११। २. वही, २९।११६। ३. वही, २९।११२। ४. वही, २९।११२। ५. वही, ३०।१०७। ६. वही, ३०।१०७। ७. वही, ३०।१०६। ८. वही, ३०।१०७।

अनन्तर उसे पूर्णतया सुशिक्षित किया जाता था। महावतकेलिए आदिपुराणमे आधोरण[1] शब्दका प्रयोग हुआ है, यह नवीन गजोको अनेक प्रकारसे शिक्षा देता था। आदिपुराणके अध्ययनसे स्पष्ट होता है कि कई जातिके गज प्रयोगमें लाये जाते थे—

१. द्विप
२. मातङ्ग
३. कुञ्जर
४ दन्ती
५. द्विरद
६. स्तम्वेरम
७. भीलुकगज
८. करी
९. नाग

द्विप हाथियोंकी वह जाति है जो आसामके जंगलोमे निवास करती थी, जिसे पकडनेके लिए अधिक प्रयास करना पडता था। द्विप यो तो सामान्यत: गजके अर्थमे प्रयुक्त होता है, पर जिसके गण्डस्थलसे मद स्रवित होने लगता है, उसी गजको आदिपुराणमे द्विप कहा गया है। 'पीतं वनद्विपैः पूर्वमम्वु तद्दान-वासितम्[2]' द्वारा हमारे उक्त कथनकी पुष्टि होती है। वस्तुत: वन्य गजको ही द्विप कहनेकी प्रथा प्रचलित थी।

मातङ्ग[3] गजोंकी वह जाति है, जो मदनसे उद्दीप्त होकर उन्मत्त अवस्थाको प्राप्त होता है। सामान्य गजकेलिए मातङ्गका प्रयोग नही किया गया है। मातङ्ग मदोन्मत्त होनेके कारण सरोवरो और सरिताओंमे निरन्तर स्नान आदि करते है। मातङ्ग चलनेमे भी वहुत तेज होते थे। युद्धके अवसरपर मातङ्गोका प्रयोग किलेको ध्वंस करने एवं दरवाजोंको तोडने तथा सेनाको छिन्न-भिन्न करनेमे किया जाता था। सवसे अधिक सवल जाति मातङ्गोकी है। मातङ्गोको लघुताकी शिक्षा देना सम्भव नही। उन्हे केवल प्रचण्ड कार्य करनेकेलिए ही शिक्षित किया जाता था।

कुञ्जर[4] भी मदोन्मत्त हाथीको कहा जाता है। पर कुञ्जर और मातङ्गमें अन्तर यह है कि उग्र और प्रचण्ड कार्य करनेके लिए मातङ्गोका प्रयोग सर्व-प्रथम होता है और कुञ्जरोका उसके पश्चात्। कुञ्जर राजसवारीके लिए प्रयुक्त

---

१ आदि०, २९।१२७। २. वही २९।१२६। ३. वही, २९।१३४, १३६, १४१, १४२। ४. वही, २६।१३२।

होते हैं जब कि मातङ्गका व्यवहार सैनिक करते है। कुञ्जर मदस्रावी होने पर भी वश्य है, पर मातङ्ग अङ्कुश द्वारा भी वश्य नही होता। कुञ्जरका शुण्डा-दण्ड मातङ्गकी अपेक्षा लम्बा रहता हैं। आदिपुराणमें कुञ्जरका प्रयोग जिस सन्दर्भमें किया है, उस सन्दर्भसे ऐसा प्रतीत होता है कि कुञ्जरोकी गर्जना मेघ-तुल्य होती थी। कुञ्जर प्राय. श्वेत वर्णके होते थे। मातङ्गोंका वर्ण कृष्ण ही माना गया हैं, श्वेत नही; पर कुञ्जर श्वेत और कृष्ण दोनो ही वर्णके पाये जाते है।

दन्ती[1] सामान्यतः उस हाथीके लिए प्रयुक्त होता, था जिसकी अवस्था बीस वर्षसे अधिककी होती थी। जब गजके दाँत निकल आते है, जो बाहरसे स्पष्टत: दिखलाई पढते है उस समय सामान्यत' किसी भी हाथीको दन्ती कहा जाता हैं। सामान्यतः कदली वनमे दन्तियोके प्राप्त होनेकी बात कही जाती है, दन्ती कभी-कभी अङ्कुशको नही मानता है। अतएव उपद्रव भी करने लगता है। दन्तीकी सवारी आखेटके अवसर पर राजा लोग करते थे।

दन्तीसे कम शक्तिवाला द्विरद[2] माना गया है। दन्तीकी अवस्था द्विरदसे कुछ अधिक होती है। द्विरद सहजसाध्य है, पर दन्ती प्रयत्नसाध्य होता है। द्विरदका वाहनके रूपमे अधिक प्रचार था। युद्धके अवसरपर सामान ढोनेके लिए भी द्विरदका प्रयोग होता था। द्विरदको महावत अङ्कुशसे सहज ही वशमे कर लेता था। प्रशिक्षित होनेपर द्विरद भी युद्धभूमिमे संहारका कार्य करता था।

स्तम्बेरम[3] घनी झाडीमे रहनेवाला हाथी था। झाड़ीसे ले आनेके अनन्तर प्रशिक्षित करनेपर यह वाहनके लिए उपयोगमें लाया जाता था। इसकी प्रकृति प्रमादी होती थी तथा महावतको भी यह भूल जाता था। स्तम्बेरम कृष्णवर्णका होता था। शीतप्रिय होता था और जल या जलीय वस्तुओको अधिक पसन्द करता था। यद्यपि कमलनालके साथ क्रीडा करनेमे इसे आनन्द आता था, पर गहरे जलसे यह डरता है। शक्तिमे यह द्विरद एवं दन्तीसे अधिक ही होता था, पर अपनी शक्तिका प्रयोग कम करता था।

भीलुकगज[4] गजकी वह जाति थी, जो करिसे छोटी और द्वीपसे बड़ी होती थी। इसकी ऊँचाई सामान्यतः दस हाथके लगभग होती थी। यह क्रीडाप्रिय नही होता और न इसका उपयोग युद्धमे ही किया जाता था। इसमे अधिक शक्ति भी नही पायी जाती। अतएव यह सवारीके काममें अधिक आता था। ऐसा अनुमान होता है कि भीरु स्वभाव होनेके कारण ही यह भीलुकगज कहलाता था।

करी[5] उत्तम श्रेणीका हाथी है। पालतू हाथियोकी श्रेणीमे यह सबसे अधिक

---

१. आदि० २९।१२७। २. वही, २९।१३६। ३. वही० २९।१३८.। ४. वही, २९।१३७। ५. वही, २९।१४४।

उपयोगी माना जाता हैं। राजा, महराजा, सेठ, सामन्त, साहूकार करीका ही सवारीके लिए उपयोग करते थे। इस श्रेणीका उन्नत और श्रेष्ठ हाथी करीन्द्र कहलाता था। करीन्द्रका उपयोग मण्डलेश्वर या सम्राट् ही करते थे। करीन्द्रको विभिन्न प्रकारके आभूषणोसे भी सजाया जाता था।

नाग जातिका हाथी फुर्तीला तेज और अधिक समझदार होता था। जल-क्रीडा इसे बहुत पसन्द थी। यह सामान्यतः युद्धके काममे लाया जाता था। सामन्त और सैनिक इसकी सवारी करते थे।

रानियाँ, श्रेष्ठपत्नियाँ एवं सामन्तवर्गकी स्त्रियाँ करेणुओ[२]का सवारीकेलिए प्रयोग करती थी। अदिपुराणमे बताया गया है कि वज्रदन्त चक्रवर्तीने जब प्रस्थान किया तो उनके सेवकोने रानियोकी सवारीके लिए करेणुओकी व्यवस्था की। इन करेणुओके गलेमे स्वर्णमालाएँ पडी थी और पीठपर स्वर्णमय झूले सुशोभित हो रही थी। मदरहित होनेके कारण नारियोंके लिए सवारीके हेतु करेणुओ—हथिनियोका ही व्यवहार किया जाता था। घोड़ियाँ भी सवारीके लिए स्त्रियो द्वारा काममे लायी जाती[३] थी। तरुण हाथीको वर्क[४] और तरुण घोडेको वाजि[५] कहा गया है। हथिनीके लिए धेनुका[६] का प्रयोग आया है। महावतको धूर्गत[७] कहा गया है।

अश्वतरी—(आदि० ८।१२०) खच्चरोका उपयोग सवारी और सामान ले जानेकेलिए किया जाता था। खच्चर भी घोडोके समान शीघ्रगामी थे। अत. सम्भ्रान्त और साधारण दोनों ही प्रकारके व्यक्ति इनका उपयोग करते थे।

शिविका (आदि० १७।८१)

शिविकाका उपयोग विशिष्ट व्यक्तियोको सवारीके लिए किया जाता था। शिविका और पालकीमे थोडा-सा अन्तर है। शिविका रत्नजटित तो होती ही थी, साथ ही दुकूल और क्षौम वस्चो द्वारा उसका आच्छादन किया जाता था। अतएव सर्वोत्तम दिव्यवाहनके रूपमें शिविकाको ग्रहण किया है। शिविकाको ले जाने के लिए चार वाहकोकी आवश्यकता होती थी। शिविका पालकीकी अपेक्षा अधिक आरामदेय मानी जाती थी। इसमे बैठनेके लिए भीतर गद्दी एवं तकिये भी लगे रहते थे।

अश्विमा (आदि० ८।१२१)

पालकीके अर्थमे अश्विमाका प्रयोग किया है। अश्विमाको ले जानेके लिए

---

१ आदि० २९।१४३। २. वही, ८।११९। ३. वही, वामो...३०।१०१। ४. वही, २९।१५३। ५. वही, ३१।३३। ६ वही २६।१५६। ७ वही ३६।१०।

मजबूत काचवाह—कहारोंकी आवश्यकता पडती थी। अश्विमा ऐसी पालकी थी, जो शिविकासे थोड़ी-सी भिन्न है। अश्विमामे भी गद्दे और तकिये भीतरमे लगे रहते थे. पर उनमे दिव्यत्वका अभाव रहता था, जबकि शिविकामे दिव्यत्व पाया जाता था।

शकट (आदि० १७।३२)

शकट जनसाधारणकी सवारी है। यह वैलगाड़ीका पुरातन संस्कारण है। आजकल इसे सगड कहते है। सगड़ एक प्रकारका ठेला है जिसे मनुष्य भी खीचते है और वैल भी। प्राचीन शकटमे वैल ही जोते जाते थे। शकटका व्यवहार वोझा ढोनेके लिए राजा और सामन्तोके यहाँ भी होता था।

रथ (आदि० १०।१९९, ५।१२७)

रथका प्रयोग सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त परिवारोमे ही होता था। रथमे घोड़े और वैल दोनो ही जोते जाते थे। मध्यम वित्तके व्यक्ति रथोमे वैल ही जोतते थे। रथकी वनावट वहुत सुन्दर और शीत-आतपसे रक्षा करनेवाली होती थी। ऊपर एक टप्पर रहता था और चारों ओर परदे लगे रहते थे। रथका मध्यभाग चौकोर एवं गोल होता था। इसमे चार पहिये प्रायः रहते थे। वड़े रथोमे दस-पन्द्रह तक सवारियाँ वैठ सकती थी और छोटे रथोमे तीन-चारसे अधिक सवारियाँ नही वैठ पाती थी। वड़े रथ वजनदार एवं आकारमे भी महत् होते थे। छोटे रथ हल्के शीघ्रगामी और आकारमे लघु होते थे। वनविहारकेलिए राजा-महाराजा रथोंका विशेष रूपसे उपयोग करते थे। रथ चलानेका प्रशिक्षण प्राप्त करना होता था। कुछ ऐसे रथ भी वनाये जाते थे, जिनमे अश्व या वैलोंकी आवश्यकता नही होती थी। ऐसे रथ विद्याधरोके वर्गमे ही मिलते है।

यान (आदि० १३।२१४)

यानका साधारण अर्थ वाहनसे ही है, पर विशेषार्थमें यह जलयानकेलिए प्रयुक्त होता है। प्राचीन समयमे सार्थवाह विदेशोमे व्यापार करनेकेलिए समुद्री मार्गसे जाते थे। इस जलयान यात्रामे उन्हे नाना प्रकारके कष्ट भी सहन करने पड़ते थे। जलयान तूफानके कारण नष्ट भी हो जाता था, पर वे अपनी यात्रा मे सफल होते थे।

विमान (आदि० १३।२१४)

विमानका व्यवहार विद्याधर करते थे। विमान कई प्रकारके होते थे। ये आकाशमे गमन करते थे। स्वयंप्रभाके जीव श्रीमतीने आकाशमे जाते हुए देवो के विमानको देखकर अपने पूर्वभवका स्मरण किया था और ललिताङ्गदेवको

प्राप्त करनेकेलिए वह बेचैन हो गयी थी। इसी प्रकार आकाशमें गमन करने-वाले विमानोंका कथन प्रत्येक विद्याधर कथामे आया है। विद्याधर और देव वायु-से भी अधिक शीघ्रगामी विमानोमे बैठकर यात्राएँ करते थे। विमानोका उपयोग विद्याधरोके यहाँ युद्धके लिए भी सम्भव होता था।

इस प्रकार आदिपुराणमें विभिन्न प्रकारके यानोका व्यवहार पाया जाता है।

•

पञ्चम परिच्छेद

क्रीडा-विनोद एवं गोष्ठियाँ

आमोद-प्रमोदमे सभी लोगोकी अभिरुचि रहती है। निरन्तर कार्य करनेसे श्रान्त मानव क्रीडा-विनोदद्वारा अपनी शक्तिका अर्जन करता है, और इस अर्जित शक्तिद्वारा जीवन-यात्रामे सफल होता है। प्राचीन कालसे ही भूपणभूत चेष्टाओंके अन्तर्गत क्रीडाविनोद, उद्यान-परिभ्रमण, यात्रोत्सव, वनविहार, जलविहार, पुष्पा-वचय आदि सम्मिलित है। आदिपुराणमे जीवनका सर्वाङ्गीण विकास अङ्कित है, संस्कृतिके सभी पक्ष चर्चित है और है शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकासके विभिन्न साधन वर्णित !

आदिपुराणमे शस्त्र और शास्त्र दोनो ही प्रकारके विनोदोका वर्णन आया है। शास्त्रविनोदमे समस्यापूर्ति, पहेलिकाओके समाधान एवं कथावार्ताओकी चर्चा सम्मिलित है। देवाङ्गनाएँ माता मरुदेवीका मन बहलाव करनेके लिए विभिन्न प्रकारकी गोष्ठियो, कलाओ एवं शास्त्रीय समस्याओको उपस्थित करती है, अत-एव मनोविनोदके अनेक साधन माताकी सेवाके सन्दर्भमे वर्णित है।

रूप-लवण्यसे युक्त, यौवन सम्पदासे सम्पन्न एवं विलासपूर्ण स्त्रियोके दिव्य रत्नोके आभूपण, वस्त्रमाल्य एवं चन्दन-विलेपन, यान, आसन, सम्मान, हास्य एवं व्यङ्ग्य द्वारा विभिन्न प्रकारके मनोविनोदोका सृजन किया गया है। नृत्य-गीत एवं वाद्य द्वारा आनन्दानुभूति तो की ही जाती थी, पर विभिन्न प्रकारके खेलो द्वारा भी मनोरंजन किया जाता था।

आजीविका एवं पेशेके अतिरिक्त कतिपय व्यक्ति क्रीडाके लिए ही आखेट करते थे। आखेटके सन्दर्भमें वन-प्रान्तोंका अवलोकन एवं वन्य पशुओकी विभिन्न चेष्टाएँ, उनके मनोविनोदका साधन बनती थी।

यह सत्य है कि नीरस जीवनमे कार्य-क्षमता कम हो जाती है। कार्यक्षमता-की प्राप्तिके लिए किसी-न-किसी प्रकारकी क्रीडा या गोष्ठी, उत्सवमे सम्मिलित होना परमावश्यक है। नदीके वालुकामय तटपर निरुद्देश्य भ्रमण करनेवाला व्यक्ति भी अपनी आन्तरिक प्रसन्नता द्वारा कार्यक्षमताको सजग करता है। दिन-रात कामसे थका और ऊवा हुआ व्यक्ति कुछ क्षणो तक गप कर अपनी क्रिया-शीलताको जागृत करता है। जीवनके विकास एवं उसकी कार्यशीलताके लिए जितना आवश्यक श्रम एवं विश्राम है, उससे कही आवश्यक क्रीडा-विनोद है। दिनरात विनोदमे संलग्न रहने वाला व्यक्ति भी क्रीडाप्रियके स्थानपर व्यसनी कहलाता है। जिस प्रकार अत्यधिक सेवन किया गया मिष्टान्न शरीरपुष्टिके स्थानपर रोगका कारण वनता है, उसी प्रकार क्रीडाविनोदका अत्यधिक प्रयोग मानसिक अस्वास्थ्यका कारण होता है। इसी कारण हम उसे व्यसन कहते है।

आदिपुराणमे संस्कृतिका अंग उन्ही क्रीडाविनोदो एवं गोष्ठियोंके माना गया है, जो मानसिक अस्वास्थ्यकर नही है, जिनके सेवनसे कार्यक्षमता तीव्र होती है और श्रान्ति, क्लान्तिका गमन होता है।

आदिपुराणमे स्पष्टतः वताया है कि—'उन्मार्गकं न पीडयेत्,'[1] 'अत्यन्तरसि-कानादौ पर्यन्ते प्राणहारिण[2]:'—अर्थात् सर्वथा विनोद एवं क्रीडाओका सेवन करने वाला व्यक्ति उन्मार्गगामी है और उसे निरन्तर कष्ट होता है। अत्यन्त सुखप्रद क्रीडाविनोदके साधन प्रारम्भमे अच्छे मालूम होते है, पर उनका अधिक सेवन करनेसे वे ही मृत्युके कारण हो जाते है। अतः यह अनुमान लगाना सहज है कि विनोदके साधनोंका अधिक समवाय दुःखदायी है और है संस्कृतिसे वाह्य। आव-श्यकरूपमे क्रीडाविनोदोका सेवन करना सास्कृतिक जीवनके लिए आवश्यक है। आदिपुराणमे वताया है—'सर्वो हि वाञ्छति जनो विषयं मनोज्ञम्'[3] अर्थात् सभी व्यक्ति सुन्दर सुखप्रद एवं मनोविनोदकी सामग्रीको पसन्द करते है, पर क्रीड़ा-विनोद और गोष्ठियोके सेवनमे सन्तुलनका रहना आवश्यक है। यहाँ प्रमुख क्रीडा-विनोदो एवं गोष्ठियोका निरूपण किया जायगा।

कन्दुकक्रीडा (आदि० ४५।१८३)

प्राचीन भारतकी प्रमुख क्रीडा कन्दुकक्रीडा है। भासके नाटकोंमे पद्मावती और वासवदत्ताकी कन्दुकक्रीडा प्रसिद्ध है। कन्दुक नर और नारियाँ दोनो ही खेलती थी। आदिपुराणके जिस सन्दर्भमे कन्दुककीडाका वर्णन आया है, उसमें वताया है कि जयकुमारने अपने अतिथियोके सम्मानमे कन्दुकक्रीडाका आयोजन

---

१. आदि० ४४।३४२। २. वही, ३६।७६। ३. वही, २९।१५३।

किया। यद्यपि इस सन्दर्भमें मनोविनोदके साधनोंमें नृत्य, गीत, वार्तालाप, गजारोहण, वनवाटिकाभ्रमण, सरोवर-क्रीडा आदिका वर्णन[1] किया है, पर यहाँ कन्दुकक्रीडा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कन्दुकक्रीडा कई रूपोंमे और कई विधियों से की जाती थी। कन्दुकको उछालकर उसको दूर फेंककर एवं तिरछे रूपमे पैर द्वारा उछालकर विनोद किया जाता था। कन्दुक भी कई प्रकारके होते थे, बड़े कन्दुक, जो कि आजकलके फुटवालके समान होता था, पुरुषोंके लिए क्रीडा करनेमे व्यवहृत किया जाता था। छोटे कन्दुकोसे नारियाँ क्रीडा करती थी। प्रमदवनोंमें अन्त पुरकी रमणियाँ गेंदको उछालकर और फेंककर दौड-धूप द्वारा क्रीडाएँ किया करती थी। समवयस्का सखियोके वीच कन्दुकक्रीडा सम्पन्न की जाती थी।

श्रीमद्भागवतमें कन्दुकक्रीडाका एक वहुत ही सरस प्रसंग आया है। वताया है कि विष्णु शंकरकी परीक्षाके हेतु तिरोहित हो गये और मोहिनी रूप धारण कर एक सुन्दर उपवनमे क्रीडा करने लगे। इस उपवनमें नाना प्रकारकी वृक्षावलियाँ सुशोभित हो रही थी। रंग-विरगे पुष्प खिल रहे थे और लाल-लाल कोपलोसे वह वन व्याप्त था। इस उपवनमें एक सुन्दर स्त्री सलज्ज भावसे कटाक्ष करती हुई उछाल-उछाल कर गेंद खेल रही थी। कन्दुकको उछालने और लपक कर पकडनेसे उसका हार हिल रहा था, जिससे ऐसा प्रतीत होता था कि उसकी क्षीण कटि अव टूटने हो वाली है। कन्दुकक्रीडाका ऐसा सजीव चित्रण शायद ही अन्यत्र उपलब्ध होगा।[2]

सहकारवनक्रीडा (आदि० ९।८)

वसन्त ऋतु, कोकिल और आम्र इन तीनोंका विचित्र सम्वन्ध है। वसन्त ऋतुके आते ही आम्रमे मञ्जरी फूट आती है। इस मञ्जरीके कपाय रसका पान करते ही कोकिल कूजने लगती है, अतएव ऐसा कौन सहृदय होगा, जो कुछ समयके लिए सहकार वनमे जाकर आनन्दानुभूति प्राप्त न करे। आदिपुराणमे वताया है कि वज्रजङ्घ मधुके मदसे उन्मत्त हुई स्त्रियोंसे हरेभरे सुन्दर वसन्तमे अपनी स्त्री श्रीमतीके साथ अमराइयोमें विभिन्न प्रकारकी क्रीड़ाएँ करता था। सहृदय विलासी आम्रकुञ्जमे जाकर कोकिलका मधुरालाप तो श्रवण करते ही है, पर वे आम्रमञ्जरीकी सुगन्धिसे भी अपने मन एवं आत्माको सुवासित करते है। आम्रपल्लवोका विभिन्न प्रकारसे उपयोग करना, आम्रमञ्जरियोको कानमे धारण करना एवं लुकाछिपी आदि क्रीडाओको करना सहकारवनक्रीडामे सम्मिलित था।

---

१. नृत्यगीतसुखालापैर्वारणारोहणादिभिः। वनवापीसरःक्रीडाकन्दुकादिविनोदनैः ॥— आदि० ४५।१८३। २. श्रीमद्भागवत, १२।८।१८-२१ तथा २३।

वनक्रीड़ा (आदि० १४।२०७-२०८)

आदिपुराणमें वनक्रीडाका विवेचन दो प्रसंगोंमे आया है—ऋषभदेव देव-कुमारोके साथ वनक्रीडा करते है और श्रीमती वज्रजङ्घ जैसे नायक-नायिका अपने भावोंको वृद्धिके लिए समवयस्क स्त्री-पुरुषोके साथ। ऋषभदेव वनक्रीडाके समय वृक्षोंको हिलाना, उनके पत्रपुष्प तोड़ना एवं दौडधूप कर आनन्दित होना, आदि रूपोमे आनन्दानुभूति प्राप्त करते है। वास्तवमे वनक्रीडा जीवनका एक आवश्यक अग था। शिशिर ऋतुके व्यतीत होते ही वनक्रीडाके लिए प्रस्थान किया जाता था। सुस्निग्ध और सुगन्धित पुष्पोंकी गन्धसे युक्त मनोहर नाग-केशर, पुन्नागकी रेणुसे पूर्ण सुगन्धित वायु, कोकिलकी कूज, चम्पककी सुगन्ध, माधवी लताका माधुर्य एवं क्रमुक, नारंग, कदली, जम्बु, दाडिम, लवंग, शृङ्ग, केतक आदि वृक्षोकी मनमोहक छटा सहजमें ही आकर्षणका केन्द्र वन जाती थी। वज्रजंघ कभी तो नन्दनवनके साथ स्पर्द्धा करनेवाले[1] श्रेष्ठ वृक्षोसे शोभायमान महाविभूतियुक्त गृह-उद्यानोमे श्रीमतीके साथ क्रीडा करता था और कभी लतागृहोंसे शोभायमान एवं क्रीडापर्वतोंसे युक्त वहिरुद्यानोमे क्रीडा करता था। पुष्पोंकी भीनी गन्ध एवं प्रकृतिका रम्य रूप सहज ही आकृष्ट कर लेता था। पुष्पमाला, आम्रमञ्जरियाँ, अशोककलिका एवं अशोकके पल्लव विशेषरूपसे क्रीडाके कारण वनते थे।

जलक्रीडा (आदि० १४।२०४।८।२३-२५)

ग्रीष्मऋतुमे सूर्यके तीव्र होने तथा अत्यन्त प्रचण्ड एवं तीव्र वायुके चलने पर वज्रजंघ श्रीमतीके साथ जलक्रीडा करता था। जलक्रीडाका एक अन्य सन्दर्भ कुमार ऋषभदेवकी क्रीडाके प्रसगमे भी आया[2] है। वताया गया है कि वे देव-कुमारोके साथ वापिकाओमे जलक्रीडा द्वारा मनोविनोद करते थे कभीवे हंसोके शब्दोसे शब्दायमान सरयू नदीका जल प्राप्तकर उसमे पानीके आस्फालनसे शब्द करने वाले लकड़ोके वने यन्त्रोसे जलक्रीडा करते थे।

वज्रजंघ कमलपरागके समूहसे पीत वापिकाके जलमे श्रीमतीके साथ जल-क्रीडा करता था।[3] जलक्रीडाके समय सुवर्णमय पिचकारियोसे मुखकमलका सिञ्चन किया जाता था। इस जलक्रीडाके प्रसंगमे नायक-नायिकाओंकी विभिन्न शृंगारिक चेष्टाएँ भी वर्णित रहती है। कान्ताओंको खीचकर पकड़ना, उनके कन्धेका स्पर्श करना, प्रेमपूर्वक मधुर भाषण करना, कर्पूर केशरसे सुगन्धित जलकी पिचकारी मारना एवं मुद्रिका या अन्य आभूषणको जलमे डालकर उसे

---

१. आदि० ८।१९-२० । २. वही, १४।२०४-२०६ । ३. वही, ८।२२-२८ ।

नाटकक्रीडा (आदि० १४।९७, ३७।५९, ५।२७५)

आदिपुराणमे नाटककी परिभाषा करते हुए लिखा है कि पहले किसीके द्वारा किये हुए कार्यका अनुकरण करना नाट्य है। यह नाट्य शिष्य-प्रशिष्यरूप पात्रोंमे संक्रान्त होकर मनोरञ्जन कराता है। संवाद, पाठ्य, गीत, अभिनय एवं रस के संयोगसे नाटकका गठन किया जाता है। ऋषभदेवके मनोरञ्जनके हेतु इन्द्र आदि देवोने अनेक प्रकारके नाटकोका आरम्भ किया। पूर्वरंगका प्रारम्भ करते समय इन्द्रने कुसुमाञ्जलि क्षेपण करते हुए सर्वप्रथम ताण्डव नृत्य आरम्भ किया। ताण्डवनृत्यके आरम्भमे नान्दीमंगल और तदनन्तर रंगभूमिमे प्रवेश किया। रंगभूमिमे अवतीर्ण होते ही उसने नृत्य-संगीत युक्त विभिन्न प्रकारकी अभिनय-क्रियाएँ सम्पन्न की। तालके साथ नृत्य-क्रियाएँ सम्पन्न की जाती थी, पुष्पाञ्जलि क्षेपण-द्वारा ताण्डव नृत्य किया जाता था तथा भक्तिसे प्रसन्न हुए देव-देवागनाएँ नाना प्रकारके अभिनयो द्वारा श्रोताओ और दर्शकोका मनोरञ्जन कर रही थी। वीच-वीचमे परदे उठकर और गिरकर दर्शकोके हृदयमे अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न करते थे। अनेक देवागनाएँ सूची-नाट्यका प्रदर्शन कर रही थी। यह सूची-नाट्य ऐसी नृत्य-क्रिया है, जिसका प्रयोग वहुत कुशल कलाकार ही कर सकते है। इस प्रकार आदिपुराणमे विभिन्न प्रकारके नाट्यो और नृत्योका वर्णन आया है।

प्रहेलिका अनुरञ्जन (आदि० १२।२२०–२४८)

प्रहेलिकाओका वहुत सुन्दर चित्रण आदिपुराणमे आया हैं। देवांगनाएँ मरुदेवीसे नाना प्रकारकी पहेलियाँ पूछकर उनका मनोरञ्जन करती है। आदिपुराण के भारतमे राजा धर्मादि कार्योसे निवृत्त होकर पुष्ट एवं स्वादपूर्ण भोजनकर आलस्यके दूर होने पर प्रहेलिकाक्रीडा द्वारा अपने ज्ञानकी वृद्धि करता था। इस क्रीडाको सम्पन्न करनेके लिए अनेक चतुर, ज्ञानी, विद्वान् तथा साहित्यज्ञाताओ को वुलाया जाता था तथा उन्हीके वीच सम्मिलित होकर प्रहेलिकाक्रीडा सम्पन्न की जाती थी। इस क्रीडामे एक व्यक्ति प्रहेलिका पूछता था और दूसरा व्यक्ति उसका उत्तर वतलाता था और ठीक उत्तर न वतलाने पर पराजयका निर्णय किया जाता था। इस प्रकार प्रश्नोत्तरो द्वारा समस्त व्यक्तियोके हृदयमे कौतूहलके साथ मनोरञ्जनका सञ्चार किया जाता था। आदिपुराणमे आयी हुई पहेलियाँ कई प्रकार की है—एकालापक, क्रियागोपित, गूढ़क्रिया, स्पष्टान्धक, समानोपमान, गूढ़ चतुर्थक, निरौष्ठ्य, विन्दुमान्, विन्दुच्युतक, मात्राच्युतक, व्यञ्जनच्युतक, अक्षरच्युतक, द्वयक्षरच्युतक, वहिर्लापिका, अन्तर्लापिका एवं गोमूत्रिका आदि प्रधान है। स्वरूपप्रश्ना प्रहेलिकाके अन्तर्गत किसीके स्वरूपको तथा हेतुप्रश्नामे किसी वस्तुके हेतुको पूछा जाता था। अक्षर सार्थक और पद सार्थक प्रहेलिकाका उत्तर प्राय:

अक्षर या पदोंके अर्थद्वारा ही निकाला जाता था। इसमें मध्य, अन्त तथा प्रारम्भका अक्षर या पद छोड़ दिया जाता था।

वाह्याली क्रीडा (आदि० ३७।४७)

वाह्याली उस मैदानका नाम है, जिसमें विनोदार्थ अश्व और गजोंकी दौड़ होती थी। राजा या सामन्त वाह्यालीमें बैठकर गज एवं अश्व क्रीडाका दर्शन करता था। मदोन्मत्त गज दौड़नेमें सबसे उत्तम रहते थे, अतः उनकी मदवृद्धिके लिए विभिन्न प्रकारकी औषधियाँ उन्हें भोजनके साथ दी जाती थीं। यों तो सामान्यतः मृग, मन्द्र और भद्र इन तीन[1] जातियोंके गज उल्लिखित मिलते हैं, पर मातङ्ग, कुञ्जर आदि भेद भी उनकी सात्त्विक, राजसी और तामसी वृत्तिके कारण सम्भव हैं। मेधावी, स्निग्ध वर्णवाला, कामुक, दीर्घायु अन्वर्थभेदी गज सात्त्विक प्रकृतिका होता है। वेगवान्, शूर, प्रज्ञावान्, स्तानवेदी दुष्ट गज राजसी प्रकृतिका माना गया है तथा क्लेशसे कर्मको करनेवाला, शीघ्र भूलनेवाला प्रत्यर्थ वेदी गज तामसी होता है[2]।

वाह्यालीमें गजविनोद एवं गजोंकी दौड़ हुआ करती थी। सर्वप्रथम गजाध्यक्षोंको बुलाकर गजोंको तैयार कराया जाता था। अनन्तर नगरभरमें वीरशृङ, मृदंग, ढक्का, जयघण्टा आदिका नाद कराया जाता था। रात्रिके प्रथम पहरमें वीरशृङ्गका नाद होनेपर गजोंके परिचायक गजोंको चारों ओरसे घेरकर उनको युद्धके लिए तैयार करते और सिंहनादकर क्रोध उत्पन्न करते थे। राजा और अन्य दर्शक वृन्द वाह्यालीमें गजोंकी इन क्रीडाओंको देखकर आनन्दित होते थे।

जिस दिन वाह्यालीमें काम-क्रीडाका प्रदर्शन किया जाता था, उस दिनके एक दिन पहले कामोद्दीपनके लिए गजोंको विशेष प्रकारका आहार खिलाया जाता था। विनोदके दिन हाथीको भोजन-पानी कुछ नहीं दिया जाता था। उसके जवनस्थलोंमें तेल मर्दनकर उसके मस्तक पर सिन्दूरका तिलक लगाया जाता था और महामात्र उसको भिन्न-भिन्न शृङ्गारादिसे आभूषितकर आलानमें बाँध देते थे। अनन्तर हाथी और हथिनीकी विभिन्न प्रकारकी कामक्रीडाएँ आरम्भ होती थीं।

वाह्याली माय सौ धनुष लम्बी और साठ धनुष चौड़ी बनायी जाती थी। उसके मैदानको मिट्टी पत्थर तथा कंकड़ादिसे शून्यकर अपांसुल तथा समतल बना दिया जाता था। यह पूर्व दिशाकी ओर ऊँची होती थी। इसमें दो विशाल द्वार होते थे। उनके आगे दो अत्यन्त विशाल तोरण पूर्व दिशाकी ओर मुँह

१. मानसोल्लास, ४।३।३३०। २. वही, ४।३।३३८-४०।

करके वनाये जाते थे। वाह्यालीके दक्षिणकी ओर मध्यभागमे ऊँचा सुन्दर आलोक-मन्दिर वनता था। यह ऊँचा तो होता ही था, पर इसके चारो ओर गहरी खाई भी होती थी। यह अनेक प्रकारके रत्न, सुवर्ण आदिसे जटित एवं सुधाके समान धवल होता था। परिखा पर फलक द्वारा सीढियोसे पूर्ण मार्ग वनाया जाता था। इस प्रकारका गृह वनवानेसे गज उस मन्दिर तक नही पहुँच पाते थे। इसी प्रकारसे दक्षिण भागके समीप ही कुछ पीछे परिखासे पूर्ण ऊँचा चित्रोंसे युक्त भित्तिवाला, सुरम्य, विशाल, आठ स्तम्भोसे पूर्ण, स्थूल हाथियोके वक्ष स्थलकी ऊँचाईके वरावर पूर्वके द्वारके समीप उत्तर दिशाकी ओर एक अन्य मण्डप वनाया जाता था। इस प्रकार वाह्यालीका निर्माण गज एवं अश्व विनोदके हेतु किया जाता था[1]।

वाह्यालीमे गजोंके समान अश्वोंकी भी दौड़ एवं अन्य क्रीडाएँ सम्पन्न होती थी। आदिपुराणमे देशानुसार अश्वोंके नाम आये है। अश्व रूप, कुल, जाति, गति एवं वर्णादिमें श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम एवं हीन, हीनतर, हीनतम होते थे।

वाह्यालीमें दौड़के लिए जो अश्व उपस्थित किये जाते थे उनकी ग्रीवामें कुंकुम लेप किया जाता था और उन्हे विभिन्न प्रकारके वस्त्राभूषणोसे सज्जित किया जाता था। अत्यन्त चतुर अश्वारोही दो भागोंमें आठ-आठकी संख्यामे विभक्त हो जाते थे[2]।

राजाके साथ अन्तःपुरकी स्त्रियाँ, कुमार, सचिव, आमात्य, मन्त्री एवं अन्य वहुतसे व्यक्ति उपस्थित रहते थे। दोनों पक्षके अश्वोकी ओर दो तोरण तीन-तीन धनुषकी दूरीपर वंधे होते थे। तोरण तथा स्तम्भोके वीच चार धनुषकी दूरी होती थी। वहाँसे कन्दुकके निष्कासन द्वारा जय-पराजयका अनुमान किया जाता था। जिन व्यक्तियोके द्वारा गेंद निकाल लिया जाता था, वही विजयी होता था। अश्व विनोदके समय कृष्ण चर्मसे आच्छादित मुखवाली पाँच अंगुल परिणाहकी हेमपट्टसे विभूपित एवं रत्नजटित गेंद्दिका सभी अश्वारोही धारण करते थे। राजा अपने पक्षके अश्वारोहियोंको तोरणके समीप उपस्थित करता था और सभी लोग उसी गेंद्दिकाके अग्रभाग द्वारा गोल, चिकने पारिभद्रकी लकड़ीके वने हुए चमड़ेसे आच्छादित लाल वर्णके गेंदको पृथ्वीपर फेंकते थे। एक पक्षके व्यक्ति गेंदको पुनः संघर्पके द्वारा लौटा देते थे और इसी वीचमें कोई अन्य व्यक्ति वेगपूर्वक आकर गेंदको पकड़ लेता था; फिर वह कन्दुक प्रतिपक्षकी ओर फेंक दिया जाता था।

---

१. विशेप जाननेके लिए देखिये—मानसोल्लास ४।३।५४७-५६३। २. वही, ४।४।७९७।

इसी प्रकार एक दूसरेकी ओर कन्दुकको उछालते हुए विनोद करते थे। कोई अनेक घात द्वारा गेंदको फेकता था, कोई आगेकी ओर और कोई पीछेको ओर फेंकता था। कोई तिरछे आघात करता था। कोई बाहर फेंकता था, कोई हँसता हुआ गेद्दिकाके अग्रभागमे गेंदको दूसरी ओर ले लेता था। एक आकाश-मे स्थित गेंदको गेद्दिकाके अग्रभागसे धारण करता था तथा दूसरा अश्वारोही उसको आकाशसे ले आता था। इस प्रकार सङ्कुल सघात द्वारा गेंदको पृथ्वी और आकाशसे लाकर तोरणके अन्तिम भागसे बाहर निकाल देता था, वही विजय प्राप्त करता था।[1]

मृगया-विनोद (आदि० ५।१२८, ११।२०२)

मृगया-विनोद प्रारम्भसे ही राजाओमे विशेष रूपसे मनोरञ्जनका साधन रहा है। दिग्विजयके लिए यात्रा करनेमें जितना उद्देश्य राज्यविस्तारका है, उतना ही मनोरञ्जनका भी। इसी प्रकार मृगयामे मनोरञ्जन ही एकमात्र कार्य करता है। दुर्गम, गह्वर उन्नत पर्वत, कण्टकाकीर्ण मार्ग, अन्धकाराच्छन्न वन, सरोवर एवं सरिता तट, समतल मैदान आदि प्रदेश मृगयाके लिए उपयुक्त माने गये है। मृगयाको आदिपुराणमे सर्वथा हेय एवं पापका कारण माना है। जिन-सेनने मृगयाको उपमानके रूपमे प्रस्तुत कर विषय शिकारीके रूपको उपस्थित किया है। मृगया करनेवालेको लुब्धक-शवर एवं किरात आदि शब्दो द्वारा अभिहित किया गया है। आदिपुराणकी मान्यतानुसार पहाडी जातियोमे मृगया विनोदार्थ नही की जाती थी, अपितु आजीविकाके लिए। उनके इस आचरणकी निन्दा की है।

गोष्ठियाँ

आदिपुराणमें मनोविनोदके लिए विभिन्न प्रकारकी गोष्ठियोका भी निर्देश आया है। गोष्ठियोमे सम्मिलित होकर नाना प्रकारसे मनोविनोद एवं आनन्दानु-भूति की जाती थी। संगीत, कथा, चित्र, नृत्य आदि विषयोसे सम्बन्धित अनेक प्रकारकी गोष्ठियाँ आदिपुराणके भारतमे हुआ करती थी। आदितीर्थंकरके मन वहलावके हेतु देवकुमार मिलकर विभिन्न प्रकारकी गोष्ठियोंका आयोजन करते थे। माता मरुदेवीके मनोरञ्जन हेतु देवांगनाएँ विभिन्न प्रकारकी गोष्ठियाँ सम्पन्न करती थी। हम यहाँ कतिपय गोष्ठियोका निरूपण प्रस्तुत करेंगे।

गीतगोष्ठी (आदि० १२।१८८, १४।१९२)

गीतगोष्ठीमे अनेक प्रकारके गायक सम्मिलित होकर श्रोताओका मनोरंजन करते थे। योग्य गायक गुणज्ञ, पक्षपातरहित, निसंवादसे पराङ्मुख, प्रौढ़, प्रियं-

---

१. विशेष जाननेके लिए देखिये—मानसोल्लास—४।४।८००–८२७।

वद, वाग्मी, मेधावी, इंगितज्ञ, विवेकी, गीतवाद्यविशेषज्ञ, रसिक, राग-द्वेषवर्जित, भावज्ञ, हृदयज्ञ, धर्मात्मा; प्रतिभावान् एवं सत्यवादी होता था। स्वरताल और पदवन्धमे प्रवीण गायकको उत्तम कहा गया है। श्रोता गोष्ठियोमे सम्मिलित हो अपना मनोरंजन तो करते ही थे, साथ ही संगीत कलाको भी प्रोत्साहित करते थे। हम संगीत कलाके तत्त्वोंपर आगे प्रकाश डालेंगे। इस प्रस्तुत सन्दर्भमे इतना ही वतलाना आवश्यक है कि नायक नायिकाओंके मनोरञ्जनार्थ गीत या संगीत गोष्ठियोंकी योजना होती थी।

वात्स्यायनने[1] भी गीत आदिका अभ्यास करनेके लिए गीत गोष्ठीका उल्लेख किया है। वौद्ध साहित्यमे गीतगोष्ठीके अनेक प्रसंग आये है। ललितविस्तर[2] मे गीतोके सुचारु रूपसे गानेका निर्देश मिलता है।

वाद्यगोष्ठी (आदि० १२।१८८, १४।१९२)

गीतगोष्ठीके साथ आदिपुराणमे वाद्यगोष्ठीका भी उल्लेख प्राप्त होता है। विनोदके लिए वाद्य एक आवश्यक साधन है। यह सत्य है कि गीत-नृत्यका वाद्य-के विना कुछ भी अस्तित्व नही। वाद्यसे सम्पृक्त होने पर ही नृत्य तथा संगीतकी शोभा वढती है। इसी कारण संगीत कलामे वाद्यको भी स्थान दिया गया है।

वाद्यगोष्ठीमे गीतानुगवाद्य, नृत्यानुगवाद्य, पात्रानुगवाद्य और गीतनृत्यानुगवाद्यका प्रयोग किया जाता था। गीतका अनुसरण कर उसके साथ वजनेवाले वाद्य गीतानुग, नृत्यके समय उसके साथ वजनेवाले वाद्य नृत्यानुग, गीतके साथही साथ पात्रका अनुसरण करनेवाले वाद्य पात्रानुग तथा गीत एवं नृत्य दोनोके साथ वजनेवाले वाद्यगीतनृत्यानुग वाद्य कहलाते थे।

वाद्यगोष्ठीमे वाद्यकलाका विभिन्न प्रकारसे प्रदर्शन किया जाता था। सहृदय रसिक वाद्यध्वनिका श्रवणकर आनन्दित होते थे।

कथागोष्ठी (आदि० १२।१८७)

कथाद्वारा नायिका-नायकोका परस्पर मनोरञ्जन करना प्राचीन परम्परा है। आदिपुराणमे कथाओंके कई भेद वतलाये है। यहाँ उन समस्त कथाभेदोका निरूपण न कर केवल कथागोष्ठीमे सम्पादित होनेवाले विधिविधानका ही निरूपण किया जायगा। कथावाचक राजसभाओं या गोष्ठियोमे सम्मिलित हो जनमानसका अनुरञ्जन करते थे। कथाओके श्रवणसे शृंगार, वीर, रौद्र, भय, करुण एवं शान्त रसोका सचार किया जाता था। मनोरञ्जक घटनाओ, ईर्ष्या, मद, मोह आदि भावोसे सम्पृक्त मनोरम आख्यान एवं ओजस्वी चरित्रोसे युक्त कथाएँ गोष्ठीमे

---

१. कामसूत्र पृ० ३२। २. ललितविस्तर पृ० १७८।

उपस्थित की जाती थी। कथा-गोष्ठीका महत्त्व इस दृष्टिसे अत्यधिक है कि नीति एवं धर्म कथाओ द्वारा श्रोताओको सम्यक् चरित्रकी ओर आकृष्ट किया जाता था। कथाएँ गद्य और पद्य दोनोमे ही प्रस्तुत की जाती थीं। पद्यकथाओं-का महत्त्व इस दृष्टिसे सर्वाधिक था कि वक्ता और श्रोता दोनो ही कथारसके साथ साथ संगीतरसका भी पान करते थे। पद्यकथाएँ प्राकृतमें और गद्यकथाएँ संस्कृतमें होती थी। सोमेश्वरने अपने मलसोल्लासमें प्राकृत भाषाकी कथाओं को सूतों द्वारा गाये जानेका उल्लेख[1] किया है। इन प्राकृत गाथाओकी भाषा अत्यन्त चटुल, चपल तथा व्यंग्यात्मक होती थी। बीच-बीचमें गद्यांश भी रहता था। अत. कथारसकी प्राप्ति प्रचुर परिमाणमे होती[2] थी।

जल्पगोष्ठी (आदि० १४।१९१)

कथाके समान ही जल्प अर्थात् कल्पित कथाओका महत्त्वपूर्ण स्थान था। जल्पगोष्ठीमे कल्पित कथा कहने वाले उपस्थित होकर मनोरञ्जक लतीफे सुनाते थे। इन लतीफोको सुनकर आनन्दकी प्राप्ति होती थी। कथागोष्ठी और जल्प-गोष्ठीमे अन्तर यह है कि कथागोष्ठीकी कथाएँ मनोरञ्जनके साथ-साथ शिक्षाप्रद भी होती थी, पर जल्पगोष्ठीके आख्यान केवल मनोरञ्जक ही होते थे।

काव्यगोष्ठी (आदि० १४।१९१)

कवि-सभाकी योजना प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू'[3] की उक्ति प्राचीन है। कवि अपने कल्पना-वैभवसे नयी रंगीन सृष्टिका उद्गम करता है और आन्तरिक सौन्दर्य-पिपासाको शान्त करनेके लिए प्रयास करता है। मानवके भीतर चेतनाका गूढ और प्रबल आवेग है। इसी आवेगकी सजीव प्रतिमा अनुभूति है और इसी अनुभूति द्वारा काव्यका सृजन होता है। मन ज्ञानेन्द्रियोके माध्यमसे जिन भावनाओ और संवेदनाओका प्रभाव ग्रहण करता है, चित्तपर उनका कोई-न-कोई चित्र अथवा संस्कार अंकित हो जाता है वातावरण, परिस्थिति, संस्कार आदिकी विविधताके कारण प्रत्येक व्यक्ति पर एक ही प्रकारके भाव या संस्कार अंकित नही होते। संस्कारोकी भिन्नता ही काव्यानुभूतिमे हीनाधिकता उत्पन्न करती है। इसी कारण काव्यको सर्वाधिक प्रभावशाली कान्तासम्मित उपदेश कहा[4] है। काव्यका रस अमृतके रसके स्वादकी अपेक्षा भिन्न है या नही, इसका निर्णय नही किया जा सकता।

---

१. मानसोल्लास-४।१६।३२८३। २. सत्कथाश्रवणात्पुण्यं श्रोतुर्यदुपचीयते। तेनाभ्युदय-संसिद्धिः क्रमान्नै.श्रेयसी स्थितिः ॥—आदि० १।१४७। ३. शुक्ल यजुर्वेद—४०।८ ४. काव्य यशसेऽर्थकृते इत्यादि—काव्यप्रकाश. १।२।

पदगोष्ठी (आदि० १४।१९१)

गोष्ठियोमे शास्त्रीय चर्चा करना आवश्यक माना गया है। क्योकि शास्त्र-विनोद सबसे अधिक सुखदायी और ज्ञानवर्द्धक होता है। पदगोष्ठीमे व्याकरणके तत्त्वोपर तर्क-वितर्क किया जाता है। राजा दैनिक क्रियाओं एवं राज्यकार्योंसे निवृत्त होकर आस्थान-मण्डपमे विभिन्न शास्त्रोकी गोष्ठियाँ आरम्भ करता है। इन गोष्ठियोमे व्याकरण सम्बन्धी गोष्ठी अपना विशेष महत्त्व रखती है। आदि-तीर्थंकर ऋषभदेवके मनोविनोदके लिए पदगोष्ठीका आयोजन किया गया है। प्रतिभावान् वैयाकरण संज्ञा, सर्वनाम, समास, क्रिया, नामपद एवं धातु तत्त्वोपर तार्किक शैलीमे चर्चाएँ करते हैं। इनके उत्तर-प्रत्युत्तरोको सुनकर श्रोताओंके मनमें विशेष प्रकारका रस सञ्चार होता है। व्याकरण जैसा शुष्क विषय भी गोष्ठीकी चर्चामे सरस बन जाता है।

कलागोष्ठी (आदि० २९।९४)

आदिपुराणमे विभिन्न देशके राजाओंकी रुचिका वर्णन करते हुए केरल देशके राजाओकी कलागोष्ठीप्रियतापर प्रकाश डाला है। कलागोष्ठीमे विभिन्न प्रकार-की कलाओ द्वारा मनोरञ्जन करनेका संकेत प्रस्तुत किया हैं। कलागोष्ठीमे संगीत, नृत्य, गीत, चित्रके अतिरिक्त चौंसठ प्रकारकी कलाओंका प्रदर्शन किया जाता था। अंगोपांगके हावोंभावों द्वारा अनुरञ्जन करना इस गोष्ठीका मुख्य उद्देश्य है। कला-गोष्ठीमें गायक-वादकोके अतिरिक्त अन्य कलाओके विशेषज्ञ भी उपस्थित होते थे। सरल-प्रोन्नत, कुञ्चित ललित, लोलित, चलित और परावृत इस प्रकार बाहुओ एवं संहृत, असंहृत, वृत्त आदि हस्तमुद्राओका प्रदर्शन भी कला-गोष्ठीमें किया जाता था। यह कलागोष्ठी किसी एक प्रकारकी कलाके प्रदर्शनके लिए आयोजित नही की जाती थी। इसमे उपयोगी एवं ललित दोनो ही प्रकारकी कलाओका प्रदर्शन किया जाता था।[1]

आदिपुराणमे[2] विभिन्न देशके राजाओकी विभिन्न प्रकृतिका चित्रण किया गया है। कर्णाटक देशके राजाओको हरिद्रा, ताम्बूल और अञ्जन विशेष प्रिय थे। आन्ध्रदेशके अधिपति कलाके प्रति विशेष अभिरुचि नही रखते थे। कलिंग देशके अधिपति कला-कौशल एवं हस्तविद्यामे विशेष कुशल होते थे। केरलके निवासियोकी कलाप्रियताकी दृष्टिसे विशेष प्रशंसा की गयी है। अतः आदिपुराणमें प्रतिपादित कलागोष्ठीका अभिप्राय अनेक कलाओके प्रयोग द्वारा अनुरञ्जन करने से है। इस गोष्ठीमे कम-से-कम नौ व्यक्ति अवश्य सम्मिलित होते थे।

---

१. विशेपके लिए देखें मानसोल्लास—४।२०।३२६७—३३५३।
२, आदि० २६।६१–६३।

विद्यासंवादगोष्ठी (आदि० ७।६५)

विद्यासवाद गोष्ठीमे नाना प्रकारकी विद्याओके सम्बन्धमे चर्चाएँ होती थी। विद्यासवाद गोष्ठी और कलागोष्ठीमें अन्तर था। कलासंगोष्ठीमे कलाओका ही प्रदर्शन होता था, विद्याओका नही। जिस प्रकार काव्यगोष्ठीमे केवल काव्यका, पदगोष्ठीमे केवल व्याकरणका और कथागोष्ठीमे केवल पौराणिक कथाओका प्रवचन होता था, उसी प्रकार विद्यासंवाद गोष्ठीमे एकसाथ सभी विद्याओके विषयोपर चर्चा—वार्ता होती थी। दर्शन, काव्य, कथा, कामशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, भूगोल प्रभृति विषयोकी चर्चाएँ की जाती थी। गोष्ठियोके पुरातन रूपका अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि विद्यासंवाद गोष्ठीमे ग्यारह या पन्द्रह सदस्य भाग लेते थे। एक-एक विद्याका जानकर एक-एक विद्वान् होता था। ये सभी विद्वान् शास्त्रार्थ या शास्त्रचर्चा वीतरागकथाके रूपमे करते थे।

गोष्ठीका वास्तविक लक्ष्य मनोरञ्जन करना है।

नृत्यगोष्ठी (आदि० १२।१८८; १४।१९२)

नृत्यगोष्ठी प्राचीन भारतका एक प्रमुख मनोरञ्जनका साधन है। आदिपुराणमे नृत्य और नृत्त इन दो गोष्ठियोका पृथक्-पृथक् वर्णन आया है। यद्यपि नृत्य और नृत्तमे ताल और भावकी अपेक्षा अन्तर है, पर मनोरञ्जनकी दृष्टिसे दोनो एक है। नृत्यगोष्ठीमे नर्तकके हाव-भाव अंग, अपाग, प्रत्यंग, दृष्टि एवं अनेक प्रकारके सकेत मनोरञ्जनका साधन बनते है। आदिपुराणके अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्सव, जय, हर्ष, काम, त्याग, विलास, विवाद आदि अवसरोपर नृत्य-सभाओकी योजना की जाती थी। विवाह, पुत्रजन्म, वसन्तोत्सव एवं राज्याभिषेकके अवसरपर उत्तमकोटिके नर्तकोको बुलाकर नृत्तगोष्ठियोका सम्पादन होता था।

गोष्ठियोमे सम्मिलित होनेवाले नर्तक छः प्रकारके होते थे—नर्तकी, नट, नर्तक, वैतालिक, चारण तथा लटिका। स्वरूपा, तरुणी, श्यामा, तन्वी तथा सुन्दर पयोधरवाली नर्तकी श्रेष्ठ मानी गयी है। इसी प्रकार अनेक भाषाओके ज्ञाता तथा पाठ करनेवाले नट पदपाठ और हस्तपाठमे निपुण नर्तक भी श्रेष्ठ बताये गये है। ये नर्तक हास्यवाक्यके प्रयोगमे चतुर चारण एवं अंग तथा प्रत्यङ्गके परिवर्तनमे पटु होते थे। सभी प्रकारके नृत्योमे अपाग अंग एवं प्रत्यंगोका प्रयोग किया जाता था। गोष्ठीमे शिर, स्कन्ध, वक्ष, जठर, पार्श्वयुग्म, दन्त तथा जिह्वा इन आठ अपागोका और दो बाहु, मणिबन्ध, दो करशाखा तथा कटि इन छह अगोका एवं भ्रू, नेत्र, नासिका, कपोल, ओष्ठ, हनु और जानु आदि प्रत्यंगोका प्रयोग किया जाता था। नृत्य-गोष्ठीकी विशेषता इस बातमें रहती थी कि दर्शक नृत्यका अवलोकन कर अपना मनोरञ्जन करते रहे।

प्रेक्षणगोष्ठी (आदि० १२।१८८)

प्रेक्षणगोष्ठीका अभिप्राय सामुदायिक नृत्य-गोष्ठीसे है। नृत्य-गोष्ठियाँ दो प्रकारकी थी—एक गोष्ठी वह थी, जिसमे एक ही नर्तक या नर्तकी अपने परिकर के साथ नृत्य करती थी और दूसरी नृत्यगोष्ठी वह थी, जिसमे अनेक नर्तक और नर्तकियाँ समुदाय रूपमे गोलाकार झुण्डमे नृत्य करती थी। प्रेक्षणगोष्ठी ऐसे ही अनेक नर्तकोके समुदायकी गोष्ठी है जिसमे अनेक नर्तकियाँ हावभाव और मुद्रा-पूर्ण ढंगसे नृत्य करती थी। हम आदिपुराणमे आये हुए नृत्य-सन्दर्भोका पूर्ण विवेचन ललितकला-सन्दर्भमे करेंगे। यहाँ केवल गोष्ठीके सामान्य रूपपर ही प्रकाश डाला जाता है।

वीणागोष्ठी (आदि० १४।१९२)

वीणागोष्ठीमे अनेक प्रकारके वीणावादक एकत्र होते थे और वे वीणा-वादन द्वारा लोगोका अनुरञ्जन करते थे। वीणाएँ कई प्रकारकी होती थी, एक तन्त्री वीणाके दण्डको शम्भू और तन्त्रीको उमा कहा जाता था। वीणा वजानेकी विधियाँ भी अनेक प्रकारकी थी। प्राय तर्जनी द्वारा ही वीणा वजायी जाती थी। वीणाका मधुर स्वर सभीको आनन्द-उल्लाससे भर देता था। अतएव मृदु और मन्द ध्वनिका श्रवण करनेके लिए वीणा-गोष्ठियोकी योजना की जाती थी।

मृच्छकटिक नाटकमे वीणाके सम्बन्धमे चारुदत्त कहता है—'वीणा उत्कण्ठित व्यक्तिकी सगिनी है, व्याकुल व्यक्तिका विनोद है, विरहीका धैर्य है और प्रेमी जनोकी रागवृद्धिका कारण है। वीणाको व्यक्ति सदैव अपनी प्रियाको ही भाँति अपने अंकमें धारण करता है।' महाकवि कालिदासने भी विलासी अग्निवर्णके चित्रणमे वताया है कि उसकी गोद सदा वीणा एवं प्रियासे अलंकृत रहती थी। अत वीणा-गोष्ठी आदिपुराणके भारतमे भी मनोरंजनका प्रमुख साधन थी। आदितीर्थंकरके मनोरंजनके हेतु देवोद्वारा वीणा-गोष्ठीकी योजना की गयी थी।

चित्रगोष्ठी (आदि० १४।१९२)

आदिपुराणमे मनोरञ्जन एवं मनोविनोदके साधनोमे चित्रगोष्ठीको भी परिगणित किया गया है। ऋषभदेवके मनोरञ्जनार्थ चित्रगोष्ठीकी योजना की गयी थी। चित्रगोष्ठीमे अनेक प्रकारके चित्रकार उपस्थित होते थे और वे अपनी तूलिकाका कौशल प्रदर्शन कर अनेक प्रकारके रमणीय चित्रोका सृजन करते थे। चित्रगोष्ठीमे प्रस्तुत किये जानेवाले चित्रोको निम्नलिखित वर्गोमे विभक्त किया जा सकता है—

१. प्राकृतिक रमणीय दृश्योका अंकन—सरिता, उपवन, वनवाटिका, वृक्ष-लता एवं पुष्प आदिका अंकन ।

२ पशुपक्षियोंकी आकृतियोंका अंकन ।

३. सम्भ्रान्त परिवारके नर-नारियोका चित्राकन ।

४ श्रमिक व्यक्तियोका श्रम करते हुए चित्राकन ।

५. गतिशील वस्तुओकी गतिका चित्रोमें प्रदर्शन ।

६. आराध्य देवी-देवताओके चित्रोका अंकन ।

७. कल्पित आकृतियोका अंकन—विभिन्न भावनाओ एवं उद्वेगोंका स्पष्टी-करण करनेके लिए कल्पित आकृतियोंका चित्रण ।

चित्रगोष्ठीमे उक्त प्रकारके चित्रोका अङ्कन, प्रदर्शन एवं विश्लेपण किया जाता था । गोष्ठियोमे कतिपय चित्रोकी विशिष्ट व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की जाती थी, जो विश्लेपणके अन्तर्गत थी ।

●

षष्ठ परिच्छेद

उत्सव एवं व्रतोपवास

सास्कृतिक जीवनका सम्बन्ध उत्सव एवं व्रतोपवासके साथ भी है । उत्सवों द्वारा आह्लाद प्राप्त किया जाता है और व्रतोपवाससे आन्तरिक शुद्धि कर आत्मा-को संस्कृत बनाया जाता है । जीवनोत्थानके लिए उत्सव और व्रत दोनोकी ही आवश्यकता है, क्योकि उत्सव और व्रतोंका संस्कृतिके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । अहिंसाप्रधान श्रमण-संस्कृतिमे आत्मशोधन और लौकिक अभ्युदयकी उपलब्धि-दोनो ही जीवन प्रगति एवं प्रेरणाके लिए आवश्यक माने गये हैं । हम यहाँ आदि-पुराणमे आये हुए उत्सव एवं व्रतोका संक्षेपमें निरूपण करेंगे ।

आदिपुराणमें जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, वर्पवृद्धिदिनोत्सव, राज्याभिपेकोत्सव, जन्माभिपेकोत्सव आदि उत्सवोका उल्लेख उपलब्ध होता है । इन उत्सवोमे आदि-पुराणके पात्र उत्साहपूर्वक भाग लेते हुए दृष्टिगोचर होते हैं । यो तो आनन्द-प्राप्तिके लिए ऋतूत्सव भी सम्पन्न किये जाते थे, पर इस श्रेणीके उत्सवोंको हमने क्रीडाविनोदोमे परिगणित किया है । वस्तुतः उत्सवो द्वारा जीवनमे क्रियाशीलता उत्पन्न होती है और प्रगति तथा अभ्युदयके हेतु नवीन प्रेरणा प्राप्त होती है । यदि

उत्सव और त्योहार न आये तो जीवनका रसस्रोत ही सूख जाय। नीरस जीवन लौकिक दृष्टिसे तो भाररूप ही है। जो आत्मसाधक संसार त्यागकर आत्मशोधन में प्रवृत्त होता है, उसका दृष्टिकोण परिवर्तित हो जानेके कारण वह नीरस जीवन की कोटिसे ऊपर है। नीरस और सरस जीवनकी व्यवस्था गृहस्थोंकी दृष्टिसे है।

जन्मोत्सव (आदि० १३।२५-२१६; १५।१४५-१५५; २६।१-२)

जन्मोत्सवका निरूपण समस्त वाङ्मयमें उपलब्ध होता है। संसारकी प्रसन्नताओमे पुत्र प्राप्तिका महत्त्व अत्यधिक है। इसी कारण माता-पिता अपने शक्त्यनुसार आनन्दोत्सव मनाते है। इस अवसर पर राजाओ एवं सामन्तोके यहाँ विशेष प्रकारकी तैयारियाँ की जाती है। नगर सजाया जाता है, चन्दनद्रवसे सडकोको सिञ्चित किया जाता है, कुंकुम-केशरसे घर आँगनको सुगन्धित कर दिया जाता है।

उत्सव सम्पन्न करनेके लिए माता-पिता नृत्य एवं संगीतकी योजना करते है। गायक एवं नर्तक एकत्र हो जीवनमे उत्पन्न हुए उल्लासकी कई गुनी वृद्धि करते है। माता-पिता याचकोंको इच्छानुसार दान देते है तथा पुत्रकी मंगलकामनाके लिए धार्मिक क्षेत्रोमे भी नाना प्रकारसे दानादि क्रियाएँ सम्पन्न करते है। सामान्य परिवारके व्यक्ति भी पुत्रजन्मोत्सवपर आमोद प्रमोद मनाते है, गीत एवं नृत्यको धूम मच जाती है। वारवनिताएँ नृत्य करती है और मंगलवाद्य वजते है। नवीन रंगविरंगे वस्त्र धारण किये जाते है और विभिन्न प्रकारके पक्वान्न तैयार होते है। महिलाएँ चम्पा, चमेली, गुलाव, केवडा प्रभृति पुष्पोंका जूडा वनाकर सिरपर धारण करती है, गलेमे पुष्पमालाएँ पहनती है और कुसुमरंगकी साड़ी धारण की जाती है। जितने सांसारिक आनन्द और उत्सव है उन सवमे पुत्रजन्मोत्सव को महत्त्वदिया गया है। आदितीर्थकर ऋषभदेव अपने पुत्र भरतका जन्मोत्सव वड़ी ही धूम-धामसे सम्पन्न करते है। उनके राजभवनमे भेरी नाद होता है, विभिन्न प्रकारके वाद्य वजते है, पुष्पोकी वर्षा होती है, कि अनेक नर्तकियाँ आकर नृत्यका आयोजन करती है।

भरतके जन्मोत्सवके अवसरपर चन्दन जलसे सिञ्चित की गयी नगरकी गलियाँ ऐसी शोभित हो रही थी, मानो वे अपनी सजावटसे स्वर्गकी शोभाकी हीनताका हास्य कर रही हो। उस समय आकाशमे इन्द्रधनुष और विद्युत्रूपी लताकी सुन्दरताको धारण करते हुए रत्न निर्मित तोरणोको सुन्दर रचनाओसे समस्त अयोध्यापुरीके गृह शोभित हो रहे थे। रत्नोके चूर्णसे अनेक प्रकारकी रङ्गावलियाँ तैयार की गयी थी और उनसे चौक पूरकर स्वर्णकलश स्थापित किए गये थे। ये स्वर्णकलश कमलोसे आच्छादित और मंगलफलोसे युक्त थे। जिस

प्रकार समुद्रकी वृद्धि होनेसे उसके किनारेकी नदी भी वृद्धिको प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार राजाके घर उत्सव होनेसे समस्त अयोध्या नगरी उत्सव-युक्त हो गयी थी। ऋषभदेव आनन्दविभोर होकर समुद्रके समान दान वर्षा कर रहे थे। अतएव वहाँ कोई भी दरिद्र और दीन दिखलाई नही पडता था।[1]

भरत भी पुत्रप्राप्तिके अवसरपर कम प्रसन्न दिखलाई नही पड़ते। वे भी पुत्रोत्सव मनानेमें सलग्न हो जाते हे। वे याचकोको मनमाना धन दानमे देते हैं। पुत्रोत्सवके अवसरपर भरतने चौराहो, गलियो और नगरके भीतर, वाहर सर्वत्र रत्नोके ढेर कर दिये थे और वे सव याचकोके लिए थे। इस प्रकार आदिपुराणके समस्त प्रमुख पात्र पुत्रजन्मके अवसरपर आमोद-प्रमोद मनाते हुए परिलक्षित[2] होते है। और है भी यह स्वाभाविक। संसारकी प्रमुख तीन एपणाओमे पुत्रैपणा सर्वप्रमुख है। लोकैपणा और वित्तैपणा तो पुत्रैपणाकी पुष्टिके लिए ही है। यश-को चिरन्तन वनानेके लिये ही पुत्रकामना की जाती है। दूसरी वात यह है कि पुत्रको उत्तराधिकार सौंपे विना गृहस्थ आत्मशोधनके लिए निश्चिन्त भी नही हो सकता।

पुत्रजन्मोत्सव मनानेकी परम्पराका प्रचार संस्कृत काव्य और नाटकोसे भी सिद्ध होता है। महाकवि कालिदासने रघुवशकाव्यमे दिलीप द्वारा रघुजन्मोत्सव तथा रघु द्वारा अजजन्मोत्सव मनाये जानेका निर्देश किया है।

विवाहोत्सव (आदि० ७।२१०, ७।२२२-२३३; ७।२३८-२९०)

विवाहोत्सवके सम्वन्धमे पूर्वमे ही लिखा जा चुका है। विवाहसे पूर्व नगरकी अच्छी तरह सजावट की जाती थी, इन्द्रधनुपके समान रंगविरंगे तोरण और ध्वजोसे नगरको सजाया जाता था। वर और कन्याके राजपथपर चलते समय स्त्रियाँ उनको देखनेके लिए गवाक्षोमे दौड पड़ती थी। उत्सुकता इतनी अधिक रहती थी कि किसीका जूडा खुल जाता था, पर उसे वाधनेकी सुध ही नही रहती थी। केशोको हाथमे पकड़े हुए ही वे खिडकीके पास पहुँच जाती थी। वालोके शिथिल हो जानेसे उसमे गुथे हुए पुष्प नीचे गिर जाते थे। महावर लगवाती हुई स्त्री शीघ्र ही पैरको खीचकर गीले पैरोसे ही झरोखेकी ओर दौड़ जाती थी। फलस्वरूप झोरोखे तक लाल-लाल पैरोकी छापके चिह्न पड जाते थे। यदि कोई आँखमे अञ्जन लगाती रहती थी तो वह एक आँखमे लगे हुए अञ्जनके साथ ही दौड़ पडती है। इस प्रकार नारियोकी उत्सुकताका चित्रण किया गया है। विवाहोत्सवके अवसर पर विभिन्न प्रकारके आभूपण अपना अलग सौन्दर्य दिख-लाते है। विवाहमण्डप सुन्दर ढंगसे सजाया जाता है, नर्तक गायक एकत्र होते

---

१. आदिपुराण १५।१५२-१५६। २. वही २६।१-४।

हैं और सभी मिलकर उत्सवको सरस बनाते हैं। चन्दन, कुंकुम, कस्तूरी प्रभृति सुगन्धित पदार्थोंसे विवाहस्थलको सुगन्धित बना दिया जाता है।

स्वयंवरके अवसरपर तो विवाह उत्सव और भी अधिक रमणीय बन जाता है। सुलोचनाके स्वयंवर मण्डपका आदिपुराणमें सुन्दर चित्रण आया है। बताया गया है कि राजभवन अनेक प्रकारकी गलियों, कोटों एवं शृंगार करनेके गृहोंसे व्याप्त था। इस सुन्दर समृद्ध और विशाल राजभवनके मध्य स्वयंवर भवन बनाया गया था, जिसका पृथ्वीभाग अलग अलग विभागोमे विभक्त और चौकोर था, जिसमे चार दरवाजे थे, जो कोट और गोपुर द्वारोसे सुशोभित थे। रत्नोके तोरण और पताकाएँ सुवर्ण-कलशोंको अलंकृत कर रही थी। स्वयंवर भवनका धरातल नीलमणियोसे सुशोभित था। इसके ऊपर नेत्र जातिके वस्त्रोसे बने हुए बडे-बडे चंदोवे सुशोभित हो रहे थे। स्वयंवर महाभवन लक्ष्मीके लीलागृहके समान प्रतीत होता था।[1]

स्वयंवरके अवसर पर विभिन्न प्रकारके वाद्य बजते थे और घर-घरमे मंगलगीत गाये जाते थे। विवाह उत्सवको सूचित करनेके लिए मंगलभेरी बजायी जाती थी। उस समय भूमिपर पुष्पोंके उपहार, आकाशमे पताकाएँ एवं गर्जन करती हुई बडी-बडी दुन्दुभियाँ सुशोभित हो रही थी। नारियाँ नेत्रोमें कज्जल लगाये केशोमे मालाओंको धारण किये हुए, ललाटपर चन्दन तिलक लगाये हुए, उज्ज्वल मणियोके कंकण एवं कुण्डल पहने हुए सुशोभित हो रही थी। इन नारियोंके कपोलोपर पत्ररचना की गयी थी, पानके रससे उनके ओठ लाल हो रहे थे। मुक्तहारोसे उनका कण्ठ सुशोभित था। वे वक्ष स्थलपर चन्दनका लेप किये हुए थी। समस्त राजमहल उत्सव आह्लादसे परिपूर्ण था। आदिपुराणमे इस अवसर पर चेतन-अचेतन सभीके द्वारा उत्सव मनाये जानेकी बात कही है। बताया गया है कि वहाँके चेतन प्राणी अन्तरंग और बहिरंगमे सर्वत्र उत्सव मना रहे थे—इसमे कोई आश्चर्य नही . क्योकि वहाँकी अचेतन दीवाले भी अलंकारो द्वारा सचेतन प्राणियोके समान उत्सव सम्पन्न करती हुई परिलक्षित हो रही थी।

विवाह-विधिकी जानकार सौभाग्यवती स्त्रियोने तात्कालिक मांगलिक क्रियाएँ सम्पन्न की। उस अवसरपर नगाड़े बज रहे थे, विद्वान् मंगल पाठ कर रहे थे और मांगलिक स्वर्णकलश जल, पत्र, फल, पुष्प आदिसे परिपूर्ण सभी दिशाओमें रखे गये थे। शेषाक्षत द्वारा आशीर्वाद लेकर महाराज अकम्पनके आदेशसे

---

१. आदिपुराण ४३।२०७—२१४।

समस्त विद्याधर, माण्डलिक, महामाण्डलिक अपने-अपने आसनोपर आसीन हो गये[1] थे।

आदिपुराणमे इस स्वयंवरोत्सवका बहुत ही सटीक और सांगोपाग चित्रण आया है। विभिन्न देशकी रमणियोकी रुचिविशेषका परिचय भी दिया गया है। प्रसंगवश बकुल, मौलि अशोक इत्यादि वृक्षोंके दोहदका भी निरूपण आया है। आदिपुराणके भारतकी जीवन सम्बन्धी गहरी अनुभूतिका सम्यक् परिज्ञान इस सन्दर्भसे हो जाता है।

वर्षवृद्धिदिनोत्सव (आदि० ५।१)

जन्मदिन या जन्मगाठोत्सव मनानेका प्रचार आदिपुराणके भारतमे विद्यमान था। प्रिय पुत्रोका जन्मोत्सव केवल सम्भ्रान्त परिवारके व्यक्ति ही नहीं मनाते थे, अपितु सामान्य जनता भी अपने नौनिहालोका जन्मदिनोत्सव मनाती थी। इस उत्सवके अवसर पर मगल गीत वादित्र तथा नृत्य आदिकी योजना की जाती थी। आदिपुराणमें महाबल राजाके जन्मगाठोत्सवका सुन्दर चित्रण आया है। जिसका जन्मगाठोत्सव मनाया जाता था, उस व्यक्तिको वस्त्राभूषणोमे अलंकृत-कर उच्चासन पर बैठाते थे। वारागनाएँ श्वेत वस्त्र पहनकर नृत्य करती थी। चामरधारिणी स्त्रियाँ चमर ढोरती थी। नृत्य करते समय नारियोंके अंग-प्रत्यंग अपना अद्भुत सौन्दर्य प्रदर्शित करते थे। पुरोहित वर्गके व्यक्ति मंगल आशीर्वाद के साथ स्तोत्रोच्चारण करते थे। गुरुजन एवं धार्मिक व्यक्ति आशीर्वादकेलिए शेषाक्षत प्रदान करते थे[2]। शेषाक्षत वे आशीर्वादके अक्षत है जो देवके सम्पर्कसे अभिमन्त्रितकर किसी व्यक्तिविशेषकी मंगलकामनाके हेतु दिये जाते थे।

जन्माभिषेकोत्सव (आदि० १३।३६–१६०)

जन्माभिषेकोत्सव तीर्थंकरका ही सम्पन्न होता है और इस उत्सवको स्वर्गके देव ही सम्पादित करते है। आदितीर्थंकर ऋषभदेवके जन्माभिषेकोत्सवका वर्णन आदिपुराणके तेरहवें पर्वमे किया गया है। अवधिज्ञान द्वारा सौधर्म्य स्वर्ग-का इन्द्र तीर्थंकरके जन्मका समाचार प्राप्तकर चतुर्निकाय देवोंके साथ जन्मनगरी-मे उपस्थित होता है। इन्द्राणी प्रसूतिगृहमे जाकर माताकी बगलसे पुत्रको लेकर और उसके स्थान पर मायामय बालक सुलाकर चली आती है। सौधर्म्य इन्द्र ऐरावत हाथीपर तीर्थंकर शिशुको लेकर सुमेरु पर्वत पर जाते है और वहाँ पाण्डुक शिला पर विराजमान कर उनका क्षीरसागरके जलसे अभिषेक करते है। इस अभिषेकके अवसर पर देवाङ्गनाओ द्वारा नृत्य, गीत और वाद्यरूपमे विभिन्न

---

१. आदिपुराण, ४३।२४४-२७५। २. वही, ५।१-७।

प्रकारके संगीतका आयोजन किया जाता है। धर्मनेताका जन्मोत्सव बहुत ही धूमधाम पूर्वक देवों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जन्माभिषेकका बहुत ही विस्तृत वर्णन आदिपुराणमे अङ्कित है।

इस प्रकार आदिपुराणमे विभिन्न प्रकारके उत्सवोका वर्णन आया है। जन-साधारण एवं सम्भ्रान्त परिवारके व्यक्ति विभिन्न प्रकारके उत्सवोका आयोजन कर अपने जीवनको सार्थक और सफल बनाते थे। जैन आगम ग्रन्थोमे भी विभिन्न प्रकारके उत्सवोंका वर्णन आया है। उत्सव जीवनको आनन्दित करनेके लिए आवश्यक साधन माने गये है।

व्रतोपवास

आदिपुराणमे शरीर और मनको प्रसन्न करनेके लिए विभिन्न मनोविनोद, क्रीडाएँ, उत्सव आदिका जिस प्रकार चित्रण किया गया है, उसी प्रकार व्रतोप-वास द्वारा अनादि कर्म सन्ततिको विच्छेद करनेका भी वर्णन आया है। व्रतोंका महत्त्व कई दृष्टियोसे सिद्ध किया जा सकता है—

१. आत्मशुद्धिके हेतु
२. कर्मनिर्जराके हेतु
३. लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदयके हेतु

आदिपुराणमे आत्माको सुसंस्कृत करनेके लिए रत्नत्रय, अष्टाह्निका, षोड़श-कारण,[1] जिनगुणसम्पत्ति[2] कर्मक्षपण,[3] सिंहनिष्क्रीडित,[4] सर्वतोभद्र,[5] कनका-वलि,[6] आचाम्लवर्धन,[7] रत्नावलि[8] श्रुतज्ञान[9] एवं सुदर्शन[10] आदि व्रतोका वर्णन आया है। इन व्रतो द्वारा उस समयके भारतकी जनता अपनी आत्माको सुसंस्कृत करती रहती थी।

१. आदि० ७।८८। २. वही ६।१४१–१५०। ३ वही ७।१८। ४. वही ७।२३। ५. वही ७।२३। ६. वही ७।३९। ७. वही ७।४२; ७।७७। ८. वही ७।४४। ९. वही ६।१४५। १० वही ७।७७।

अध्याय : ५

शिक्षा, साहित्य और कला

प्रथम परिच्छेद

शिक्षा

शिक्षा समुदाय या व्यक्ति द्वारा परिचालित वह सामाजिक प्रक्रिया है, जो समाजको उसके द्वारा स्वीकृत मूल्यो और मान्यताओकी ओर अग्रसर करती है। सास्कृतिक विरासतकी उपलब्धि एवं जीवनमे ज्ञानका अर्जन शिक्षा द्वारा ही होता है। जीवन समस्याओको खोज, आध्यात्मिक तत्त्वोकी छान-बीन एवं मानसिक क्षुधाकी तृप्तिके साधन कला-कौशलका परिज्ञान शिक्षा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। आदिपुराणकी दृष्टिमे शिक्षाका विषय ऐहिक समस्याओके साथ क्लेशोकी आत्यन्तिक निवृत्तिका साधन तत्त्वज्ञान भी है। आचार और विचारका परिष्कार, उत्क्रान्ति एवं शाश्वतिक सुखकी उपलब्धिका प्रधान साधन शिक्षाको माना जा सकता है। शिक्षा वैयक्तिक जीवनके परिष्कारका कार्य तो करती ही है, पर समाजको भी उन्नत बनाती है। डॉ० राधकुमुद मुकर्जीने प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धतिकी समालोचना करते हुए लिखा है—

"But education is a delicate biological proces's of mental and moral growth, which can not bee achieved by mechenical process, the external apparatus and mechinery of an organisaton. As is education, So in a more marked degree in the aphere of religion and Spiritual life."[1]

---

1. Ancient Indian education by Dr. R.K. Mukerji, Motilal Banarasidas, Delhi, Page 366.

आदिपुराणमे शिक्षाका पर्याय विद्या, ज्ञान और श्रुत आया है। बताया गया है कि जब आदितीर्थंकरके बालिका-बालक वयस्क हुए तो उन्होने उन्हे स्वयं ही शिक्षारम्भ कराया। इस सन्दर्भमे लिखा है कि रूप-लावण्य और शीलसे समन्वित होने पर भी विद्यासे विभूषित होना परम आवश्यक है। इस लोकमे विद्वान् व्यक्ति ही सम्मानको प्राप्त होता है। विद्या ही मनुष्यको यश देनेवाली है, विद्या ही आत्मकल्याण करनेवाली है और अच्छी तरहसे अभ्यास की गयी विद्या ही समस्त मनोरथोको पूर्ण करती है।[1]

कन्या हो या पुत्र, दोनोको समानरूपसे विद्यार्जन करना चाहिए। कल्पलताके समान समस्त सुखो, ऐश्वर्यो और वैभवोकी प्राप्ति विद्या द्वारा ही होती है। अतएव बाल्यकालसे विद्याप्राप्तिके लिए निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिए। आदिपुराणमे जीवनोत्थान और जीवनको सुसस्कृत करने पर बल दिया गया है।

शिक्षाका लक्ष्य आन्तरिक दैवी शक्तियोकी अभिव्यक्ति करना है, अन्तर्निहित श्रेष्ठतम उदात्त महनीय गुणोका विकास करना है तथा शरीर, मन और आत्माको सबल बनाना है। त्याग, संयम, आचार-विचार और कर्त्तव्यनिष्ठाका बोध भी शिक्षा द्वारा प्राप्त होता है। सतत स्वाध्यायसे ही व्यक्तिकी अन्तर्निहित शक्तियाँ प्रादुर्भूत हो जाती हैं, शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुचिता, बौद्धिक प्रखरता, आध्यात्मिक दृष्टि, नैतिकबल, कर्मठता एवं सहिष्णुताकी प्राप्ति शिक्षा तथा स्वाध्याय द्वारा ही सम्भव है। तथ्य और आकडे वाली शिक्षा निस्सार है।

आदिपुराणमे आदितीर्थंकर ऋषभदेवने अपनी कन्याओ और कुमारोको जो शिक्षा दी है, उससे शिक्षाके निम्नलिखित उद्देश्योपर प्रकाश पडता है—

१. आत्मोत्थानके लिए प्रयत्नशीलता।
२. जगत् और जीवनके सम्बन्धोका परिज्ञान।
३. आचार, दर्शन और विज्ञानके त्रिभुजकी उपलब्धि।
४. प्रसुप्त शक्तियोका उद्बोधन।
५. सहिष्णुताकी प्राप्ति।
६ कलात्मक जीवन-यापन करनेकी प्रेरणाकी प्राप्ति।
७. अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण द्वारा भावात्मक अहिंसाकी प्राप्ति।
८ व्यक्तित्वके विकासके लिए समुचित अवसरोकी प्राप्ति।
९. कर्त्तव्य पालनके प्रति जागरूकताका बोध।
१०. शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोका उन्नयन।
११. विवेक दृष्टिकी प्राप्ति।

---

१. आदिपुराण १६।९७-१०२।

शिक्षा प्राप्त करनेकी आयु और तत्सम्बन्धी संस्कार

आदिपुराणमे श्रावकोकी क्रियाओका वर्णन आया है। मनुस्मृतिमें जिन्हें संस्कार शब्द द्वारा अभिहित किया है, उन्हीको आदिपुराणमें क्रिया कहा है। विद्यारम्भके समयमे निम्नलिखित संस्कार विधेय माने गये है—

१. लिपिसंस्कार
२. उपनीति संस्कार
३. व्रतचर्या
४ दीक्षान्त या समावर्त्तन संस्कार—व्रतावरण

लिपिसंस्कार (आदि० ३८।१०२-१०३)

जब बालकका मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाय, तब शिक्षाका प्रारम्भ उपनीति संस्कारके पश्चात् किया जाता है। वैदिक ग्रन्थ मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, संस्काररत्नमाला, स्मृतिचन्द्रिका प्रभृतिमें उपनयन संस्कारका विस्तार पूर्वक वर्णन आया है तथा उपनयनके अनन्तर ही शिक्षाका प्रारम्भ बताया गया है, लिपिज्ञान, अंकज्ञान या शास्त्रोंका ज्ञान उपनयनके अनन्तर ही आरम्भ किया जाता है; पर आदिपुराणमे उपनीति क्रियाके पूर्व लिपिसंस्कारको स्थान दिया गया है।

जब बालक पाँच वर्षका हो जाय, तब उसका विधिवत् अक्षराम्भ करना चाहिए। उपनयनका काल तो आठ वर्षकी अवस्थाके पहले नही आता है। अतएव आदिपुराणकी दृष्टिमे उपनयन संस्कार माध्यमिक शिक्षाके पूर्व होना चाहिए।

महाकवि कालिदासके रघुवंश काव्यके अध्ययनसे भी यह सूचित होता है कि वस्तुत उपनयन माध्यमिक शिक्षाके पूर्व ही होता था। रघुका मुण्डन संस्कार हो जानेके अनन्तर उसे अक्षरारम्भ कराया गया, पश्चात् यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर रघुका विद्यारम्भ सस्कार सम्पन्न हुआ।[1] रघुके इस आख्यानसे यह स्पष्ट है कि महाकाव्यकालसे ही लिपि या अक्षराम्भ संस्कारके पश्चात् ही उपनयन संस्कार सम्पादित होता है। हमारी दृष्टिसे विद्यारम्भका अर्थ शास्त्र-अध्ययनारम्भ है। शास्त्रकी शिक्षाका आरम्भ, उपनयन या उपनीति क्रियाके सम्पादित होनेपर ही किया जाना तर्कसंगत है।

कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। बताया गया है कि मुण्डन संस्कारके अनन्तर वर्णमाला और अंकज्ञानका अभ्यास अपेक्षित होता है।[2] उपनयनके बाद सदाचारी विद्वान् आचार्योंसे त्रयी तथा आन्विक्षिकी आदि

---

१. रघुवंश ३।२८-२९। २. कौटिलीय अर्थशास्त्र, म० वाचस्पति गैरोला, चोखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६२; १।४।४, पृ० १८—१९।

विद्याओका अध्ययन करे। वार्ता और दण्डनीतिका अभ्यास भी उपनीतिके पश्चात् ही किया जाता है।

अतएव आदिपुराणमे उपनीतिक्रियाके पूर्व लिपिक्रियाको जो स्थान दिया गया है, वह समीचीन है। वाङ्मयके किसी भी अंगसे आदिपुराणके कथनमे विरोध नही आता है।

लिपिसंस्कारकी विधिका कथन करते हुए आदिपुराणमे वताया गया है कि वालकके पिताको अपने वैभवके अनुरूप पूजनसामग्री लेकर श्रुतदेवताका पूजन करना चाहिए। आदितीर्थङ्करने स्वयं अपनी पुत्रियोके लिपिसंस्कारके समय सुवर्णपट्टपर अ आ, इ ई, उ ऊ आदि वर्णमाला लिखी थी और श्रुतदेवताकी स्थापना की थी।

वर्णमाला लेखन और श्रुतपूजनके अनन्तर आचार्य वालकको आशीर्वाद देते हुए—"दिव्यसिहासनभागी भव", "विजयसिहासनभागी भव", "परमसिहासन-भागी भव" इन तीन मन्त्रोका उच्चारण करता है। इस विधिके पूर्ण होनेपर वालकको स्वर, व्यञ्जन, संयुक्ताक्षर, योगवाह, महाप्राण, अल्पप्राण, घोप, अघोष आदिका अभ्यास करना होता है।[१]

आदिपुराणके अनुसार अंक और अक्षरोंके अभ्यासके लिए तीन वर्षका कार्य-काल निश्चित है; यत. लिपिसंख्यानके पश्चात् उपनीतिक्रिया सम्पादित की जाती है, जिसका समय जन्मसे आठवां वर्ष माना गया है। अतः उक्त तीन वर्षोमें वर्णज्ञान, अंकज्ञान एवं सामान्य गणितज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

लिपिसंख्यानका आरम्भ करते समय "सिद्धं नम:" इस मंगलवाची मातृका मन्त्रका अवश्य उच्चारण करना चाहिए। क्योकि मातृकाका अस्तित्व समस्त विद्याओ और शास्त्रोमे विद्यमान है। इसीसे अनेक संयुक्ताक्षरोकी उत्पत्ति होती है, जो वीजाक्षरोमे व्याप्त है। अकारसे लेकर हकार पर्यन्त स्वर-व्यञ्जन, विसर्ग अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय सहित वर्णमालाका अभ्यास करना चाहिए।

उपनीति क्रिया (आदि० ३८।१०४–१०८)

आदिपुराणके अनुसार यह क्रिया गर्भसे अष्टम वर्षमे सम्पन्न होती है। इस क्रियामें केशोंका मुण्डन तथा मूंजकी वनी मेखलाका धारण करना विधेय माना गया है। मौंजी वंधनके पश्चात् सादे वस्त्र धारण करने चाहिए। मेखला

---

१. आदिपुराण १६।१०५–१०७।

तीन लरकी होती है। सफेद धोती धारण करना, चोटी रखना और सात लर-का यज्ञोपवीत पहनना ब्रह्मचारीके लिए आवश्यक बतलाया है। जिनालयमे पूजन करना, भिक्षावृत्ति करना और जबतक विद्याकी समाप्ति न हो जाय तबतकके लिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए।

ब्रह्मचारीका मुण्डित सिर होना उसके मन, वचन और कायकी पवित्रताका सूचक है। राजकुमारोके लिए भिक्षावृत्ति करनेकी अनुमति नही है। शेप बालक भिक्षामे प्राप्त सामग्रीको अर्हन्तदेवको समर्पित करनेके अनन्तर ग्रहण करते है। राजपुत्रोको अन्त.पुरमे जाकर माता आदिसे किसी पात्रमे भिक्षाकी याचना करनी चाहिए। यहाँ याचनामात्र ही भिक्षाका नियोग है। इस अवसरपर बालक-का नामकरण भी व्यवहार सम्पन्न करनेके लिए किया जाता है। विद्यासमाप्तिके अनन्तर नाम बदला जा सकता है।

कमरमें तीन लरकी मौञ्जी—मूँजकी रस्सी पहनी जाती है, यह रत्नत्रयकी विशुद्धिका अंग है। धौत परिधान उस ब्रह्मचारीकी जाँघका चिह्न है। यह धोती इस बातकी सूचना देती है कि अरहन्त भगवान्‌का कुल पवित्र और विशाल है। सिरका चिन्ह स्वच्छ और उत्कृष्ट मुण्डन है, जो कि मन, वचन और कायके मुण्डनको बढ़ानेवाला है। ब्रह्मचारी अध्ययनशील व्यक्तिके लिए वर्ज्य पदार्थ—

१. वृक्षकी दाँतौनका त्याग।
२. ताम्बूल सेवनका त्याग।
३ अजन लगानेका त्याग।
४. उबटन या तैलमर्दनका त्याग।
५. शृंगारपूर्वक स्नानका त्याग।
६ खाट या पलंगपर सोनेका त्याग।
७ अन्यके शरीर सम्पर्कका त्याग।
८. मौखर्य वृत्तिका त्याग।
९ नाटक-अभिनय आदिके देखनेका त्याग।

विधेय कार्य

१. पृथ्वीपर शयन।
२. शुद्ध जलसे स्नान।
३. विद्या प्राप्तिकेलिए श्रम।
४. गुरुओकी विनय।
५. श्वेत और सादे वस्त्र-धारण।
६. शिक्षावृत्ति।

७. मौञ्जीवन्धन ।

८. सिर-मुण्डन ।

९. अध्ययनके प्रति आस्था और प्रयास ।

१०. अल्पनिन्द्रा और अल्पाहार ।

११. ब्रह्मचर्य और संयमका पालन ।

व्रतचर्या (आदि० ३८।१०९–१२०)

व्रतचर्याका अभिप्राय विद्याध्ययनके समय संयमित जीवन यापन करनेमे है । कर्त्तव्या-कर्त्तव्यका विवेक प्राप्तकर ऐसा कोई भी कार्य नही करना चाहिए, जो विद्याध्ययनमे वाधक हो । विद्यार्थीका एक ही लक्ष्य रहता है—विद्याध्ययन । वह अपनी इसी साधनाको पूर्ण करनेके लिए प्रयत्नशील रहता है । सादा जीवन और ज्ञानाराधना ये ही दो उसके जीवनके लक्ष्य रहते है ।

व्रतावरण क्रिया (आदि० ३८।१२१–१२६)

यह क्रिया यो तो विद्याध्ययनकी समाप्तिके अनन्तर सम्पादित की जाती है । पर इसका सन्दर्भ संस्कारमूलक क्रियाओंमे होनेसे यहाँ विवेचन करना आवश्यक है । इसकी तुलना हम समावर्तन संस्कारसे कर सकते है । ब्रह्मचर्य धारण करते समय शारीरिक आभूषण, संस्कार एवं भडकीले वस्त्रोका त्याग किया गया था; पर अव गुरुकी अनुमतिसे पुन. वस्त्राभूषणोको धारण किया जाता है । तथा अंजन, ताम्बूल एवं सुगन्धित पदार्थोके सेवनको आरम्भ कर दिया जाता है । जो विद्यार्थी शस्त्रोपजीवी होते थे, वे पुन. शस्त्र धारण करते थे । वैश्य छात्र व्यापार, कृषि एवं पशु-पालन आदि कार्योमे प्रवृत्त होते थे । विद्याध्ययनसे प्रौढ मस्तिष्क, युवक गुरु या आचार्यके समक्ष पहुँचकर श्रावकके मूलगुण—मद्यत्याग, मास-त्याग, मधुत्याग, एवं पाँच उदम्वर फलोका त्याग कर सदाचरण ग्रहण करता था तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पाँच पापोंका त्यागकर सदाचारमयी प्रवृत्ति-को अपनाता था । व्रतावरण क्रियाका उद्देश्य व्यक्तित्वका विकास करना है । जिसने श्रुतके अभ्यास द्वारा अपनी वुद्धिको निर्मल वना लिया है, ऐसा व्यक्ति मूलगुण और उत्तरगुणोके द्वारा अपनी आत्माको निर्मल वनाकर समाजका योग्य सदस्य वनता है । वह अन्यायसे धनार्जन नही करता और न्यायपूर्वक आजीविका-का सम्पादन करता हुआ सासारिक कार्योको सम्पन्न करता है ।

छात्र जीवनका प्रारम्भ होनेके पश्चात् जव तक अध्ययनकाल वर्तमान रहता है तव तक व्यक्ति संयमका आचरण करता है । विद्याग्रहण तपश्चरण है, इस कालमे ही सदाचार, विनय, ज्ञान आदिका सम्पादन किया जाता है । व्रता-वरण क्रिया द्वारा यह सूचित होता है कि विद्याध्ययनके समय संयमित जीवनका अभ्यास करनेके उपरान्त गृहस्थावस्थामे वुद्धिपूर्वक आदर्श गृहस्थ वननेकी चेष्टा

करनी चाहिए। आदिपुराणके आख्यानोंसे भी यह सिद्ध होता है कि शिक्षारम्भ और विद्यारम्भ दोनों पृथक्-पृथक् संस्कार है। शिक्षारम्भकी तुलना आधुनिक प्राथमिकशिक्षा (प्राइमरी एजुकेशन) से और विद्यारम्भ—शास्त्रारम्भकी उच्च-शिक्षा (हायर एजुकेशन)से भी जा सकती है। संस्कारों द्वारा संस्कृत होनेपर ही शास्त्रज्ञान प्राप्त होता है।

शिष्य, शिक्षक और उन दोनोंका सम्बन्ध

आदिपुराणके अध्ययनसे शिष्यके निम्नलिखित गुणोंकी जानकारी प्राप्त होती है। योग्य शिष्यको शिक्षा देना ही सफल माना गया है। अतः शिक्षातत्त्वोंमें शिष्य-की योग्यताओंका विवेचन भी आवश्यक है। अपात्रको शिक्षा देनेका कितना ही प्रयास किया जाय, वह सब निष्फल है। बुद्धिपूर्वक अगणित प्रयत्न करनेपर भी जिस प्रकार बालुकाकणोंसे तैल निकालना कठिन है, उसी प्रकार अयोग्य शिष्य-को शिक्षा देना व्यर्थ है, क्षयोपशमजन्य प्रतिभाके साथ अध्यवसाय भी आवश्यक है। प्रतिभाशाली छात्र भी यदि आलस्य और विलासितामें डूबा रहे तो वह कदापि विद्वान् नहीं बन सकता है। छात्र अवस्थामें विद्यार्थीको इस प्रकारका अभ्यास करना चाहिए, जिससे शेष जीवन भी सुखी हो सके। परिश्रम, लगन और उत्साहके साथ प्रतिभाका रहना भी आवश्यक है। आदिपुराणके अनुसार मौलिक योग्यताएँ निम्न हैं—

१ जिज्ञासावृत्ति[1]।

२ श्रद्धा[2]—अध्ययन और अध्यापक दोनोंके प्रति आस्था।

३ विनयशीलता[3]।

४. शुश्रूषा[4]।

५. श्रवण[5]—पाठ श्रवणके प्रति सतर्कता एवं जागरुकता।

६. ग्रहण[6]—गुरुद्वारा अध्यापन किये गये विषयको ग्रहण करनेकी अर्हता।

७ धारण[7]—पठित विषयको सदैव स्मरण रखनेकी क्षमता।

८. स्मृति[8]—स्मरण शक्ति।

९. ऊह[9]—तर्कणा शक्ति।

१० अपोह[10] पठित ज्ञानके आधार पर विचार शक्तिका प्राबल्य एवं अकरणीयका त्याग।

११. युक्तिपूर्वक विचार करनेकी क्षमता[11]—निर्णीति।

१–३. आदि० १।१६८। ४–११. वही १।१४६।

१०. विषयोंका पाण्डित्य ।

११. शिष्यके अभिप्रायको अवगत करनेकी क्षमता ।

१२. अध्ययनशीलता ।

१३ विद्वत्ता ।

१४ वाङ्मयके प्रतिपादनकी क्षमता ।

१५. गम्भीरता ।

१६. स्नेहशीलता ।

१७. उदारता और विचार-समन्वयकी शक्ति ।

१८. सत्यवादिता ।

१९. सत्कुलोत्पन्नता ।

२०. अप्रमत्तता ।

२१. परहित साधन तत्परता ।

शिष्य और गुरुके सम्बन्धकी सांकेतिक सूचना आदितीर्थंकर द्वारा अपने बालकोंको दी गयी शिक्षासे ही प्राप्त होती है। अध्यापक स्ववर्गका ही व्यक्ति होता था। पिता अपनी सन्तानको स्वयं ही सुयोग्य बनाता था तथा अपनी देख-रेखमें सकल शास्त्रोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करता था। धार्मिक शिक्षा मुनियोंके आश्रममें सम्पादित की जाती थी। कन्याएँ आर्यिकाओंके द्वारा शिक्षा ग्रहण करती थी। अतएव यह स्पष्ट है कि गुरु-शिष्यका सम्बन्ध पिता-पुत्रके तुल्य था। परिवारमें ही प्रारम्भिक शिक्षाकी व्यवस्थाकी जाती थी। उच्च शिक्षाके लिए गुरुकुलोंमें छात्र अध्ययनार्थ जाते थे। उत्तराध्ययनसूत्रमें गुरु-शिष्यके सम्बन्धमें अच्छा विचार किया गया है। छात्र गुरुके समक्ष अत्यन्त विनयी रहता था तथा गुरुकी सेवा-भक्ति भी करता था।

शिक्षा-विधि (आदि० २।१०२-१०४,२१।९६)

आदिपुराणसे कई प्रकारकी शिक्षा-विधियोंका संकेत प्राप्त होता है। इन विधियोंको निम्नलिखित भेदोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. पाठ-विधि

२. प्रश्नोत्तर-विधि

३. शास्त्रार्थ-विधि

४. उपदेश-विधि

५. नय-विधि

६. उपक्रम या उपोद्घात-विधि

६. पञ्चाग-विधि

पाठ-विधि (आदि० १६।१०४; १६।१०५-१०८)

गुरु या शिक्षक शिष्योको पाठ-विधि द्वारा अंक और अक्षर ज्ञानकी शिक्षा देता है। वह किसी काष्ठपट्टिकाके ऊपर अंक या अक्षर देता है। शिष्य उन अक्षर या अङ्कोका अनुकरण करता है। वार-वार उन्हें लिखकर कण्ठस्थ करता है। इस विधिका प्रारम्भ आदितीर्थंकर ऋषभदेवसे होता है। उन्होने अपनी कन्याओंको इस पाठ-विधि द्वारा ही शिक्षा दी थी।

यह शिक्षा-विधि सामान्य बुद्धिवाले अल्पवयस्क छात्रोंके लिए अधिक उपयोगी है। इस पद्धतिमे अभ्यासका भी अन्तर्भाव निहित है। शिक्षक द्वारा लिखे गये अंक-अक्षरोका लेखन और वाचन दोनों ही प्रक्रियाओसे शिक्षार्थी अभ्यास करता है। इस प्रक्रियामे अभ्यासात्मक प्रश्नोके उत्तर लिखे जाते है। आदिपुराणमे इस विधिका उपयोग सर्वाधिक हुआ है। इस विधिमे मूलत तीन शिक्षातत्त्व पाये जाते हैं—

(१) उच्चारणकी स्पष्टता—शिक्षक वर्णोका उच्चारण उनके, स्थान और प्रयत्नके अनुसार शिख पाता है। शिक्षाग्रन्थोमे जिस उच्चारण विधिका निरूपण आता है, उस विधिके अनुसार वर्णोका उच्चारण शिष्योको सिखलाया जाता है।

(२) लेखनकलाका अभ्यास—पाठ-विधिका दूसरा तत्त्व लिखना सीखनेका अभ्यास है। ब्राह्मी और सुन्दरीको लिखनेकी कला सिखलायी गयी थी।

(३) तर्कात्मक संख्या प्रणाली—वस्तुओके गिननेके रूपमे अंकविद्याका प्रारम्भ हुआ। अंकका महत्त्व हमें तभी मालूम होता है, जब हम कई समूहोंमे एक अंक संख्याको पाते है। जब एक ही अंककी भावना हमारे हृदयमे वस्तुओसे पृथक् अंकित हो जाती है, तब हम वस्तुओका वार-वार नाम न लेकर उनकी संख्याको कहते है। इन संख्याओंका विकास जीवादि पदार्थोंके ज्ञानके लिए हुआ है। अत पाठशैलीके तीसरे तत्त्व द्वारा परिकर्माष्टक—योग, गुणा, घटाव, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन एवं घनमूल इन आठ क्रियाओंका परिज्ञान किया गया है।[1]

प्रश्नोत्तर विधि (आदि० १।१३८, २।२; २।२६; २।२८-२९; १२।२१२–२५२)

प्रश्नोत्तर विधिका प्रयोग आदिपुराणमे पाया जाता है। श्रेणिक प्रश्नकर्ता शिष्यके प्रतीक है और गौतम गणधर उत्तरदाता गुरुके। देवियाँ विभिन्न प्रकारके प्रश्न मातासे पूछती है और माता उत्तर देकर उनके ज्ञानका संवर्धन करती है। समस्यापूर्तियों एवं पहेलियाँ भी इसी विधिमे सम्मिलित हो जाती है। समस्या

१. आदिपुराण १६।१०८।

पूर्ती आदिका लक्ष्य बुद्धिको तीव्र बनाना तथा अनेक विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना है। यहाँ एकाध प्रश्न उपस्थितकर विषयका स्पष्टीकरण किया जायगा।

वटवृक्षः पुरोऽयं ते घनच्छायः स्थितो महान्।
इत्युक्तोऽपि न तं घर्मे श्रितःकोऽपि वदाद्भुतम्[1]॥—

अर्थात् कुछ व्यक्ति कड़कती हुई धूपमें खडे हुए थे, उनसे किसीने कहा—'यह तुम्हारे सामसे घनी छायावाला वडा भारी वड़का वृक्ष खड़ा है, ऐसा कहने पर भी उनमेंसे कोई भी वहाँ नही गया। हे माता वतलाइये, यह कैसा आश्चर्य है? इसके उत्तरमे माताने कहा—-इस श्लोकमे जो 'वटवृक्षः' शब्द है, उसकी सन्धि 'वटो ऋक्ष.' इस प्रकार तोड़ना चाहिए और उसका अर्थ इस प्रकार करना चाहिए-ऐ लडके, तुम्हारे सामने यह मेघके समान कान्तिवाला—-काला वड़ा भारी रीछ—भालू बैठा है, अत. कडी धूपमें भी उसके पास कोई नही गाया, तो क्या आश्चर्य है।

इस प्रकार शिष्य गुरुसे प्रश्न करता है और गुरु चमत्कारपूर्ण उत्तर देकर शिष्यको सन्तुष्ट करते हैं। इस प्रणाली द्वारा विषयोंको हृदयगम करनेमे विशेष सुविधा होती है। गूढ और दुरुह विषय भी सरलता पूर्वक समझमे आ जाते हैं।

प्रश्नोत्तर दोनो ही ओरसे किये जाते हैं। शिष्य भी प्रश्न करता है और गुरु भी शिष्यसे। गुरु प्रश्नोका तर्कपूर्ण उत्तर देकर शास्त्रीय ज्ञानका संवर्द्धन करता है। शिक्षाशास्त्रकी दृष्टिसे यह प्रौड शैली है, इसका प्रयोग वयस्क और प्रतिभाशाली छात्रोके लिए ही किया जाता है।

शास्त्रार्थ विधि (आदि० ४।१६-३० ; ५।२७-८८)

शात्रार्थविधि प्राचीन शिक्षा-पद्धत्तिकी एक प्रमुख विधि है। इस विधिमें पूर्व और उत्तर पक्षकी स्थापना पूर्वक पिपयोकी जानकारी प्राप्त की जाती है। एक ही तथ्यकी उपलब्धि विभिन्न प्रकारके तर्को, विकल्पो और वौद्धिक प्रयोगों द्वारा की जाती हैं। जैनन्यायके समल्त ग्रन्योमे शास्त्रार्थ विधिका वर्णन पाया जाता है। प्रमाण, नय, निक्षेप द्वारा वस्तु स्वरूपका प्रतिपादन शास्त्रार्थ प्रणाली पर किया गया है।

आदिपुराणमे शास्त्रार्थ मन्त्रियोके बीच आप्ततत्त्वकी जानकारोके लिए किया गया है। इस विधिमे गुरुवशिष्यको शास्त्रार्थ करनेकी पद्धति एवं तत्काल उत्तर-प्रत्युत्तर देनेकी शक्तिका विकास करता है। इस शास्त्रार्थ विधिमें स्वपक्ष सिद्धि और परपक्षमे दूपणोद्भावनकी प्रक्रियाका विवेचन किया गया है।

---

१. आदि० १२।२२६।

शास्त्रोंका सम्यक् परिज्ञान इसी विधि द्वारा प्राप्त किया जाता था। इस शिक्षा विधिकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) 'ननु' शब्द द्वारा शंका उत्पन्न करना।

(२) 'इति चेन्न' द्वारा शंकाका निराकरण करना।

(३) यथेकं द्वारा परपक्षका निराकरण और स्वपक्षकी पुष्टि।

(४) अनवस्था, चक्रक, प्रसंगसाधन आदि दोषोका उद्भावन।

(५) 'एवं', 'आह', 'तत्र', 'यत्र', 'तन्त्रोक्तं' आदि संकेतार्थों द्वारा कथनों और उद्धरणोंको उपस्थित कर समालोचन।

(६) विकल्पोंको उठाकर प्रतिपक्षीका समाधान करते हुए स्वपक्षकी सिद्धि। इसके लिए आक्षेपिणी, विक्षेपिणी जैसी कथाओंकी प्रक्रियाका प्रयोग।

(७) 'तदुक्तं', 'नापि' जैसे शब्दोका किसी वस्तु या कथन पर जोर देनेके लिए प्रयोग।

उपदेश विधि (आदि० २१।९६; २३।६९-७२; २४।८५-१८०)

उपदेश विधिका प्रमुख रूप उपदेश रूपमें शिक्षा देता है। आदिपुराणमे आदि-तीर्थंकरका धर्मोपदेश इसी विधिके अन्तर्गत लिया जा सकता है। स्वाध्यायके पाँच भेदोंमे 'उपदेश' का कथन आया है। इसका वास्तविक रहस्य गुरुद्वारा भाषणके रूपमें विषयका प्रतिपादन करना है। इस विधिका उपयोग उसी समय किया जाता है, जब शिष्य प्रौढ हो जाता है और उसका मस्तिष्क विकसित हो प्रमुख विषयोंको ग्रहण करनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है।

उपक्रम या उपोद्धात विधि (आदि० २।१०२-१०४)

वर्णनीय विषयको शिष्यके मस्तिष्कमे पूर्णतया प्रविष्ट कर देना उपक्रम पाठ-विधि है, इसीका दूसरा नाम उपोद्धात भी है। आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, अभिधेय और अर्थाधिकार ये उपक्रमके पाँच भेद हैं। आदिक्रम, मध्यक्रम और अन्त्यक्रम द्वारा वस्तुओंका प्रतिपादन करना अनुपुर्वी है। क्रमपूर्वक विषयोंका परिज्ञान कराना अनुपूर्वीमे परिगणित है। जो गुरु या पाठक इस विधिको अपनाता है, वह पाठ्य विषयका किसी क्रमविशेषके अनुसार विवेचन या व्याख्यान करता है। आनुपूर्वीसे विषयको हृदयंगम करमे सहायता प्राप्त होती है।

नामविधिमें विस्तारपूर्वक वस्तुओंके नामोंका प्रतिपादन किया जाता है। जो गुरु इस विधिका विशेषज्ञ होता है वह अपनी पाठ्य शैलीमे मनोरंजकता और सरसता लानेके लिए नामका विस्तार करता है। एक प्रकारसे इसकी गणना निक्षेप-विधिमें की जा सकती हैं।

प्रमाणविधिमे वस्तुका सर्वाङ्गीण निरुपण और नयविधिमें एक-एक अंश का विवेचन किया जाता है।

अभिधेयमे अर्थका विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा कथन किया जाता है। द्रव्य और भावपूर्वक पदोकी व्याख्या प्रस्तुत कर विविध भंगावलियोकी स्थापना की जाती है। एक ही विपय या वस्तुको अनेक रूपोमें प्रतिपादन कर पाठ्य विपयों को सरल और वोधगम्य वनाया जाता है।

पञ्चांगविधि (आदि० २१।९६)

पञ्चागविधिके स्वाध्याय सम्वन्धी पाँच अंग है। इन पाँचो अंगों द्वारा विपयके मर्मको समझा जाता है।

पाठक सर्वप्रथम वाचनाका प्रयोग करता है। वाचनाका अर्थ पढना है अर्थात् वाँच कर वाड्मयका वोध प्राप्त करना है। तदनन्तर पृच्छना-पूछकर विपयके मर्मको प्राप्त करनेका प्रयास किया जाता है। अधिगत विपयको वार-वार अभ्यास द्वारा स्मरण रखनेका प्रयास अनुप्रेक्षा है। मनन और चिन्तन किये गये विपयकी धारणा वनाये रखनेके लिए घोप—घोखकर याद करना घोप स्वाध्याय है। उपदेशके रूपमे विपयको समझना या समझाना उपदेश स्वाध्याय है। पञ्चागविधि द्वारा विपयकी व्याख्या, एवं उसे समझनेका पूर्ण प्रयास किया जाता है। जिस प्रकार समुद्रकी गहराई शनैः शनैः वढ़ती जाती है, उसी प्रकार पञ्चागविधि द्वारा शिक्षाका उत्तरोत्तर विस्तार होता जाता है। शास्त्रोका पाठ उसकी व्याख्या और भाष्योको हृदयंगम करना इस पाठशैलीके अन्तर्गत है।

आदिपुराणके आधार पर गृह, चैत्यालय, आश्रम आदि शिक्षा संस्थाके रूपमे प्रतीत होते है। आख्यानोसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि आरम्भिक शिक्षालय गृह ही था। इस ग्रन्थमे प्रधानत. दो प्रकारकी विधाएँ वतलायी गयी है—

(१) कुल और जातिके आश्रित।

(२) तपस्या द्वारा अर्जित।

कुल (आदि० १९।१२-१३) परम्परासे प्राप्त होनेवाली विद्याएँ कुल-जाति आश्रित कहलाती है। जिस प्रकार पक्षी जन्म लेते ही उड़नेकी कला विना किसी प्रकारके प्रशिक्षणको सीख लेता है, उसी प्रकार विद्याधर वर्गके व्यक्ति जन्म लेने साथसे ही विद्याओके स्वामी वन जाते है।

आराधना (आदि० १९।१४-१६) से प्राप्त होनेवाली विद्याएँ तपस्या अर्जित मानी जाती है। सिद्धायतनके समीप अथवा नदी, पर्वत या द्वीपके तट पर अथवा अन्य पवित्र स्थान पर पवित्र वस्त्रधारण कर जय, पूजन और अनुष्ठान

द्वारा विद्याकी प्राप्ति करना तपश्चरण द्वारा प्राप्त विद्याएँ मानी जाती है। अध्ययन, मनन, चिन्तन भी इस विधिके अन्तर्गत समाविष्ट है।

अध्ययनीय विषय या पाठ्य ग्रन्थ

शिक्षा तत्त्वके लिए अन्तर्गत अध्ययनीय विषयों या विचार करना परम आवश्यक है। आदिपुराणमे शिक्षाके विषय शिक्षार्थियोंके बौद्धिक विकास पर अवलम्बित थे। पाँच वर्षके बालक-बालिकाओको लिपिज्ञान अंकज्ञान, एवं सामान्य भाषाविज्ञान कराया जाता था। गणितज्ञानमे जोड़, गुणा, बाकी, भाग आदि-की शिक्षा भी अपेक्षित थी। आठ वर्षकी अवस्था तक बालक घर पर ही रहकर लिखना-पढ़ना और हिसाब बनाना सीखता था। यह एक प्रकारसे प्राथमिक शिक्षा थी। इतनी शिक्षा प्रत्येक व्यक्तिके लिए अनिवार्य थी। आठ वर्षकी आयुके पश्चात् शास्त्रीय शिक्षा प्रारम्भ होती थी, यह शिक्षा राजकुमार, सामन्त वर्ग श्रेष्ठि-वर्ग एवं अन्य सम्भ्रान्त व्यक्तियोको दी जाती थी।

आदिपुराणमे आदितीर्थंकरने अपने पुत्र एवं पुत्रियोंको जो शिक्षा प्रदान की है, उसमे शिक्षाके पाठ्य विषयोपर बहुत ही सुन्दर प्रकाश पडता है। उन्होने ज्येष्ठ पुत्र भरतको अर्थशास्त्रसंग्रहप्रकरण और नृत्यशास्त्रकी शिक्षा दी थी। वृषभसेनको गान्धर्वविद्याकी शिक्षा, अनन्तविजयको चित्रकला, वास्तु-शिक्षा और आयुर्वेदकी शिक्षा तथा बाहुबलीको कामनीति, स्त्री-पुरुष लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्वलक्षण, गजलक्षण, रत्नपरीक्षा एवं तन्त्र-मन्त्रकी शिक्षा दी गयी थी।[1]

अध्ययनीय वाङ्मयके अन्तर्गत व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र और अलंकार शास्त्रका ग्रहण किया गया है।[2] नवयुवकोंको उक्त तीनो विषयोके अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, शास्त्रसंचालन एवं गज, अश्व आदि संचालनकी शिक्षा दी जाती है।

आदिपुराणमें १४ विद्याएँ[3] पाठ्यक्रमके अन्तर्गत बतलायी गयी है। इन विद्याओकी नामावली निम्न प्रकार है—

(४) चार वेदो—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदका अध्ययन।
(५) शिक्षा—उच्चारण विधिका परिज्ञान।
(६) कल्प
(७) व्याकरण—नाम, आख्यात, निपात और अव्यय शब्दोका परिज्ञान।
(८) छन्द
(९) ज्योतिष—ग्रह, नक्षत्र, ग्रहोकी गति, स्थिति एवं अवस्थाओकी जानकारी।

---

१. आदिपुराण १६।११८-१२५। २. वही १६।१११। ३. वही २।४८।

(१०) निरुक्त—शब्दोंकी व्युत्पत्तियाँ ।

(११) इतिहास—पुरावृत्तका परिज्ञान ।

(१२) पुराण—आख्यानात्मक धार्मिक ग्रन्थ ।

(१३) मीमासा—विधि या क्रियाप्रतिपादक शास्त्र ।

(१४) न्याय शास्त्र—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि सात पदार्थोंका वोध।

पाठ्यक्रमके अन्य विषय (आदि० ४१।१४१-१५५)

कामनीति—कामशास्त्रका परिज्ञान ।

हस्तितन्त्र—गजशास्त्र, गजसंचालन, मदोन्मत्त गजका वशीकरण ।

अश्वतन्य—अश्वशास्त्र ।

आयुर्वेद—चिकित्साशास्त्र और रोगविज्ञान ।

निमित्तशास्त्र—निमित्तों द्वारा शुभाशुभका परिज्ञान ।

शकुनशास्त्र—विभिन्न प्रकारके शकुनो द्वारा शुभाशुभ प्रतिपादक शास्त्र ।

तन्त्रशास्त्र—

मन्त्रशास्त्र—मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेन इति मन्त्र.—मन् + ष्ट्रन ।

पुरुपलक्षणशास्त्र—

कलाशास्त्र—विभिन्न प्रकारकी कलाओंका प्रतिपादक शास्त्र ।

राजनीतिविज्ञान शास्त्र—

धर्मशास्त्र—क्रियाकाण्ड, विश्वास एवं परम्पराओ का वोधकशास्त्र ।

गृहविरत मुनियो, क्षुल्लको और ऐलकोंके लिए लौकिक शिक्षाके अतिरिक्त पारलौकिक शिक्षाका प्रवन्ध था । जिनसेनाचार्यने स्वाध्यायके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए वतलाया है—स्वाध्याय करनेसे मनका निरोध होता है, मनका निरोध होनेसे इन्द्रियोका निग्रह होता है। अतः स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति स्वतः संयमी और जितेन्द्रिय वन जाता है ।[1]

●

१. आदि० ३४।१३४ ।

द्वितीय परिच्छेद

साहित्य-काव्य और कथा

आदिपुराणमे काव्य और कथाका विस्तार पूर्वक निरूपण आया है। वाङ्मय-का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए व्याकरण, छन्द और अलंकारशास्त्रको वाङ्मय वतलाया है। आदिपुराण अलंकार शास्त्रका ग्रन्थ नही है, पर काव्यस्वरूपका वहुत ही सुन्दर प्रतिपादन हुआ है।

काव्य प्रयोजन

अलंकारशास्त्रियोंने काव्यलक्षण वतलानेके पूर्व काव्यके प्रयोजन पर प्रकाश डाला है। जिनसेन आदिपुराणमे काव्यका प्रयोजन 'केवल मनोरञ्जन' नही मानते। उन्होने काव्यरसायनको अमरत्वका साधक माना है। शान्तरससे सम्पृक्त कविता जीवनमे रसायनका कार्य करती है। अतः काव्यके मूलमे धर्मतत्त्वका रहना परम आवश्यक है।

त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः।
येषां धर्मकथाङ्गत्वं भारती प्रतिपद्यते ॥
धर्मानुवन्धिनी या स्यात् कविता सैव शस्यते।
शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥[1]

धर्मतत्त्वका प्रतिपादन करना ही काव्यका प्रयोजन है। धर्मतत्त्वके सम्वन्धसे रहित होने पर कविता मनोहर होने पर भी पापास्रवका हेतु है। काव्यतत्त्वके संयोगसे धर्मतत्त्व रसाथन वन जाता है। अतएव काव्यका प्रयोजन धर्मपदार्थका निरूप्ण करना है। काव्यप्रयोजनको स्पष्ट करते हुए वताया है—

महापुराणसम्बन्धिमहानायकगोचरम्।
त्रिवर्गफलसन्दर्भं महाकाव्यं तदिष्यते ॥[2]

धर्म, अर्थ और कामके फलको दिखलानेके लिए इतिहास सम्बद्ध महापुरुषोके चरित्रका चित्रण करना ही महाकाव्यका लक्ष्य है।

मनोविज्ञान व्यक्तित्वके निर्माणमे धार्मिक वातावरणको वहुत अधिक महत्त्व देता है। व्यक्ति जिस प्रकारके कार्य या आचरणको वार-वार करता है, वह उसका अभ्यास कहलाता है और जैसे-जैसे अभ्यास संस्कार वनते चलते है, उन्हीके अनु-सार मनुष्यका चरित्र निर्मित होता है। ये अभ्यास संस्कार ही हमारे नैतिक या

---

१. आदि० १।६२-६३। २. वही १।९९।

धार्मिक जीवनके आधार है। अच्छे संस्कार धार्मिक वातावरणकी अपेक्षा रखते है। यत. विभिन्न परिस्थितियो और वातावरणके कारण आन्तिक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। ये क्रिया-प्रतिक्रियाएँ मनुष्यके अभ्यस्त विचारोमे सम्बद्ध रहती है। अतएव करुणा, दया, क्षमा, शान्ति, त्याग एवं प्रेम प्रभृति गुण धार्मिक संस्कारोके अभावमे उत्पन्न नही हो सकते। इसी कारण काव्यका प्रयोजन रससिद्ध प्रक्रिया द्वारा धर्मतत्त्व—नैतिक एवं उदात्त जीवन सिद्धान्तोका निरूपण करना है। जीवनके विकास और उत्कर्पमे धर्मरसायन रहनेके कारण ही काव्यका अमूल्य सहयोग माना जाता है। त्रिवर्गसे सम्बद्ध काव्य जीवनको सुन्दर, स्वस्थ और उदार बनाता है। तात्पर्य यह है कि विश्व और जीवनका जो प्रतिबिम्ब कविके मानसपटलपर अंकित होता है, उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति काव्य है। यह ध्यातव्य है कि इस प्रतिबिम्बके निर्माणमें त्रिवर्गकी सहायता अपेक्षित रहती है।

अर्थ और काम पुरुपार्थमे सन्तुलनकी स्थिति धर्मके सम्बन्धसे ही आती है, यतः काव्यके साथ धर्मका घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। धर्मतत्त्वको ग्रहण किये विना काव्यमे सौन्दर्य नही आ सकता है और न वह शिवंकी स्थितिको प्राप्त कर सकता है।

काव्यका विपय जीवन जगत है तथा जीवन-जगतका विकास प्रकृतिकी गोदमें होता है। प्रकृति चिर नवीन और सुन्दरी है; उसके अन्तरालमे अक्षय आनन्द भरा है। प्रकृतिके रूप-माधुर्यकी अनुभूति तभी सभव होती है, जब व्यक्तिके हृदयमे उसके प्रति सहानुभूति और स्नेहका भाव रहता है। यह भी सत्य है कि हृदयकी विशालता, पवित्रता, उदारता एवं सहृदयताके विना प्रकृतिके प्रति सहानुभूति और स्नेहकी भावना उत्पन्न नही हो सकती है। निस्सन्देह विचार और भावोंको उदात्त बनानेका श्रेय बहुत कुछ धर्मपुरुपार्थको है।

धर्मतत्त्वके साथ काव्यका सम्बन्ध रहने पर भी काव्यका धर्मतत्त्व आगम या प्रवचनके धर्मतत्त्वसे भिन्न होता है। उसमे श्रद्धा और विश्वास रहते है, अत. काव्यका धर्मतत्त्व लोकमंगलकारी वन जाता है[1]।

वस्तुतः धर्मकथामे मानवके अतीतका मधुमय इतिहास निहित रहता है और काव्यका अतीतसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि काव्य स्वयं ही अतीतके भावो, चित्रो और अनुभूतियोकी भावात्मक प्रक्रिया है। कल्याणभावना काव्य और धर्म दोनोकी मिलन रेखा है। दोनोका लक्ष्य किसी न किसी रूपमे

---

१. भामह काव्यालकार १।२; साहित्यदर्पण १।२ ।

मानव कल्याणका विधान करना है। धर्मकी यही मूल भावना जव काव्यका प्राण वनती है, तो काव्य रसायन वन जाता है।

जिनसेनने आदिपुराणमे धर्मतत्त्वयुक्त काव्यको कल्पलता[1], सरोवर[2], आकाशगंगा[3] एवं दर्पण[4]की उपमा दी है। नैतिक मूल्यो और आनन्दवादी मूल्यो मे सहज सामञ्जस्य स्थापित करते हुए उन्होने "यथोक्तमुपयुञ्जीध्वं बुधाः काव्यरसायनम्[5]"—यशरूपी शरीरको अमर वनानेके लिए काव्यरसायनके सेवनकी ओर संकेत किया है।

काव्यरचनाके हेतु

काव्य रचनामे दो प्रवृत्तियाँ मूलतः दृष्टिगोचर होती है—(१) अनुकरणकी प्रवृत्ति और (२) सामाञ्जस्यकी प्रवृत्ति। मनुष्य अनुकरणके द्वारा ही ज्ञानार्जन कर आनन्द प्राप्त करता है। अनुकरणकी प्रवृत्ति अज्ञानावस्थामे ही प्रारम्भ होती है। नृत्य, चित्र आदि कलाओ द्वारा भी अनुकरण प्रवृत्तिकी कार्यकारिता सिद्ध होती है। तथ्य यह है कि काव्यके लिए कवि हृदयका योग तीन प्रकारका होता है

(१) अनुकरण
(२) अनुसरण
(३) संग्रहण

आदिपुराणमे काव्यसृष्टिके लिए अनुकरणको स्थान दिया गया है। पर यह सर्वोपरि नही है। इस ग्रन्थका मत है। जिस प्रकार महावृक्षोंकी छायासे मार्गकी थकावट दूर हो जाती है और चित्त आह्लादित हो जाता है, उसी प्रकार महाकवियोके काव्यग्रन्थोके परिशीलनसे अर्थाभावजन्य खिन्नता दूर हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है।[6] कारयित्री प्रतिभा—काव्य रचना करनेवाली प्रतिभा श्रेष्ठ कवियोके काव्योसे अर्थयुक्त श्रेष्ठ भावोंका अनुकरण कर काव्यकी रचनामे प्रवृत्त होती है। आदिपुराणका यह सिद्धान्त 'छायामनुहरति कवि.' के समानार्थक है। अनुकरण और संग्रहण कथन भी पाया जाता है—

शब्दराशिपर्यन्तः स्वाधीनोऽर्थ. स्फुटा रसा ।
सुलभाश्च प्रतिच्छन्दाः कवित्वे का दरिद्रता ॥[7]

जव शब्दसमूह अनन्त है, विषय इच्छाधीन है, रस संवेद्य है और उत्तमोत्तम

१-४. आदि० १।१०८-१११। ५. वही, १।१०५। ६. आदि० १।१०२। ७. वही, १।१०१।

छन्द रचनेकी सहज प्रतिभा है, तव कविता लिखनेमे किसी भी प्रकारकी कमी नही हो सकती ।

उपर्युक्त पद्यके विश्लेपणसे स्पष्ट है कि आदिपुराणमे सर्जनशक्तिकी अपेक्षा ग्राहक शक्तिको महत्त्व दिया है । मात्र अनुकरणको आदिपुराणमे निन्द्य कहा है, हाँ, अनुकरणके साथ मौलिकताको सर्वोपरि स्थान दिया गया है ।

केचिदन्यकृतैरर्थैः शब्दैश्च परिवर्तितैः ।
प्रसारयन्ति काव्यार्थान् प्रतिशिष्टचेव वाणिजाः ॥[1]

दूसरोके द्वारा रचित काव्योमे कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन कर जो काव्य-ग्रन्थों-की रचना करते है, उनके वे काव्य-ग्रन्थ इस प्रकार सम्मान्य नही होते, जिस प्रकार कोई व्यापारी दूसरे व्यापारीके मालमे थोडा-सा परिवर्तन कर अपनी मोहर लगानेमात्रसे सम्मान्य नही होता । इस कथनका समर्थन "केचिदन्यवचोलेशानादाय कविमानिनः[2]" द्वारा भी होता है ।

अलंकारशास्त्रियोने शक्ति—प्रतिभा, निपुणता, व्युत्पत्ति और अभ्यासको काव्यका हेतु माना है । कोई-कोई आचार्य इन तीनोका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते है और कोई इन तीनोको सम्मिलितरूपमे काव्यका हेतु मानते है । वाग्भट्ट-ने काव्यहेतुओका विवेचन करते हुए लिखा है—

प्रतिभा करणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु भूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसङ्कथा ॥[3]

प्रतिभा काव्योत्पत्तिका हेतु है, व्युत्पत्तिसे काव्यरचनामे शोभा—सौन्दर्य उत्पन्न होता है एवं अभ्याससे शीघ्र ही काव्यरचना सम्पन्न होती है ।

आदिपुराणमे काव्यसर्जनके लिए 'प्रज्ञामूलो' प्रज्ञाको मूल कहा है, अर्थात् प्रज्ञा ही काव्यका कारण है। यह सिद्धान्त वामनके 'कवित्ववीजं प्रतिभानम्'[4]से मिलता-जुलता है । प्रज्ञा या प्रतिभा जन्मान्तरगत संस्कारविशेष है, इसके विना काव्यरचना सम्भव नही । प्रज्ञाके अभावमे की गयी काव्यरचना कभी भी सफल नही होती । अभिनवगुप्तने—अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा । तस्या विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्" ।।[5] अर्थात्-अपूर्ववस्तु निर्माणकी शक्ति का नाम प्रज्ञा है। उसका विशेपरूप है प्रतिभा, जिसका अर्थ है रसावेशकी विशदता तथा सुन्दरतासे अनुप्रेरित काव्यनिर्माणकी शक्ति। आदिपुराणमे 'प्रज्ञामूलो[6]' के अतिरिक्त 'प्रज्ञावेलः'[7] पदका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है

---

१. आदि० १।६८ । २. वही, १।६६ । ३. वाग्भटालकार प० १ पृ० ५ । ४. काव्यालकार-सूत्रवृत्ति १।३।१६ । ५. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० २९ । ६. आदि० १।१०३ । ७. वही १।१०४ ।

कि प्रज्ञा काव्य-समुद्रकी वेला है, अर्थात् प्रज्ञाके प्रभावसे कवि 'स्व'की भूमिका-से ऊपर उठ जाता है और काव्य-निवद्ध पात्रोके भावोका वेलाके समान यथावत् अनुभव करने लगता है। प्रज्ञाका यह आन्तरिक और मौलिक धर्म है। प्रज्ञाका दूसरा धर्म है काव्योचितका ग्रहण और अकाव्योचितका त्याग, जिसके द्वारा वस्तु संगठन एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म रमणीय अर्थकी योजना की जाती है। आदिपुराण-मे प्रज्ञासे अपूर्व वस्तु निर्माण-क्षमताका ही ग्रहण किया है।[1]

राजशेखरने प्रतिभाको संस्कारविशेष नही माना है; इनका मत है कि समाधि—मनकी एकाग्रता और अभ्यास इन दोनोके द्वारा जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसका प्रसार, विस्तार या व्यापार प्रतिभा है। कारयित्री प्रतिभा द्वारा ही काव्यका निर्माण होता है—

आदिपुराणके मतानुसार प्रज्ञा वीजधर्मा है, पर अभ्यास और व्युत्पत्ति भी काव्यसृजनका कारण है।[2]

न्याय, व्याकरण आदि शास्त्रोंके अभ्यासके विना एवं संगीत, नृत्य, चित्र, आदि कलाओके परिज्ञानसे रहित व्यक्ति काव्यरचना करनेका साहस नही कर सकता। अतएव महाकवियो द्वारा रचित काव्यग्रन्थो एवं अन्य शास्त्रोके अभ्यासके साथ गुरुकी उपासना—सेवा द्वारा काव्यरचनामे, प्रवृत्त होना चाहिए। काव्यरचनाका निरन्तर अभ्यास करनेसे या गुरुप्रसादसे कविता लिखनेकी क्षमता प्राप्त होती है।

व्युत्पत्तिके विना काव्यरचना करना आदिपुराणके मतमे हास्यास्पद है। जो अन्य कवियोकी रचनाओका अध्ययन कर कविता रचनेका प्रयास करता है, वह कवि वोलनेका प्रयास करनेवाले गूँगेके समान है, जो अपने कार्यमे असफल रहता है। यथा—

अव्युत्पन्नतराः केचित् कवित्वाय कृतोद्यमाः।
प्रयान्ति हास्यतां लोके मूका इव विवक्षवः॥[3]

आगम, स्मृति, पुराण, नाटक, कामशास्त्र, योगशास्त्र, आयुर्वेद, अभिधान, शव्दशास्त्र, काव्यशिक्षा विपयक ग्रन्थ एवं लोकव्यवहार सम्वन्धी ग्रन्थोके अध्य-यनसे व्युत्पत्ति उत्पन्न की जाती है। अतएव आदिपुराणके मतानुसार प्रज्ञा, अभ्यास और व्युत्पत्ति इन तीनोंको सम्मिलित रूपमे ही काव्यका हेतु माना है।

काव्यलक्षण

आदिपुराणमे काव्यशव्दकी व्युत्पत्ति वतलाते हुए पूर्वाचार्यो द्वारा उल्लिखित परिभापाका निरूपण किया है—

---

१. आदि० १।१०९। २. वही, १।७३–७४। ३. आदि० १।६५।

कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते ।
तत्प्रतीतार्थमग्राम्यं सालङ्कारमनाकुलम् ॥[१]

कविके भाव अथवा कर्मको काव्य कहते है। कविका काव्य सर्वसम्मत अर्थ-से सहित, ग्राम्यदोषसे रहित अलंकारसे युक्त और प्रसाद आदि गुणोसे शोभित होता है। इस काव्य-परिभाषाके स्फोटनसे निम्नलिखित तथ्य प्रस्फुटित होते है—

१. अभिप्रेत अर्थ युक्त पदसमुदाय।
२. ग्राम्यादि दोषरहित।
३. सालंकार।
४. प्रसादादि गुण युक्त।

तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थका वह समन्वित रूप, जो दोष रहित तथा गुण और अलकार सहित हो, काव्य है। यह परिभाषा अग्निपुराण[२] और मम्मट द्वारा निरूपित काव्यप्रकाशकी[३] परिभाषाके तुल्य है।

आदिपुराणमे काव्यका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए काव्यके भावपक्ष और कलापक्षका समान्वित रूप निर्दिष्ट किया है।[४]

कुछ विचारक केवल अर्थसौन्दर्यको काव्यके लिए उपादेय मानते है और कुछ शब्दसौन्दर्यको, पर जिनसेन अर्थ और शब्द दोनोके सौन्दर्य सामञ्जस्यको काव्यके लिए ग्राह्य वतलाते है।

अलंकार सहित, शृंगारादिरस युक्त, सौन्दर्यसे ओत-प्रोत और उच्छिष्टता रहित—मौलिक काव्य सरस्वतीके मुखके समान शोभायमान होता है।

जिसमे रीतिकी रमणीयता नही, न पदोका लालित्य है और न रसका ही प्रवाह है, वह अनगढ काव्य है। इस प्रकारका काव्य सरस नही होता और न पाठकोको रसास्वादन करानेकी क्षमता ही रखता है, इस श्रेणीका काव्य ग्राम्यादि दोपोसे दूषित रहता है।

अनेक अर्थोको सूचित करनेवाले पदविन्यास सहित ननोहर रीतियोसे युक्त एवं स्पष्ट अर्थसे उद्भासित प्रवन्ध-काव्योकी जो रचना करते है, वे महाकवि कहलाते है।

इस काव्य-परिभाषापर विचार करनेसे अवगत होता है कि इसमे आचार्य ने वहिरंग और अन्तरंग दोनो ही काव्यतत्त्वोको समानरूपसे स्थान दिया है। परिभाषाके स्फोटनसे निम्न सिद्धान्त निष्पन्न होते है—

---

१. आदि० १।९४। २. अग्निपुराण ३३७।६-७। ३. काव्यप्रकाश १।१। ४. आदि० १।९५-९६।

१. रीति, गुण, औचित्य और शब्दालंकार रूप काव्यके बहिरंग तत्त्वोंका अस्तित्व।

२. भाव जगत्—रस, भाव, अर्थालंकारोसे सम्पृक्त अप्रस्तुत विधान एवं कल्पनामूलक सौन्दर्यका सद्भाव।

३. काव्यके हृदय पक्ष—रस एवं भाव और बुद्धिपक्ष—विचार, चमत्कार—वाग्वैदग्ध्य, एवं व्यंग्यका समन्वय।

४. मौलिकता—विशिष्ट अनुभवोंकी अभिव्यक्तिके लिए नये बिम्बों, प्रतीकों का विधानकर परम्परागत भावोकी अभिव्यञ्जना।

आदिपुराणके मतानुसार काव्यमे गुणोंका रहना आवश्यक माना है। इस ग्रन्थकी मान्यताके अनुसार गुण शब्द और अर्थके धर्म है। इन्हीसे काव्यमे मूल-शोभाधायक तत्त्व आता है। शृंगार, वीर, शान्त, वीभत्स, रौद्र आदि रसोमे जहाँ चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, वहाँ प्रसाद, माधुर्य एवं ओज आदि गुण वर्तमान रहते है। गुणोको आलंकारिकोने चित्तवृत्तिरूप कहा है। यतः माधुर्य चित्तकी द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्याप्ति—व्यापकत्व विशिष्ट अवस्था है। चित्तकी यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रसपरिपाकके साथ ही घटित होती है। तात्पर्य यह है कि शृंगार या शान्त रसकी अनुभूतिसे चित्तमे जो एक प्रकारकी आर्द्रताका संचार होता है, वही माधुर्य है। वीररसके अनुभव मे जो एक प्रकारकी दीप्ति उत्पन्न होती है, वह ओज है और शेष रसोके अनुभव मे जो व्याप्ति उत्पन्न होती है, वही प्रसाद है!

आदिपुराणके काव्यसिद्धान्तके अनुसार रीति भी गुणोके आश्रित है। वर्ण-गुम्फरूपिणी रचनाका स्वरूप माधुर्य, ओज और प्रसादके द्वारा ही निर्धारित होता है। रीतिका मुख्य कार्य है रसको अभिव्यक्त करना और रसकी अभिव्यक्ति गुणोके आश्रयसे ही होती है। रीति और गुणका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसी कारण आदिपुराणमे रस और अलंकारोके साथ रीति और गुणको काव्यके लिए आधायक तत्त्व माना है :—

प्रज्ञा जिसका मूल है; माधुर्य, ओज, प्रसाद जिसकी उन्नत शाखाएँ और उत्तम शब्द ही जिसके पत्ते है; ऐसा यह महाकाव्यरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमञ्जरी को धारण करता है।[1]

प्रज्ञा जिसका तट है; प्रसाद आदि गुण जिसकी लहरें है, जो गुणरूपी रत्नो-से भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दोसे युक्त है तथा जिसमे गुरुशिष्यपर-म्परारूप पवाह चला आ रहा है, ऐसा यह महाकाव्य समुद्रके समान है।

१. आदिपुराण १।१०३-१०४

आदिपुराणकी उक्त परिभाषा पर्याप्त व्यापक है। शब्द और अर्थकी अव-स्थितिके साथ रीति और गुणसे विभूषित, अलंकार और रस तथा वृत्तियोसे विशिष्ट काव्य होता है।

आदिपुराणमे शैली पर भी विचार किया है। शैली मनोगत भावोको मूर्त रूप प्रदान करनेवाला सहज साधन है। शैली काव्यके बाह्यरूपको अलंकृत करनेके अतिरिक्त उसके भावगत रूपको भी विकसित करती है। भावोके पोषक उपा-दानके रूपमे यह रस संचार करनेमें भी सहायक होती है।

भाव-सौन्दर्यकी सार्थकता शैलीगत सौन्दर्यपर ही अवलम्बित है। सुन्दर सरस शैलीके अभावमे भावोका निसर्ग सौन्दर्य भी विकृत हो जाता है।

कोई शब्दकी सुन्दरताको पसन्द करते है; कोई मनोहर अर्थसम्पत्तिको, कोई समासकी अधिकताको अच्छा समझते है और कोई पृथक-पृथक रहनेवाली असमस्त पदावलीको ही चाहते है। कोई मृदुल-सरल रचनाको पसन्द करते है तो कोई कठोर रचनाको। कोई अपनी विलक्षण रुचिके अनुसार अद्भुत रचनाको पसन्द करते है।[1]

आदिपुराणमे रीति पर विशेष बल दिया है। उनकी यह रीति 'वामन' के समान 'विशिष्ट पदरचना'—विशिष्ट गुण युक्त पदरचना स्वरूप है। इस ग्रन्थके मतानुसार शब्द और अर्थके सौन्दर्यका सामञ्जस्य भी शैलीमे विद्यमान रहता है। यतः इस सामञ्जस्यसे प्रसन्न, उदात्त, मसृण और ओजस्वी वाक्योका गठन होता है। अल्पसमास, कोमल पदावली और प्रसादगुण युक्त रचना ही उपादेय होती है। शैलीमे निम्न गुणोका रहना आवश्यक है।

१. शब्दगत और अर्थगत चमत्कार।

२ रमणीयता[2]—शब्दगत, अर्थगत, अलंकारगत, रसगत, एवं औचित्यगत रमणीयता।

३ अल्पसमास।

४. सुन्दर भावोकी उद्भावना करनेकी क्षमता।

५. सुश्लिष्टपदन्यास[3]—इसके अन्तर्गत पदसौष्ठव भी आता है।

६ प्रसन्न[4]—स्वच्छ और स्पष्ट भावाभिव्यञ्जना।

७. शब्दो, विशेषणो और रूपकोका औचित्य।

८. गुरुप्रवाह[5]—प्रवाह युक्तता।

---

१. आदि० १।७८-७९। २. रम्यां—आदि० १।१०८। ३. सुश्लिष्टपदविन्यासं—वही १।९८। ४ प्रसन्नामतिगम्भीरा—वही १।१०९। ५. गुरुप्रवाह—वही १।११०।

९. सालङ्कार[1]—अलंकार युक्तता।

निष्कर्ष यह है कि शैली काव्यरचना सम्बन्धी वह विशेषता है, जो कविकी प्रकृति और व्यक्तित्व, वर्णयोजना, शब्दगठन, अलंकार प्रयोग, भाव-सम्पत्ति एवं युक्ति वैचित्र्यके परिणाम स्वरूप प्रकाशित होती है। आदिपुराणमे समासरहित या अल्पसमासवाली मधुर और सुकुमार शब्दोसे युक्त शैलीको उपादेय माना है। संक्षेपमे आदिपुराणमे रीतिशब्द द्वारा शैलीका ग्रहण किया गया है और उसका आधारभूत तत्त्व गुण है।

काव्यके भेद

आदिपुराणके अध्ययनसे काव्यरचना तन्त्रके साथ काव्यके भेदों पर भी संक्षेप में प्रकाश पडता है। साधारणतः काव्यके तीन भेद है—उत्तम, मध्यम और जघन्य। व्यंग्यकाव्य उत्तम, लाक्षणिक मध्यम और वाचक अधम काव्य कहलाता है। विधाकी दृष्टिसे गीतिकाव्य और प्रबन्धकाव्य इन दो भेदोमे काव्योको वर्गीकृत किया जा सकता है। गीतिकाव्यमे व्यक्तिगत अनुभवकी उत्कट भावतरंग उपलब्ध होती है। आदिपुराणकी समस्त स्तुतियाँ गीतिकाव्य है। पुराणके सन्दर्भ से पृथक् करने पर स्तोत्र या स्तुतियोको गीतिकाव्य माननेमे कोई आपत्ति नही। गीतिकाव्यका ही एक अंग सुभाषित या सूक्तिकाव्य है, जो मुक्तकशब्दके द्वारा अभिहित किया जाता है।

अलंकारशास्त्रियोने काव्यविधाको मुक्तक, प्रबन्ध और रूपक इन वर्गोमें विभक्त किया है। मुक्तक विधा ही सुभाषित और स्तोत्रोके रूपमे अभिप्रेत है। आदिपुराणमे सुभाषितको महारत्न कहा है।

सुभाषितमहारत्नप्रसारमिव दर्शयन्।
यथाकामं जिघृक्षूणां भक्तिमूल्येन योगिनाम्॥[2]

अर्थात् सुभाषित महारत्नोके समान है। एक अन्य सन्दर्भमे सुभाषितोंको महामन्त्र भी[3] कहा है। भक्तजन अपने आराध्यकी भक्ति जिन स्तोत्रो द्वारा करते है, उनमे भक्तिका प्रवाह सुभाषितो द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अत आदिपुराणके अनुसार एक काव्यविधा गीति या स्तोत्र काव्यकी है।

प्रबन्धकी परिभाषा बतलाते हुए आदिपुराणमे लिखा है—"पूर्वापरार्थघटनैः[4] प्रबन्ध" पूर्वापरके सम्बन्ध निर्वाह पूर्वक आख्यानमूलक रचना प्रबन्ध है।

प्रबन्धका ग्रथन खण्डकाव्य और महाकाव्य दोनो रूपोमे किया जाता है। जिस काव्यमे जीवनके एक अंशका चित्रण होता है, वह खण्डकाव्य कहलाता है और जिसमे जीवनके पूर्ण भागका चित्रण रहता है, वह महाकाव्य कहलाता है।

---

१. सालङ्कारम्–आदि० १।९६। २. वही, २।८७। ३. वही, १।८८। ४. वही, १।१००।

आदिपुराणमें बताया है इतिहास और पुराण प्रतिपादित चरितका रसात्मक चित्रण करना तथा धर्म, अर्थ और कामके फलको प्रदर्शित करना महाकाव्य है।[1] आदिपुराणमे महाकाव्यका श्लेपात्मक वर्णन किया है। इस वर्णनसे निम्नलिखित तथ्य निष्पन्न होते है[2]—

१. उत्तम वृत्तो—छन्दोसे सुशोभित
२. शब्दालंकार और अर्थालंकारसे युक्त
३. मनोहर शब्दावलीसे मण्डित
४. महत् चरितसे युक्त
५. संवादतत्त्वका संयोजन
६. वस्तुव्यापार-वर्णनोसे अलंकृत
७. इतिवृत्तमण्डित
८. प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा आदि अवस्थाओसे युक्त
९. कथावस्तुका महाकाव्योचित गठन
१०. सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दाका सद्भाव[3]
११. सानुबन्धता

पुराण

"पुरातनं पुराणम्[4]"—प्राचीन होनेसे पुराण कहा जाता है। महापुरुषोंके उदात्त चरितका निरूपण करना ही पुराणका लक्ष्य है। पुराणके दो भेद है—पुराण[5] और महापुराण[6]। जिसमें एक शलाकापुरुपका चरित वर्णित रहता है, वह पुराण है और जिसमे त्रेसठ शलाकापुरुपोका चरित वर्णित रहता है, वह महापुराण कहलाता है। पुराणका महापुरुपोसे सम्बन्ध है तथा इसका अध्ययन और मनन भी अभ्युदय प्राप्तिका हेतु है। पुराणकी कथाएँ 'इति इह आसीत्'[7] का निरूपण करनेके कारण इतिहास पदपर भी प्रतिष्ठित हैं। धर्मतत्त्वका निरूपण रहनेके कारण पुराण धर्मशास्त्र भी कहलाता है।
यथा—

स च धर्म पुराणार्थः पुराणं पञ्चधा विदुः।
क्षेत्र कालञ्च तीर्थञ्च सत्पुसस्तद्विचेष्टितम्॥[8]

---

१. महापुराणसम्बन्धिमहानायकगोचरम्। त्रिवर्गफलसन्दर्भं महाकाव्यं तदिष्यते॥—आदि० १।९९। २. सद्वृत्तसङ्गताश्चित्रमन्दर्भरुचिराकृतिः। यः सुशब्दो महान्मह्या काव्यवन्ध इवावभौ॥ ३ वही, १।३७, १।९०–९३;। सपताका ''। ' चारणै. कृतसंस्तस्वः। वही, ६।१८७; १८८, १९०। ४. वही, १।२१। ५. वही, १।२२। ६ वही, १।२३। ७ वही, १।२५। ८. आदि० २।३८।

जो पुराणका अर्थ है, वही धर्म है; यह पुराण पाँच प्रकारका है—क्षेत्र, काल, तीर्थ सत्पुरुष और सत्पुरुपका चरित्र।

कथाकाव्य

कथाकाव्यके प्रधान तीन तत्त्व है—उपमान, रूपक और प्रतीक। यह श्रव्य प्रवन्ध है, गम्भीरता, महदुद्देश्य और महच्चरित्रके अभावमे यह प्रवन्धकाव्यसे भिन्न है। रसात्मकता और अलंकृत होनेके कारण सामान्य इतिवृत्तात्मक कथाओंको अपेक्षा भी यह भिन्न है। संक्षेपमे कथाकाव्यमें निम्न तत्त्व पाये जाते है—

१. मनोरञ्जनके साथ धमार्थ फलकी प्राप्तिका उद्देश्य।

२. कथानक जीवन्त, प्रभावमय, यथार्थ और प्रवाहपूर्ण।

३. काल्पनिक कथातत्त्वके साथ पौराणिकताका समावेश।

४. रसात्मकताकी स्थिति।

५. भावाभिव्यञ्जनकी सतर्कता।

कथाका विशिष्ट अर्थ है कथित घटनाका कहना या वर्णन करना। कार्य-व्यापारकी योजना कथामे रहती है। समयकी गति घटनावलीको खोलती जाती है और साथ ही यह भी प्रमाणित होता जाता है कि विश्वका संघटन युक्तियुक्त है। कथाका महत्त्व आदिपुराणमे विशेपरूपसे प्रतिपादित है। आदिपुराणमें "त्रिवर्गकथनं कथा।"[1]—धर्म, अर्थ और कामका कथन करना कथा है। धर्मके फलस्वरूप जिन अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है, उनमे अर्थ और काम भी मुख्य है, अतः धर्मका फल दिखानेके लिए अर्थ और कामका वर्णन कथा कहलाता है।[2]

कथाके भेद

आदिपुराणमे कथाके दो भेद वतलाये है—सद्धर्मकथा[3] और विकथा[4]। स्वर्ग और मोक्षके अभ्युदयको देनेवाला धर्म है, इससे सम्वन्ध रखनेवाली कथा सद्धर्मकथा कहलाती है। इसीका दूसरा नाम सत्कथा है। यह सात अंगोंसे भूपित, अलंकारोसे सज्जित नटीके समान सरस होती है।[5] द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भव, महाफल और प्रकृत ये सात अंग कहलाते है, इन सातोंका ग्रन्थके आदिमे वर्णन करना आवश्यक है।

धर्मनिरपेक्ष अर्थ और कामका कथन करनेवाली कथा विकथा कही जाती है। विकथा पापास्रवका हेतु है।

---

१. आदि० १।११८। २. वही १।११७, १।११९। ३. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा। सद्धर्मस्तन्निवद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता ॥—वही, १।१२०। ४. १।११९। ५. प्राहुर्धर्मकथाङ्गानि सप्तसप्तर्धिभूपणाः। यैर्भूपिता कथाऽऽहार्यैर्नटीव रसिका भवेत्॥—वही १।१२१।

धमकथाके चार भेद है—(१) आक्षेपिणी (२) विक्षेपिणी (३) संवेदिनी और (४) निर्वेदिनी।

स्वमतकी स्थापना करते समय आपेक्षिणी; मिथ्यामतका खण्डन करते समय विक्षेपिणी, पुण्यके फलस्वरूप विभूतिका वर्णन करते समय संवेदिनी और वैराग्य उत्पादनके समय निर्वेदिनी कथा कहनी चाहिए[1]।

इस कथा-सन्दर्भमे वक्ता और श्रोताके लक्षणोंका भी उल्लेख किया है। वक्तामे निम्नलिखित गुण अपेक्षित है[2]—

१. सदाचार, स्थिरबुद्धि एवं जितेन्द्रियता।
२. प्रतिभा।
३. विषयज्ञता।
४. व्याख्यानशैलीकी मनोहारिता।
५. अध्ययनशीलता।
६. वाङ्मय-अभिज्ञता।
७. सहिष्णुता।
८ अभिप्रायविज्ञता।
९. भाषा एवं विषयकी विद्वत्ता।

श्रोताको भी ग्रहण, धारणा शक्ति युक्त एवं विवेकशील होना चाहिए। श्रोताओके कई भेद भी वर्णित हैं।[3]

व्याकरण

आदिपुराणमे व्याकरणज्ञानको पदज्ञान[4] भी कहा गया है। वाङ्मयकी[5] परिभाषामे व्याकरण, छन्द और अलंकारको गर्भितकर व्याकरणका महत्त्व प्रदर्शित किया है। व्याकरणशब्दकी व्युत्पत्ति—"व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते साध्यन्ते शब्दाः अनेन" अर्थात् जिसके द्वारा शब्दोकी व्युत्पत्ति बतलायी जाय, वह व्याकरण शास्त्र है। व्याकरणका उद्देश्य भाषाका विश्लेषण करना है। सूत्र, वृत्ति, प्रक्रिया और उदाहरणो द्वारा शब्दोका बोध कराना व्याकरणमें सम्मिलित है। धातुपाठ, गणपाठ, उणादि, लिंगानुशासन एवं सूत्रपाठरूप पञ्चाग व्याकरण अध्ययनीय माना गया है।

आदितीर्थंकरने अपनी दोनो पुत्रियोको पदज्ञानरूपी दीपिकासे प्रकाशित

---

१. आदि० १।१३५-१३६। २. नानोपाख्यानकुशलो नानाभाषाविशारदः। नानाशास्त्रकलाभिज्ञः स भवेत्कथाग्रणी. ॥—वही १।१३० तथा १।२६-१३४। ३. वही १।१३८-१४७। ४. वही, १६।११६। ५. वही १६।१११।

हुई समस्त विद्याओं और कलाओंकी शिक्षा दी थी।[1] अतएव स्पष्ट है कि पद-ज्ञानसे ही अन्य शास्त्रोका वोध प्राप्त होता है।

आदिपुराणमे स्वायम्भुव[2] नामक एक व्याकरणग्रन्थका निर्देश आया है, जिसमे सौ अध्यायसे अधिक अध्याय थे और जो गम्भीर था। इसी व्याकरण ग्रन्थका अध्यापन वृषभदेवने अपनी पुत्रियोंको कराया था।

छन्दशास्त्र

आदिपुराणमे छन्दशास्त्रका उल्लेख आया है। अक्षर, अक्षरोंकी संख्या एवं क्रम, मात्रा, मात्रागणना तथा यति-गति आदिसे सम्वन्धित विशिष्ट एवं नियमोंसे नियोजित पद्यरचना छन्द कहलाती है। छन्दोकी उत्पत्ति, परम्परा, भेद-प्रभेद, जाति, लक्षण-उदाहरण, रचनाविधि, विस्तारसंख्या, वर्गीकरण आदि छन्दसम्वन्धी विविध पक्षोंका निरूपण करनेवाला शास्त्र छन्दशास्त्र कहलाता है। छन्दको वेदाग कहा गया है, इसकी व्यवस्थित परम्परा पिंगलाचार्चके 'छन्द. सूत्र' से उपलब्ध होती है। मात्राछन्द, वर्णवृत्त, दण्डक आदि विभाजन तथा यति, गतिका विचार स्वतन्त्र रूपसे किया गया है।

आदिपुराणमे अनेक अध्यायोवाले एक छन्द ग्रन्थका उल्लेख आया है[3]। इस ग्रन्थमे उक्ता, प्रयुक्ता, आदि छव्वीस भेद भी वर्णित थे। भगवान् ऋषभदेवने प्रस्तार,, नष्ट, उद्दिष्टके साथ मात्राओके लघु-गुरु भेद, छन्दोके विभिन्न रूप, यति-विरामके नियम एवं अध्वयोग आदिका वर्णन किया है।[4] काव्य और वाड्मयको समझनेके लिए छन्दज्ञान आवश्यक था।

अलंकारशास्त्र

अलंकार उस विधाका नाम है, जिसके प्रयोगद्वारा श्रोताओके मनमे वक्ता अपनी इच्छाके अनुकूल भावना जगाकर आनन्दका संचार करता है। इसे सौन्दर्य विवेचक शास्त्र भी कह सकते है। अलंकारशव्दको व्यापक अर्थमे ग्रहण करने पर काव्यशास्त्रका पर्यायवाची अलंकार कहा जा सकता है। भावोका उत्कर्प दिखाने और वस्तुओंके रूप-गुण और क्रियाका अधिक तीव्र अनुभव करानेमे सहायक शास्त्र अलंकारशास्त्र है। वाणीके आचार-व्यवहार, रीति-नीति, एवं पृथक्-पृथक् स्थितियोंके भिन्न-भिन्न सौन्दर्य चित्रोका वोध कराना अलंकारशास्त्रका

---

१. अथैनयोः पदज्ञानदीपिकाभिः प्रकाशिताः। कला विद्याश्च निश्शेषाः स्वयं परणति ययुः॥—आदि० १६।११६। २. तदा स्वायम्भुव नाम पदशास्त्रमभूत् महत्।—वही १६।११२। ३. छन्दोविचितिमप्येवं नानाध्यायैरुपादिशत्। वही १६।११३। ४. प्रस्तारं नष्टमुद्दिष्टमेकद्वित्रिलघुक्रियाम्। सख्यामथाध्वयोगञ्च व्याजहार गिरा पतिः॥ वही १६।११४।

काम है। शब्द और अर्थ सौन्दर्यका विवेचक भी इस शास्त्रको माना जा सकता है। आदिपुराणमे 'अलंकार विषय' की गणना वाङ्मयमे की है। अलंकार और अलंकार्यके सम्बन्धका चित्रण भी इस शास्त्रमे पाया जाता है। आदिपुराणमें बताया है—

उपमादीनलङ्काराँस्तन्मार्गद्वयविस्तरम्।
दशप्राणानलङ्कारसंग्रहे विभुरभ्यधात्॥[1]

अर्थात् अलंकारसंग्रह नामके ग्रंथमें उपमा, रूपक, यमक आदि अलंकारके स्वरूप, उदाहरण एवं भेद-प्रभेद वर्णित थे। इस ग्रन्थमें शब्दालंकार और अर्थलंकारके साथ श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति एवं समाधि इन दस गुणोंका भी वर्णन समाहित था। वैदर्भी रीति के लिए उक्त गुण आवश्यक माने गये है। रस और व्यंग्य भी काव्यमे सौन्दर्यधायक है, अत. अलंकारशास्त्रमे इनका निरूपण भी पाया जाता है। अलंकारशास्त्र द्वारा सौन्दर्य प्रतिमानोका बोध होता था।

सामुद्रिकशास्त्र

सामुद्रिकशास्त्रका शास्त्रीय नाम लक्षणनिमित्त है। स्वस्तिक, कलश, शंख, चक्र आदि चिह्नोंके द्वारा एवं हस्त, मस्तक और पादतलकी रेखाओं द्वारा शुभाशुभका निरूपण करना लक्षणनिमित्त है। मनुष्य लाभ-हानि, सुख-दु.ख, जीवनमरण, जय-पराजय एवं स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य रेखाओंके बलसे प्राप्त करता है। पुरुषोंके लक्षण दाहिने हाथसे और स्त्रियोंके लक्षण बायें हाथकी रेखाओंसे अवगत करने चाहिए। यदि प्रदेशिनी और मध्यमा अँगुलियोका अन्तर सघन हो—वे एक दूसरेसे मिली हो और मिलनेसे उनके बीचमे कोई अन्तर न रहे' तो बचपनमें सुखी होता है। यदि मध्यमा और अनामिकाके बीचका सघन अन्तर हो तो युवावस्थामे सुख होता है। लम्बी अंगुलियाँ दीर्घजीवियोकी, सीधी अँगुलियाँ सुन्दरोकी, पतली बुद्धिमानोकी और चपटी दूसरोकी सेवा करनेवालोकी होती है। आदिपुराणमे अंग-प्रत्यंग सम्बन्धी कथन संक्षेपमें आया है।

आदितीर्थंकरके शुभलक्षणोका कथन करते हुए लिखा है—

(१) श्रीवृक्ष (२) शंख (३) कमल (४) स्वस्तिक (५) अंकुश (६) तोरण (७) चमर (८) श्वेतछत्र (९) सिंहासन (१०) पताका (११) मीनयुगल (१२) कुम्भयुगल (१३) कच्छप (१४) चक्र (१५) अब्धि (१६) सरोवर (१७) विमान (१८) भवन (१९) गज (२०) नर (२१) नारी (२२) मृगाधिप

१. आदि० १६।११५।

(२३) वाण (२४) धनुप (२५) मेरु (२६) इन्द्र (२७) देवगंगा (२८) पुर (२९) गोपुर (३०) चन्द्रमा (३१) सूर्य (३२) जाति-अश्व (३३) तालवृन्त (३४) वेणु (३५) वीणा (३६) मृदंग (३७) मालायुगल (३८) पट्टाशुक (३९) आपण (४०) चिचित्र आभरण (४१) फलोद्यान (४२) सुपक्वक्षेत्र (४३) रत्नद्वीप (४४) वज्र (४५) मही (४६) लक्ष्मी (४७) सरस्वती (४८) कामधेनु (४९) वृपभ (५०) चूडामणि (५१) महानिधि (५२) कल्पवल्ली (५३) हिरण्य (५४) जम्बूवृक्ष (५५) गरुड (५६) नक्षत्र (५७) तारा (५८)सौध (५९) ग्रह (६०) सिद्धार्थवृक्ष (६१) अष्टप्रतिहार्य (६२) अष्टमङ्गलद्रव्य[1]।

हाथमे—(१)शंख (२)चक्र (३) गदा (४) कूर्म (५) मीन[2] के चिह्न थे। ये सभी चिह्न नेता होनेकी सूचना देते हैं। चक्रवर्तीके हाथमे भी ये चिह्न रहते हैं। धर्मप्रवर्तक होनेकी सूचना भी मिलती है।

पैरोमें—(१) चक्र (२) छत्र (३) तलवार और (४) दण्ड[3] चिह्न भविष्णु होनेकी सूचना देते हैं।

इसके अतिरिक्त मसूरिका आदि नौ सौ[4] व्यञ्जन भी उनके अंगमे विद्यमान थे।

हाथमे चन्द्र औरसूर्यकी आकृतिका रहना शुभप्रद माना जाता हैं। आदि-पुराणमे 'करेणुका' शब्द आया है, जो सूक्ष्म, स्निग्ध और पतली रेखाके रूपमे बतलायी गयी है। हस्तरेखाओंमे हाथकी मृदुता, सरलता एवं आकृति भी परि-गणित है।

स्वप्न और निमित्त शास्त्र

स्वप्नदर्शनका सन्दर्भ आदिपुराणमे कई वार आया है। मरुदेवी पोड़श स्वप्न देखती है और नाभिराय उन स्वप्नोंका फल प्रतिपादित करते हैं। दृष्ट, श्रुत, अनु-भूत, प्रार्थित, कल्पित, भाविक और दोपज इन सात प्रकारके स्वप्नोमेसे भाविक स्वप्नका फल यथार्थ निकलता है। स्वप्न कर्मफलका सूचक है—आगामी शुभाशुभ कर्मफलकी सूचना देता हैं। सूचक निमित्तोमे स्वप्नका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

राजा श्रेयाँसने स्वप्नमें (१) सुवर्णमय विशाल सुमेरु पर्वत, (२) शाखाओके अग्रभागपर लटकते हुए आभूषणवाला कल्पवृक्ष, (३) भयानक सिंह, (४) वृपभ, (५) सूर्य, चन्द्र,। (६) समुद्र और (७) अष्टमंगलद्रव्य धारण किये हुए व्यन्तरो की मूर्त्तियाँ देखी थी। राजाने इन स्वप्नोका फलादेश अपने पुरोहित सोमप्रभासे पूछा। पुरोहितने फल प्रतिपादित करते हुए कहा—उन्नत सुमेरु पर्वतका फल यह

---

१. आदिपुराण १५।३७-४३। २. वही, १५।१९७। ३. वही, १५।२०८। ४. व्यञ्जना-न्यपरायण्यासन शतानि नवसंख्यया ॥ अभिरामं वपुर्भर्त्तुः लक्षणैरोभिरूर्जितै.। ...बभौ ॥—वही १५।४४-४५।

है कि जिसका सुमेरुपर अभिषेक हुआ है, वह देव आज यहाँ आयेगा। अन्य स्वप्नोसे भी यह ज्ञात होता है कि हम लोगोको पुण्य, ऐश्वर्य और अभ्युदयकी प्राप्ति होगी। उस महापुरुषके दर्शनसे हमारी अन्तरात्मा पवित्र हो जायगी और हमें सभी प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त होंगे।[1]

उक्त स्वप्नोका फल भद्रबाहुसंहिताके २६ वें स्वप्नदर्शन अध्यायके फलके समान है। सूर्य-चन्द्रदर्शनका फल बतलाते हुए लिखा है—

आदित्यं चाथ चन्द्रं वा यः स्वप्ने दृश्यते नरः।
श्मशानमध्ये निर्भीकः परं हत्वा चमूपतिम् ॥
सौभाग्यमर्थं लभते ... .।[2]

जो स्वप्नमें सूर्य, चन्द्रका दर्शन करते हुए देखता है, उस व्यक्तिको सौभाग्य और धनकी प्राप्ति होती है। उसका तेज और प्रताप भी वृद्धिगत होता है।

यशस्वती महादेवीने स्वप्नमे ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्र-सूर्य, हंस सहित सरोवर और चञ्चल लहरो वाला समुद्र देखा था। आदितीर्थकरने उक्त स्वप्नोंका फलादेश बतलाते हुए कहा—सुमेरु पर्वतका यह फल है कि चक्रवर्ती पुत्र-लाभ होगा। सूर्यदर्शनसे उसके प्रतापकी और चन्द्रदर्शनसे उसकी कान्तिरूपी सम्पदाकी सूचना मिलती है। सरोवरस्वप्नदर्शनका यह फल है कि पुत्र अनेक पवित्र लक्षणोंसे चिह्नित शरीर होगा और विशाल राजलक्ष्मीका उपभोग करेगा। पृथिवीका ग्रसा जाना देखनेसे समस्त पृथ्वीका स्वामी होगा। समुद्र देखनेसे यह प्रकट होता है कि यह चरम शरीर होकर संसाररूपी समुद्रको पार करने वाला होगा।[3]

जिन लक्षणोंको देखकर भूत और भविष्यमें घटित हुई और होनेवाली घटनाओंका निरूपण किया जाता है, उन्हें निमित्त कहते हैं। निमित्तके आठ भेद हैं—

१. व्यञ्जन[4]—तिल, मस्सा, चट्टा आदिको देखकर शुभाशुभका निरूपण करना व्यञ्जननिमित्तज्ञान है।

२. मस्तक, हाथ, पाँव आदि अङ्गोको देखखर शुभाशुभ कहना अंगनिमित्तज्ञान है।

३. चेतन और अचेतनके शब्द या ध्वनिको सुनकर शुभाशुभका परिज्ञान प्राप्त करना स्वरनिमित्तज्ञान है।

४. पृथ्वीके रङ्ग, चिकनाहट, सूखेपन आदिके द्वारा शुभाशुभत्व अवगत करना

---

१. आदिपुराण २०।३४-३७ तथा भरत निमित्त, शकुन, ज्योतिष आदिके ज्ञाता थे—आदि० ४१।१४७।१४८। २. भद्रबाहुसंहिता २६।१४-१५। ३. आदि० १५।१०३; १५।१२२-१२३। ४. आदि० १५।४४।

भौक निमित्त कहलाता है। इस निमित्तसे गृहनिर्माण योग्य भूमि, देवालय-जलाशय निर्माणयोग्य भूमिकी जानकारी प्राप्त की जाती है। भूमिके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श द्वारा उसके शुभाशुभत्वको जाना जाता है। पृथ्वी संबन्धी निमित्तको भौम-निमित्त कहते है।

५ छिन्न-निमित्त—वस्त्र, शस्त्र, आसन और छत्रादिको छिदा हुआ देखकर शुभाशुभ फल कहना छिन्न निमित्त है। नये वस्त्र, आसन, जूता, शय्या आदिके नौ भाग कर शुभाशुभ फल कहना चाहिये।

६. अन्तरिक्ष—ग्रह-नक्षत्रोके उदयास्त द्वारा शुभाशुभका निरूपण करना अन्तरिक्ष निमित्त है। शुक्र, बुध, मंगल, गुरु और शनि इन पाचो ग्रहोके उदयास्त द्वारा ही शुभाशुभ फलका प्रतिपादन किया गया है। सूर्य और चन्द्रमाका उदयास्त तो प्रतिदिन होता है, अतः इस उदयास्तका कोई भी फल नही है। अतएव उक्त पाँचों ग्रहोके उदयास्तका ही फलादेश वर्णित किया जाता है।

७ लक्षण निमित्त—स्वस्तिक, कलश, शंख, चक्र आदि चिह्नों द्वारा फलादेशका वर्णन करना लक्षण निमित्त है।

८ स्वप्न निमित्त—स्वप्न दर्शनके आधारपर शुभाशुभ फलका प्रतिपादन करना स्वप्न निमित्त है।

आदिपुराणमे अङ्ग[१], लक्षण[२], स्वप्न[३], व्यञ्जन[४] एवं अन्तरिक्ष निमित्तका पूरा वर्णन आया है।

निमित्तज्ञानके साथ-साथ गणितशास्त्रके भी कतिपय सिद्धान्त उपलब्ध होते है। गुणाकार राशियोंमे पूर्वाङ्ग, पूर्व, पर्वांगपर्व, नयुतांग, नयुत, कुमुदाग, कुमुद, पद्माग, पद्म, नलिनाग, नलिन, कमलाग, कमल, तुटयङ्ग, तुटिक, अटटाग, अटट, अममाग, अमम, हाहाग, हाहा, हूहूंग, हूहू, लतांग, लता, महालताग, महालता, शिर-प्रकम्पा, हस्तप्रहेलित और अचलकी गणना की है। एक प्रकारसे ये गुणित राशियाँ वर्गाकार रूपमे भी वर्तमान है।

ज्योतिष शास्त्र और आयुर्वेद

आदिपुराणके भारतमे ज्योतिषपर लोगोको अधिक विश्वास था। यात्राके लिए मुहूर्त्तशुद्धि[५], विवाह[६]–गृहनिर्माण एवं अन्य शुभकार्योके लिए तिथि, नक्षत्र और लग्नशुद्धिका विचार किया जाता था। इस पुराणमे ज्योतिश्चक्र[७], ग्रहण[८],

---

१. आदि० १५।३७-४३। २ वही १५।१९७। ३. १५।१२२-१२३। ४. वही १५।४४। ५ वही, ३।८७। ६. वही, ८।१३४। ७. वही, १।१८८; ३।८६ ।। ८ वही, ३।८५; १३।१६४। ९. वही ३।८७।

संक्रान्ति[1], तारावल[2], चन्द्रवल, उदय[3]-अस्त, स्वोच्च[4], जन्मकुण्डलीमें स्थित ग्रहोका फलादेश, ग्रह और राशियोके स्वरूप वर्णित है।

आयुर्वेदके सिद्धान्तोका भी वर्णन आया है। आदितीर्थङ्करने इस शास्त्रकी शिक्षा बाहुवलीको दी थी। चिकित्सासम्बन्धी वातोका वर्णन भी समाहित है। वताया है—"रुजा यन्नोपघाताय तदौपधमनौपधम्[5]"—जो औपध रोगको शान्त नही कर सकती है, वह यथार्थमे औपध नही है। वात, पित्त और कफ-जन्य[6] रोगोका चित्रण भी इस ग्रन्थमें आया है। व्रणचिकित्सा[7] आदिपुराणके भारतमे पूर्णतया प्रचलित थी। कई प्रकारके मलहम, तैल और द्रव[8] पदार्थ तैयार किये जाते थे। भस्म[9], आसव[10] और अरिष्टका[11] भी व्यवहार किया जाता था। हीरकभस्म[12] असाध्य रोगोंमे प्रयुक्त होती थी। पागल कुत्तेके विपको 'अलर्कशुनो विषम्[13]', कहा गया है। आयुर्वेदकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

आयुर्वेदे स दीर्घायुरायुर्वेदो नु मूर्त्तिमान्।
इति लोको निगरेकं श्लाघते स्म निर्धीशिनम्॥[14]

कामशास्त्रका[15] प्रचार भी आदिपुराणके भारतमे उपलब्ध होता है। काम-पुरुपार्थका महत्त्व अर्थ और धर्मपुरुपार्थके ही समान था। अतः कामशास्त्र सम्वन्धी अनेक तथ्य इस ग्रन्थमे समाहित हैं।

अनुयोगरूप साहित्य

वर्ण्य विपय वर्ग और स्थापत्यकी दृष्टिसे आचार्योंने समस्त श्रुतको चार अनु-योगोमे विभक्त किया है। प्रथमानुपयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

जिन व्यक्तियोंका चरित्र अन्य लोगोंके लिए अनुकरणीय होता है और जो अपने जीवनमे समाजका कोई विशेप कार्य करते है तथा जिनमे साधारण व्यक्तियो-की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ और चमत्कार पाये जाते हैं, वे शलाकापुरुप कह-लाते है। शलाकापुरुपोकी जीवन-गाथाओको वर्णित करना प्रथमानुयोग है। दूसरे शब्दोमे जिस साहित्यमें सत्पुरुपोका चरित वर्णित रहता है, वह प्रथमानु-योग कहलाता है।[16]

करणानुयोगमे तीनो लोकोका विस्तार, आयाम, क्षेत्रफल रचना एवं अन्य समस्त वातोका वर्णन रहता है।[17] गणित और ज्योतिप सम्वन्धो रचनाएँ भी

१. आदि० ३।८७। २. वही, ७।२२१। ३. वही, ३।८६। ४. वही, १६।१४६ ५. वही, ११।१६८। ६. वही, १५।३०। ७. वही, ११।१७६। ८. वही, १०।१८। ९. वही, ६।३७। १०. वही, ९।३७। ११. वही, ९।३७। १२. वही, ४७।१३६। १३. वही, १०।१८। १४. वही, ४१।१४५। १५. वही, ४१।१४३। १६. वही, २।९८। १७. वही, २।६६।

करणानुयोगमे सम्मिलित है। चरणानुयोगमे श्रावकाचार और मुनि-आचाररूप धर्मका विस्तारपूर्वक निरूपण पाया जाता है।[1] द्रव्यानुयोगमे द्रव्य, गुण[2], पर्याय अस्तिकाय, तत्त्व, कर्मसिद्धान्त प्रभृतिका स्वरूप और भेद-प्रभेद अंकित है। इस प्रकार वर्ण्य विषय और शैलीकी दृष्टिसे अनुयोगोमे वाङ्मयका विभाजन किया गया है। ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप साहित्यका उल्लेख भी आता है।

तृतीय परिच्छेद

ललित-कला

आदिपुराणके भारतमे कलाकारोको सभी प्रकारका प्रश्रय दिया जाता था। उन्होने राजाश्रय या सामन्तवर्गका आश्रय प्राप्तकर अपनी सात्विक, सुकुमार और प्रेरक भावनावोको कागज, धातु, प्रस्तर आदिके माध्यमसे साकार कर न केवल अपनी कला एवं प्रतिभाका ही परिचय दिया, अपितु यह भी प्रमाणित कर दिया कि अन्तर्भावनाओके विकास एवं स्थैर्यके लिए अलंकरण सामग्री कितने अंशमे उपयोगी है। कलाकी उत्कट भावना एवं आन्तरिक उदात्त प्रेरणा किसी भी उपकरण द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है। भौतिक पदार्थोमे कला ही सौन्दर्य एव सजीवताकी सृष्टि करती है। सौन्दर्यसृष्टि अथवा भावनाओकी सजीव, साकार और मौलिक अभिव्यक्ति कला है।

लालित्य प्रधान होनेके कारण ही इसकी ललित संज्ञा हुई है। ललित कलामें काव्य, संगीत, नृत्य, अभिनय, चित्र आदि कलाओको संग्रहीत किया गया है।

कलाविदोंने ललित कलाएँ पाँच मानी हैं—काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और वास्तुकला। काव्यकला सर्वोत्तम मानी जाती हैं, क्योकि अर्थरमणीय काव्यमे भौतिक आधार अत्यल्प है। वास्तुकलाको निकृष्ट कला कहा है, यत. भौतिक आधार इसमे सर्वाधिक है। सौन्दर्योपासनाकी प्रवृत्ति ही सभ्यता, संस्कृति और कलाको जन्म देती है। यह सार्वजनीन सत्य है कि सभ्यता और संस्कृतिके विकासमें कलाका सार्वाधिक योगदान रहा है। कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा अरूपमें रूपकी उपासना कर नयी-नयी अभिव्यक्तियाँ करता है।

---

१. आदि० २।१००। २. वही, २।१०१।

आदिपुराणके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि कलाका लक्ष्य जीवन है। अतएव नैतिक, सामाजिक और धार्मिक आदर्शोको रूपायित करना कलाका वास्तविक उद्देश्य है। कला लोकचेतनाको उत्प्रेरित कर परम्परागत मर्यादाकी रक्षा करती हुई जीवनके मूल्योको नयी दिशा प्रदान करती है। कलाके सभी रूपोमें जीवन-मूल्योकी पूर्ण अभिव्ञ्जना हुई है। अतएव आदिपुराणमे कलाके द्वारा धार्मिक-आचरण और जीवनके आदर्श अभिव्यक्त हुए है। साहित्य और कलाके व्यापक अनुरागके कारण आदिपुराणमे कलाका पर्याप्त विस्तार दृष्टिगोचर होता है। ज्योतिष, आयुर्वेद, कामशास्त्र, आख्यायिका, आख्यान, प्रहेलिका, अस्त्र-शस्त्र संचापन एवं समस्यापूर्त्ति आदिको कलामे स्थान दिया जाना, कलाकी व्यापकताका सवल प्रमाण है। हम साहित्यके अन्तर्गत विभिन्न विपयोका निरूपण कर चुके हैं। अतएव यहाँ सर्वप्रथम वास्तुकलापर प्रकाश डाला जायगा।

आदिपुराणमे वास्तुकलाका पर्याप्त चित्रण आया है। नगर, राजपथ, राजप्रासाद, भवन, सौध, हर्म्य, तोरण, अलिन्द, अट्ट, तल्प, वातायन आँगन, स्नानागार, सोपान, स्तम्भ, वन, उद्यान, दीर्घिका, वापी, कूप, निर्झर क्रीडाशैल, देवालय, गुफाएँ, उटज आदिका विवेचन वास्तुकलाके अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है। समवशरणका वहुत ही सुन्दर और सजीव चित्रण आया है। वास्तुकला लालित्यकी दृष्टिसे जितना आकर्पक है, उससे कही अधिक उपयोगितकी दृष्टिसे। भवन-दीर्घिकाएँ और क्रीडाशैल जीवनको सुखी-सानन्द बनानेके लिए ही निर्मित होते है। कलाकार अपनी कलाका उपयोग कर उक्त कृतियोंको सजीव बनाता है। भवनपर अंकित मयूर और हंसोके युगल मानवताका आह्वान करते हुए परिलक्षित होते है।

नगर

आदिपुराणमे नगर, गोष्ठ, ग्राम एवं जनपद नाम आते है। जिस नगरमे राजाका निवास रहता है, उस नगरको राजधानी नगर कहते है। आदिपुराणमें अयोध्या, हस्तिनापुर, वाराणसी आदि प्रसिद्ध नगरोका उल्लेख आया है। जिन नगरोमे राजधानियाँ नही रहती वे शाखानगर कहलाते है। गोकुलोके निवासको गोष्ठ कहते है। छोटे गोष्ठको गोष्ठक कहा जाता है। आदिपुराणमे आये हुए नगरोमेसे अयोध्या और हस्तिनापुरका वास्तुकला सम्बन्धी रूप प्रस्तुत कर उस कलाकी विशेपताओपर प्रकाश डाला जायगा।

अयोध्या नगरीके मध्य भागमे राजभवन था। नगरीके चारो ओर वसधूलिकोट, प्राकार—चार मुख्य दरवाजोके सहित पत्थरके बने सुदृढ कोट और परिखा सुशोभित थी। अत. स्पष्ट है कि राजधानी नगरीके चारो ओर वप्र-प्राकार

और परिखाका रहना आवश्यक था[1]। नगरकी मुख्य सड़कका नाम राजमार्ग या राजपथ था। राजपथ नगरके मुख्य चौडे और विशाल मार्गको कहा जाता है। नगरके मध्यमे बाजार शोभित रहता था। बाजारके लिए जो मार्ग जाता था, उसे आपण-मार्ग कहा गया है। नगरकी अट्टालिकाएँ आकाशका स्पर्श करती थी। आदिपुराणमे नगरकी विशेषताओंका कई स्थानोंपर चित्रण आया है।

प्रत्येक नगरके मध्यमे चतुष्क[2]—चौराहे बनाये जाते थे। ये चौराहे चौडे तो होते ही थे, पर नगरके सभी प्रमुख स्थानोसे मिले रहते थे। नगरमे प्रतोली[3] और रथ्याएँ भी रहती थी। आदिपुराणमे प्रतोली रथ्यासे कुछ चौड़ी गली है। प्रतोली नगरके प्रमुख बाजारों एवं मुहल्लोकी ओर जाती थी, पर रथ्याका संबंध कुछ ही मुहल्लोके साथ रहता था। रथ्या पतली और छोटी ऐसी गलीको कहा जाता था, जो किसी खास मुहल्लेकी ओर जाती थी। गणिकाओ और वेश्याओके मुहल्लो तक जानेवाली पतली सडकको रथ्या ही कहा गया है।

नगर-निर्माणके सिद्धान्तोका अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि पुर और नगरमे भी थोडा-सा अन्तर था। पुरके निम्नलिखित सात अवयव[5] रहते है—

१. वप्र।
२. प्राकार।
३. परिखा।
४. अटारी।
५. द्वार।
६. गली।
७. मार्ग।

आदिपुराणमे नगरोके कोट और गोपुर बहुत ही उन्नत बताये गये है। एक अन्य सन्दर्भमे नगरोको तीन-तीन[6] परिखाओसे घिरा बतलाया है। इन तीनों परिखाओका अन्तर एक-एक दण्ड अर्थात् चार-चार[7] हाथ है। प्रथम परिखा चौदह दण्ड अर्थात् छप्पन हाथ चौडी, दूसरी अड़तालीस हाथ और तीसरी चालीस हाथ चौड़ी[8] रहती है। परिखाओकी गहराई क्रमश बयालीस हाथ, चौवीस हाथ और तेरह हाथ[9] रहती है। ये सभी परिखाएँ नीचेसे लेकर ऊपर तक एकसी चौडी रहती है। परिखाएँ ईंट और पाषाणकी[10] बनायी जाती है और उनके स्वच्छ जलमे रक्त एवं नीलकमल विकसित[11] रहते है। परिखाओसे सोलह हाथकी दूरी

---

१. आदिपुराण १२।७४,७६। २. वही, २६।३। ३. वही, ४३।२०८। ४. वही, २६।३। ५. वही, १९।५४-७३। ६. आदि० १९।५३। ७. वही, १९।५४। ८. वही, १९।५४। ९. वही, १९।५५। १०. वही, ११।५६। ११. वही, १९।५७।

पर कोट रहता है। यह कोट पाषाणोंसे निर्मित होता है, चौबीस हाथ ऊँचा और अड़तालीस हाथ चौड़ा रहता है।[1]

कोटके ऊपरी भाग पर अनेक कंगूरे लगे रहते हैं और ये कंगूरे गायके खुरके समान गोल और घोड़ेके उदरके समान बाहरकी ओर उठे हुए आकारवाले होते[2] हैं। इस कोटको धूलिकोट इसीलिए कहा जाता है कि जिन पाषाणोंसे इस कोट-का निर्माण होता है, वे पाषाण स्वर्णकी धूलिके बनाये जाते[3] हैं। हमारा अनुमान है कि यह स्वर्णधूलि सीमेण्ट जैसा कोई पदार्थ है। जिस प्रकार वर्त्तमानमें सीमेंट लोहा एवं संगमरमरके टुकड़ोंको मिलाकर सुन्दर पाषाण शिलाएँ निर्मित की जाती हैं, उसी प्रकार प्राचीन समयमें स्वर्णके समान चमकती हुई पाषाणधूलिसे इस कोटकी शिलाएँ बनायी जाती थी। इसी कारण यह धूलिकोट कहलाता था।

धूलिकोटके आगे एक अन्य परिकोटा होता था, जो कि चोड़ाईसे दूना ऊँचा बताया गया है। इसकी ऊँचाई मूलभागके ऊपर तक अड़तालीस हाथ और ऊँचाई छियानवे हाथ होती[4] थी। इस परकोटेका अग्र भाग मृदंग तथा बन्दरके सिरके आकारका बना हुआ होता था। परकोटा चारों ओरसे अनेक प्रकारकी स्वर्णमयी ईंटोंसे व्याप्त रहता था और कहीं कहीं रत्नमयी पाषाण-शिलाओंसे भी युक्त रहता था।[5]

उस परकोटापर अट्टालिकाओंकी पंक्तियाँ बनी हुई रहती हैं जो कि पर-कोटाकी चौडाईके समान चौड़ी है, साठ हाथ लम्बी है और एकसौ बीस हाथ ऊँची है।[6] अट्टालिकाएँ तीस-तीस धनुष अर्थात् एक सौ बीस हाथके अन्तर पर बनी हुई[7] हैं। सुवर्ण और मणियोंसे चित्र विचित्र हैं। ऊँचाईके अनुसार चढने-के लिए सीढियाँ बनी हुई थी।

दो-दो अट्टालिकाओंके बीचमें एक-एक गोपुर बना हुआ रहता था। उस गोपुरपर रत्नोंके तोरण लगे हुए थे।[8] गोपुर पचास धनुष अर्थात् दो सौ हाथ ऊँचे और पचीस धनुष अर्थात् सौ हाथ चौड़े रहते हैं। गोपुर और अट्टालिकाओं के बीच बारह हाथ विस्तार वाले इन्द्रकोश--बुरज बने हुए थे। ये बुरज किवाड़ सहित झरोखोंसे युक्त[9] थे। बुरजोंके मध्यमें अत्यन्त स्वच्छ देवपथ बने हुए थे, जो कि तीन हाथ चौड़े और बारह हाथ लम्बे थे[10]।

प्रत्येक विशालनगरमें एक हजार चतुष्क चौक और बारह हजार वीथियाँ एवं छोटे-बड़े सब मिलाकर एक हजार दरवाजे रहते[11] थे। इन दरवाजोंमें पाँचसौ दर-

---

१. वही, १९।५८। २. वही, १९।५९। ३. वही, १९।५८। ४. वही १९।६०। ५. वही, १९।६१। ६. वही, १९।६२। ७. वही, १९।६३। ८. वही, १९।६४। ९ आदिपुराण १९।६५। १०. वही १९।६६। ११. वही, १९।६८।

वाजे किवाड़ सहित और शेष किवाड़ रहित रहते थे। इन पाँच सौ दरवाजोमे दो सौ दरवाजे अत्यन्त श्रेष्ठ और मजबूत किवाड़ सहित थे।[1] बडे-बड़े नगरोंकी चौड़ाई पूर्वसे पश्चिम तक नव योजन और लम्बाई उत्तरसे दक्षिण तक बारह योजन रहती थी। इन सभी नगरियोका मुख पूर्व दिशाकी ओर था।[2] नगरियोका राजा अपनी राजधानी वहीं स्थापित कर निवास करता था।

प्राकार

प्रत्येक नगर या पुरके चारों ओर बडे बडे पाषाणखण्डो या इष्टिकाओका बनाया हुआ प्राकार रहता था। यह प्राकार तीन तरहका होता था। श्रेष्ठ प्राकारका विस्तार बारह हाथ, मध्यमका दस हाथ और अधमका आठ हाथ था।[3] श्रेष्ठ प्राकारकी ऊँचाई सत्रह हाथ प्रमाण, मध्यमकी पन्द्रह हाथ प्रमाण और अधमकी तेरह हाथ प्रमाण होती थी। प्राकारकी ऊँचाई सत्रह हाथसे अधिक और तेरह हाथसे कम नही होती थी। कगूरोको इन्द्रकोशके साथ कपि-शीर्ष भी कहा गया है। प्राकारके ऊपर द्वारकोणोमे अट्टालिकाएँ निर्मित रहती थी। प्राकारकी ऊँचाईसे एवं उसके विस्तारानुरूप पथकाभी निर्माण रहता था। अट्टालिकाओमे अन्तराल भी पर्याप्त बताया गया है।

जिन प्रतोलियो[4] का पूर्वमे कथन आया है, वे प्रतोलियाँ अर्गलाओसे मजबूत की जाती थीं। राजमार्गके समान प्रतोलीसे निकलनेकी शालाएँ बनायी जाती थी। ये प्रतोलियाँ आयत अर्थात् चौकोर होती थी। आवागमन करनेवालोसे सदा व्याप्त रहती थी। प्रतोलियोमें दरवाजे भी आमने सामने रह सकते थे। आदिपुराणमें प्रतोली शब्दका निर्देश छोटे मार्गके अर्थमे आया है। इसमे सन्देह नही कि आदिपुराणके भारतमे नगर-निर्माणकी कला बहुत ही समृद्ध थी। नगर-निर्माणमे सुरक्षाका तो ध्यान रखा ही जाता था, पर आवागमनमे सुविधा प्राप्त हो तथा व्यवसाय और व्यापारमे उन्नति हो सके, इसका भी ध्यान रखा जाता था।

समवशरण

वास्तुकलाकी दृष्टिसे समवशरणका महत्त्व सर्वाधिक है। समवशरणकी रचनाके अन्तर्गत प्राय. समस्त वास्तुकलाके अङ्ग, उपाङ्ग समाविष्ट हो जाते है। निस्सन्देह आदिपुराणमे वर्णित समवशरण वास्तुकलाकी दृष्टिसे अद्भुत है। समव-शरणके बाहरी भागमे धूलिसालकोट[5] रहता है और इसकी आकृति वलया-कार होती है। रंगबिरंगे पाषाणोसे निर्मित होनेके कारण इन्द्रधनुषकी जैसी

---

१. आदि० १९।६९। २. वही १९।७०। ३. वही, १९।५७–६२। ४. वही, २६।८३। ५. वही २२।८१-८३।

आभा प्रतीत होती है। धूलिसालका निर्माण अनेक प्रकारके रत्नोंकी धूलिसे होता है।[1] हमारी दृष्टिमें यह रत्नोंकी धूलि वास्तुकलाकी दृष्टिसे पाषाणचूर्ण है। पाषाणचूर्ण, रक्त, पीत, कृष्ण, नील आदि अनेक रंगोंका बनाया जाता है। आज भी हम विशाल भवनोंमें इस प्रकारके शिल्पका दर्शन करते हैं। कविने काव्यनिर्माणकी दृष्टिसे तो ऐसा लिखा ही है, पर उसे पौराणिकताका निर्वाह भी करना था। पौराणिक मान्यताके अनुसार समवशरणकी रचना देवोंद्वाराकी जाती है और वे देव मरकत, पद्मरागमणि, इन्द्रनीलमणि प्रभृति मणियोंके और स्वर्णके चूर्णसे उस कोटका निर्माण करते[2] हैं।

धूलिसालके बाहर चारों दिशाओंमें सुवर्णमय स्तम्भोंके अग्रभाग पर अवलम्बित चार तोरणद्वार सुशोभित होते हैं। इन तोरण द्वारोंपर मत्स्याकृतिकी मालाएँ लटकती[3] हैं। धूलिसालके भीतर गलियोंके बीचमें सुवर्णके बने हुए अति उन्नत मानस्तम्भ[4] सुशोभित होते हैं। जिस जगती पर मानस्तम्भ रहते हैं वह जगती चार-चार गोपुर द्वारोंसे युक्त तीन कोटोंसे वेष्टित रहती है और उसके बीचमें एक पीठिका बनायी जाती है। पीठिकाके ऊपर चढनेके लिए सोलह सीढियाँ रहती[5] हैं।

मानस्तम्भोंमें घण्टे, चमर, ध्वजा आदि लटकती[6] रहती हैं। चारों दिशाओंमें शोभित होने वाले इन मानस्तम्भोंमें चार प्रतिमाएँ विराजमान[7] रहती हैं।

मानस्तम्भोंके समीपवर्ती भूभागमें निर्मल जलसे परिपूर्ण चार वापिकाएँ अलंकृत रहती हैं। इन वापिकाओंमें श्वेत, नील आदि रंगविरंगे कमल विकसित[8] रहते हैं। वापिकाओंकी सीढियाँ स्फटिककी बनायी जाती[9] हैं। वापिकाओंसे थोडी दूर जाने पर प्रत्येक वीथिको छोडकर जलसे भरी हुई एक परिखा[10] रहती है, जो समवशरण भूमिको चारों ओरसे वेष्टित करती है। परिखाके तटवर्ती पाषाण अत्यन्त स्वच्छ और रंगविरंगे होते हैं।

परिखाके भीतरी भूभागको एक लतावन[11] घेरे रहता है। वही लतावन अनेक प्रकारकी लताओं एवं विभिन्न ऋतुओंमें फलने-फूलनेवाले वृक्षोंसे युक्त रहता है।[12] यहाँकी अशोक लताएँ दर्शकोंके मनको अनुरक्त बना देती हैं। लतागृहोंके मध्यमें श्वेत वर्णकी शिलाएँ विश्रामके लिए रखी रही हैं। इन शिलाओंपर

---

१. आदि० २२।८४-८५। २. वही, २२।८७-८८। ३. वही, २२।९१। ४. वही, २२।९२। ५. वही, २२।९३-९५। ६. वही, २२।९६। ७. वही, २२।९८। ८. वही, २२।१०४-१०५। ९. वही, २२।१०७। १०. वही, २२।१११। ११. वही, २२।११८। १२. वही, २२।१२१।

बैठकर दर्शक विश्राम[1] करते है। लतावनके भीतर कुछ दूर जानेपर सुवर्णमय प्रथम कोट[2] रहता है। इस कोटके ऊपरी भागपर मुक्ता, माणिक्य आदि जटित रहते है। कोटकी शिल्प-कला बहुत ही सुन्दर रहती है। कही अश्वाकार, कही गजाकार, कही व्याघ्राकार और कही शुक-हंस और कही मयूरके आकारका[3] रहता है। इस कोटके चारो ओर चारो दिशाओंमे बडे-बडे गोपुर द्वार सुशोभित होते है। गोपुरद्वारपर गायक गायन और वादन[4] करते है। गोपुरके दरवाजों-पर भृङ्गार, दर्पण, कलश आदि अष्ट मंगलद्रव्य अंकित रहते है तथा प्रत्येक दरवाजेपर सौ-सौ तोरण बनाये जाते[5] है। तोरणोकी आकृति अनेक रूपोमें घटित की जाती है। दरवाजोके बाहर रखी हुई शंखादि नवनिधियाँ अपना महत्त्व प्रदर्शित[6] करती है। दरवाजोके भीतर एक बडा चौडा मार्ग रहता है जिसके दोनो ओर नाट्यशालाएँ अवस्थित[7] रहती है। ये नाटचशालाएँ तिमं-जली बनायी जाती है, जिनके स्तम्भ बहुत ही सुदृढ, स्वर्णजटित स्फटिक[8] मणिके बने रहते है। नाट्यशालाकी दीवाले श्वेत पाषाणोसे निर्मित रहती है और उनका फर्श बहुत ही चिकना तथा श्वेत आभापूर्ण[9] रहता है। नाट्यशालाओमे अभिनय करती हुई दिव्य अङ्गनाएँ सस्वर गायन करती हैं और विजय अभिनय करती हुई पुष्पाञ्जलि विकीर्ण करती[10] है।

नाट्यशालाओमे किन्नर जातिके व्यक्ति उत्तम संगीत ध्वनिके साथ मधुर शब्दोवाली वीणाका वादन[11] करते है। नाट्यशालाओसे कुछ आगे चलकर गलियो-के दोनो ओर दो-दो धूपघट रखे रहते है जिनमेसे सुगन्धित धूप निरन्तर निक-लता रहता[12] है।

धूपघटोमे कुछ आगे चलनेपर मुख्य गलियोके बगलमे चार-चार वनवीथियाँ स्थित रहती[13] है। ये चारों वन अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्रवृक्षोके रहते[14] है। कलाकी दृष्टिसे इन चारो वनोका अत्यधिक महत्त्व है। प्राचीन राज-भवनोकी कलामे परकोटेके भीतर विभिन्न ऋतुओमे फलने-फूलनेवाले वृक्षोका उपवन रहता था। लगता है कि कविने 'समरागणसूत्रधार' मे वर्णित इसी नगर और भवन निर्माण कलाका मिश्रण कर अपने इस समवशरणकी कलाका गठन किया है। यद्यपि समयकी अवधिकी दृष्टिसे समरागणसूत्रधारसे आदिपुराण

---

१. आदिपुराण २२।१२७। २. वही, २२।१२८। ३. वही, २२।१३५–१३७। ४. वही, २२।१४०, १४२। ५. वही, २२।१४३–१४४। ६. वही, २२।१४६–१४७। ७. वही, २२। १४८। ८. वही २२।१४९। ९ वही, २२।१५०। १० वही, २२।१५२–१५४। ११. वही २२।१५५। १२. वही, २२।१५६–१५७। १३. वही, २२।१६२। १४. वही, २२।१६३। १५. वही, २२।१७४।

पूर्ववर्ती रचना है, पर स्थापत्यके जिस रूपका अकन किया गया है, वह बहुत अंगोमे समरागणसूत्रधारसे समता रखता है ।

पूर्वोक्त वनोके भीतर त्रिकोण और चौकोण आकारकी वापिकाएँ निर्मित रहती है। इन वनोमे कही सुन्दर भवन, कही क्रीडामण्डप, कही चित्रशालाएँ एवं कही पर तिमजले, चौमजले भवनोकी पक्तियाँ निर्मित[1] रहती है। वनोके मध्यभागकी भूमि हरी घाससे युक्त रहती है जिसपर इन्द्रकोग कीडा अपनी इन्द्रधनुपी आभा विकर्ण करता है । इन चारो वनोंमे अशोक वन अपने नामको सार्थक करता हुआ शोक दूर करता[3] है ।सप्तपर्णच्छद वन सात-सात पत्तोवाले वृक्षोसे सुशोभित होकर सात परम स्थानोकी स्मृति[4] दिलाता है। चम्पक वन अपनी सुगन्धि और सौन्दर्यसे दीपाग नामक कल्पवृक्षोका प्रतिनिधित्व करता[5] है । आम्रवन अपनी शीतलता और सुगन्धिसे जनमनको भर देता[6] है । अशोकवनके मध्यभागमे एक वडा भारी अशोक वृक्ष रहता है, जो तीन कटनीदार ऊँची पीठिका पर सुशोभित होता[7] है। इस वृक्षके चारो ओर तीन कोट और चार गोपुरद्वार एवं चमर, भृंगार आदि अष्ट मंगल द्रव्य अंकित रहते[8] है । चैत्यवृक्ष भी अपने सुगन्धित पुष्पोकी शोभाके लिए हुए प्राप्त रहता है । यह चैत्य वृक्ष अपने प्रभामण्डलसे दिशाओंको प्रकाशित करता है । इसमे ध्वजा, घण्टे, झालर, छत्र, चमर आदि लटकते[9] रहते है । चैत्य वृक्षके मूलभागमे चारो दिशाओमें चार मूर्तियाँ अंकित रहती है ।

ये चैत्य वृक्ष चारो ही वनोमें सुशोभित रहते है । इन चैत्यवृक्षको पार्थिव कहा गया है जो कि पापाण, मणिमाणिक्य एव अन्य भौतिक वस्तुओके द्वारा निर्मित होते[11] है । वृक्षोकी आकृति रहनेके कारण उन्हे चैत्य वृक्ष कहा गया है ।

यहाँ आदिपुराणकी यह वास्तुकला विचारणीय है । चैत्यवृक्ष जैसे वृक्षाकार चैत्यालय है, जिनके वाहरी भागोंमे प्रतिमाएँ स्थापित रहती है और जो कलापूर्ण शैलीमे तोरण, गुम्वद, गोपुर, आदिके साथ निर्मित किये जाते है । वृक्षोके पल्लव पुष्प, शाखा, टहनियाँ आदि भी कलात्मक रूपमे अङ्कित रहते है । इन चैत्यवृक्षोंका वड़ा भारी महात्म्य वताया गया[12] है ।

वनोके अन्तमे चारो ओर एक वनवेदी स्थित रहती है, जिसके उन्नत गोपुरद्वार वनाये जाते[13] है । वनवेदिका का निर्माणरूप, आकृति, माप आदि सभी दृष्टियो से कलापूर्ण होता है । गोपुरद्वारमे लटकते हुए घण्टासमूह, ध्वजसमूह, मुक्तावन्दनवार अष्टमंगल द्रव्य भी अपनी अपूर्व आभा प्रदर्शित करते है ।[14]

---

१. आदिपुराण २२।१७५-१७६ । २ वही, २२।१७७ । ३. वही, २२।१८० । ४. वही, २२।१८१ । ५. वही, २२।१८२ । ६. वही, २२।१८३ । ७. वही, २२।१८४ । ८. वही, २२।१८५ । ९. वही, २२।१८८, १९१-१९४ । १०. वही, २२।१९५ । ११ वही, २२।२०२ । १२. वही, २२।२०३ । १३. वही, २२।२०५ । १४ वही, २२।२०९-२१० ।

वेदिकाके स्तम्भोकी चौडाई अट्ठासी अंगुलकी[1] वतायी गयी है और उनका अन्तर पचीस-पचीस धनुप प्रमाण वताया है। सिद्धार्थवृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट-वन-वेदिका, स्तूप, तोरणसहित मानस्तम्भ और ध्वजस्तम्भोकी ऊँचाई तीर्थकरोके शरीरकी ऊँचाईसे वारहगुनी प्रमाण[2] होती है। क्रीडापर्वतोकी ऊँचाई अष्टगुण[3] और स्तूप व्यासोंकी ऊँचाई समानुपातरूपमे अकित की जाती है।

चैत्यवृक्षोके अनन्तर अनेक ध्वजदण्ड स्थापित रहते है। पश्चात् कोट, कोटो पर निर्मित गोपुर, गोपुरोपर तोरण अंकित रहते है। अनन्तर कोटमे महावीथी आरम्भ होती है, जिसके दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ और धूपघट स्थित रहते[4] है। अन्तरालमे कल्पवृक्षका निर्माण किया[5] जाता है। कल्पवृक्षोकी वनवीथिको भीतरकी ओर चारो ओरसे वनवेदिका वेष्टित किये रहती हे। इन वेदिकाओंका अंकन कलाकी दृष्टिसे पूर्ववत् ही रहता है।

भूमिमे कूटागार, सभागृह, प्रेक्षागृह, शय्याएँ, आसन, सीढियाँ आदि भी निर्मित रहती[6] है। महावीथियोके मध्यभागमे नव-नव स्तूप[7] खडे रहते है। स्तूपोके वीचमे अनेक प्रकारके रत्नोसे निर्मित वन्दनवार वँधे[8] रहते है। स्तूपो पर छत्र पताकाएँ, मंगलद्रव्य आदि भी शोभित[9] रहते है। इन स्तूपो और भवन पंक्तियोसे वेष्टित भूमिका उल्लंघन करने पर स्फटिक मणिका कोट आता[10] है। इस कोटके चारों ओर भी गोपुरद्वार वने रहते है और प्रत्येक गोपुरद्वार पर पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण, सुप्रतिष्ठिक, भृंगार और कलश स्थापित रहते[11] है। आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणिके कोटसे लेकर पीठ पर्यन्त लम्वी और महावीथियोंके अन्तरालमे आश्रित सोलह दीवालें रहती है जिससे वारह सभाओका विभाग किया जाता[12] है। दीवालोंके ऊपर रत्नमय स्तम्भो द्वारा एक श्रीमण्डप वनाया[13] जाता है। उस श्रीमण्डपके ऊपर ध्वज और पुष्पमालाएँ[14] लटकती रहती है। श्रीमण्डपमे स्वच्छ मणियो द्वारा हंस, मयूर आदिकी आकृतियाँ अंकित की[15] जाती है। इस मण्डपसे वेष्टित क्षेत्रके मध्य भागमे वैडूर्य मणिद्वारा निर्मित पीठिका रहती है। इस पीठिका पर सोलह स्थानो पर अन्तराल देकर सोलह सीढ़ियोका निर्माण किया जाता[16] है। पीठिकाओके ऊपर पीठ निर्मित होते है, जिनपर चक्र, गज, वृपभ, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड और मालाएँ अङ्कित[17] रहती है। वस्त्रोकी लटकती हुई लम्वी ध्वजाएँ पीठोके सौन्दर्यको कई गुना वृद्धिङ्गत कर देती है। ये पीठ तीन कटनीदार एवं स्निग्ध होते[18] है। पीठकी ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई

---

१. वही, २२।२१३। २ आदि० २२।२१४-२१५। ३. वही, २२।२१७। ४. वही, २२।२३९- २४५। ५ वही, २२।२४४। ६. वही, २२।२६०। ७ वही २२।२६३। ८. वही, २२।२६७। ९. वही, २२।२६८। १० वही, २२।२७०। ११ वही, २२।२७३-२७५। १२. वही, २२।२७७। १३. वही, २२।२८०। १४ वही, २२।२८१-२८२। १५. वही २२।२८७। १६. वही, २२।२९१। १७. वही, २२।२९५-२९६। १८. वही, २१।१९९।

और मेखलाओं आदिका भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार वीथियो, महावीथियो, पीठिका एवं पीठोसे युक्त वह समवशरण भूमि कलापूर्ण और आकर्षक बनायी जाती है। इसमे बारह कोष्ठक रहते है, जिन्हे द्वादश सभाओकी संज्ञा प्राप्त है। मध्यमे गन्धकुटी[1] बनायी जाती है। इस गन्धकुटीके मध्यमे सिंहासन स्थित रहता है और वहीसे उपदेशका आरम्भ होता है।

गन्धकुटी

वास्तुकलाकी दृष्टिसे गन्धकुटीका वर्णन भी अध्ययनीय है। गन्धकुटी अनेक शिखरोसे युक्त और चित्रविचित्र वर्णोंके पाषाणोसे निर्मित की[2] जाती थी। शिखरों पर अनेक प्रकारकी विजय पताकाएँ फहराती[3] थी। गन्धकुटीपर तीन पीठ सुशोभित होते थे[4]। चारो ओर लटकते हुए मोतियोकी झालरे[5] अपना अपूर्व सौन्दर्य विकीर्ण करती थी। चारो ओर लटकती हुई पुष्पमालाएँ तो सुगन्धित फैलाती ही थी, पर सुगन्धित धूपके धूमसे सभी दिशाएँ सुवासित हो जाती[6] थी। यह गन्धकुटी सुगन्धि विशेषके कारण सार्थक नामवाली[7] थी।

गन्धकुटी छह सौ धनुष चौडी, इतनी ही लम्बी और चौडाईमे कुछ अधिक ऊंची होती थी[8]। गन्धकुटीके मध्यमे एक रत्नजटित सिंहासन सुमेरुपर्वतके शिखरकी आकृतिका होता था[9]। इस सिंहासनके ऊपर तीर्थंकर स्थित रहते थे।

ध्वजा

वास्तुकलाका एक अंग ध्वजनिर्माण भी है। आदिपुराणमे विभिन्न प्रकारकी ध्वजाओके निर्माणकी विधि आयी है। इस ध्वजाओमे नाना प्रकारके चिह्न या चित्र भी अंकित रहते है। ध्वजाओके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि वास्तु, मूर्ति और चित्र इन तीनो कलाओके समन्वयसे इनका गठन होता था। आकृतिकी दृष्टिसे ध्वजाओके निम्नलिखित दश भेद माने गये है—

१. मालाचिह्नांकित ध्वजा[10]—पुष्पमालाओंकी विभिन्न आकृतियाँ इस श्रेणीकी ध्वजाओमे अंकित की जाती है। मालाओकी आकृतिके कई प्रकार है— (१) लटकती मालाएँ और (२) तिरछी पडी हुई मालाएँ। जिन ध्वजाओंमे लटकती मालाओका अङ्कन किया जाता है, वे ध्वजाएँ चौकोर होती है। अतः लटकती मालाएँ अपना नया ही सौन्दर्य प्रदर्शित करती है। तिरछी पडी हुई मालाओं वाली ध्वजाएँ प्रायः त्रिकोणवर्ती पायी जाती है। इन मालाओको दिव्य-मालाएँ या पुष्पमालाएँ दोनो ही कहा जा सकता है। मालाओसे युक्त चिह्नवाली ध्वजाएँ धार्मिक मांगलिक अवसररोंपर काममे लायी जाती है।

---

१. आदिपुराण १३।१-७। २. वही, २३।१०। ३. वही, २३।११। ४. वही, २३।१२। ५. वही, २३।१३। ६. वही, २३।१६। ७. वही, २३।२२। ८. वही, २३।२४। ९. वही, २३।२५। १०. वही, २२।२२२।

२. वस्त्रचिह्नाङ्कित ध्वजाएँ[1]—वस्त्रचिह्नाङ्कित ध्वजाएँ मूलतः महीन स्निग्ध एवं श्वेत वस्त्रकी बनायी जाती है। इन ध्वजाओंकी प्रमुख तीन विशेषताएँ होती है। प्रथम विशेषता तो वस्त्रके सौन्दर्यकी है, द्वितीय विशेषता उसकी आकृति एवं रूपनिर्माणकी है और तृतीय विशेषता आकृतियोंके अङ्कनकी है। वस्त्रांकन अनेक रूपोमे प्रचलित थे, चित्रो द्वारा एवं रंगीन ठप्पों द्वारा आदि। चित्राङ्कनमे दुकूल, क्षौमपट्ट आदिका अङ्कन प्रतीक रूपमे रहता था और ठप्पो द्वारा आकृति विशेषका निर्माण होता था।

३. मयूरचिह्नाङ्कित ध्वजा[2]—मयूर चिह्नाङ्कित ध्वजाओमे लीलापूर्वक नृत्य करते हुए मयूरोंकी आकृतियाँ अङ्कित की जाती थी। नृत्य करते हुए मयूर भ्रमवश वस्त्रोको सर्प समझ उन्हें निगलनेका प्रयास करते हुए भी प्रदर्शित किये जाते थे। इस श्रेणीकी ध्वजाओमें मयूरपिच्छकी आकृतियाँ हरित, नील, रक्त, श्वेत आदि विभिन्न प्रकारके रंगो द्वारा अंकित की जाती थी। मयूरकी नृत्य मुद्रा भी नृत्यकलाकी दृष्टिसे अपूर्व होती थी। जिस वस्त्रपर यह मयूर आकृति चित्रित की जाती थी, उस वस्त्रको मयूर काँचलीयुक्त सर्प समझकर भक्षण करनेकी मुद्रामें प्रदर्शित किया जाता था। अतएव मयूर चिन्हाङ्कित ध्वजामे एक साथ कलात्रयकी त्रिवेणी दिखलाई पड़ती थी। मयूर चिन्हाङ्कित ध्वजाओके निर्माताको संगीत मुद्राओं और चित्रकलाका पाण्डित्य प्राप्त रहता था।

४. कमलचिह्नाङ्कित ध्वजा[3]—कमल चिह्नाङ्कित ध्वजाओमे सरोवरमे विकसित सहस्रदलकमलके चित्र अङ्कित किये जाते थे। इस चित्रणमे सरोवर और सहस्रदलकमलकी आकृतियाँ बहुत ही सुन्दर रूपमे प्रस्तुत होती थी। कमलकर्णिका, पीतपराग और नानावर्णोके कमलदल अंकित किये जाते थे। चित्रकी धरतीके रूपमे सरोवर भी अंकित रहता था। सरोवरके मणिमयघाट स्वच्छ और वायुसे तरंगित लहरें हरित और नील वर्णोद्वारा प्रदर्शित की जाती थी। कलाके अध्ययनकी दृष्टिसे इन ध्वजाओका महत्त्व अत्यधिक है।

कमलोकी शोभा अत्यन्त सजीव रहती थी, जिससे ऐसा प्रतीत होता था कि पद्मनिवासिनी लक्ष्मी अन्य कमलोंका त्यागकर इसी कमलपर आसीन हो गयी, इसी कारण इसका सौन्दर्य अनुपम है।

५. हंसचिह्नाङ्कित ध्वजा[4]—हंस चिह्नवाली ध्वजाओंमे हंसोके चित्र बहुत ही सुन्दर और सजीव बनाये जाते थे। वे वस्त्रोको कमलनाल समझकर

---

१. आदिपुराण २२।२२३। २. वही, २२।२२४। ३. वही, २२।२२५-२२६,-२२७। ४. वही, २२।२२८।

भक्षण करनेकी मुद्रामे दिखलाये जाते थे । हंस आकृतियोके निर्माणमे कलाकारो-को विशेप रूपसे सजग रहना पड़ता था । हंसोके अंग प्रत्यंग एवं उनकी विभिन्न मुद्राएँ स्पष्ट रूपमे अंकित रहती थी । क्रियाओ, चेहराओं एवं भावभगियोका भी अङ्कन किया जाता था ।

६. गरुडचिह्नाङ्कित ध्वजा[४]—जिन ध्वजाओमे गरुडोके चिह्न अङ्कित किये जाते थे, उनके दण्डोके अग्रभागपर वैठे हुए गरुड अपने पंखोके विक्षेपसे आकाशको उल्लंघित करते हुए दिखलायी पड़ते थे । गरुड चिह्नाङ्कित ध्वजाएँ वर्तमानमे भी अनेक देवालयोपर उपलब्ध होती हैं । वृन्दावनके गरुड स्तम्भपर लटकती हुई स्वर्ण किङ्किणियोसे युक्त गरुड चिह्नाङ्कित ध्वजा आदिपुराणकी गरुड़चिन्हाङ्कित ध्वजाके तुल्य है ।

७ सिंहचिह्नाङ्कित ध्वजा[१]—उक्त श्रेणीकी ध्वजाओके अग्रभागपर सिंह वने रहते थे । वे सिंह छलाग मारती हुई मुद्रामे मदोन्मत्त हाथियोपर झपटते हुए दिखलाये जाते थे । सिंहोके मुखोंपर वडे-वडे मोती लटकते रहते थे, जिससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वड़े-वड़े हाथियोके मस्तक विदीर्ण करनेसे एकत्र की गयी गजमुक्तावलि ही हैं । गजमुक्ताओका समूह भी उक्त श्रेणीकी ध्वजाओंमें चित्रित रहता था । अत. सिंहचिन्हाङ्कित ध्वजाओमे एक साथ सिंह और गज तथा उन दोनोके परस्पर वैर विरोधके अवसरपर प्रकट की जानेवाली विभिन्न मुद्राएँ प्रदर्शित की जाती थी ।

८. वृषभचिह्नाङ्कित ध्वजा[२]—वृषभ चिह्नाङ्कित ध्वजाओमे ऐसे वृषभोके चित्र वनाये जाते थे, जिनके सीगोके अग्रभागमे ध्वजाओके वस्त्र लटकते रहते थे । ये ध्वजाएँ त्रिलोकको जीतनेके लिए विजय पताकाके तुल्य थी । इन ध्वजाओंकी निम्नलिखित तीन विशेपताएँ होती थीं—उन्नत स्कन्ध वृषभका चित्रण, उसकी क्रीडा करती हुई मुद्राएँ एवं ढूहको ढानेके लिए तत्पर पौरुपकी गरिमा । इन पताकाओका प्रचार आदिपुराणके भारतमे तो था ही, पर गुप्तकालकी कलामे भी उनका अंकन पाया जाता है ।

९ गजचिह्नाङ्कित ध्वजा[३]—गज चिह्नवाली ध्वजाओपर जिन हाथियोका अङ्कन रहता था, वे अपनी ऊँची उठी हुई सूड़ोसे पताकाएँ धारण करते थे और ऐसे शोभित होते थे, मानो जिनके शिखरके अग्रभागसे वड़े-वड़े झरने निकल रहे हों, ऐसे पर्वत ही हो । इस श्रेणीकी ध्वजाओमें पर्वताकृति विशाल गजोंका अङ्कन किया जाता था ।

---

१. आदिपुराण २२।२२९–२३० । २. वही, २२।२३१–२३२ । ३. वही, २२।२३३ । ४. वही, २२।२३४ ।

१० चक्रचिह्नाङ्कित ध्वजा[1]—चक्रचिह्नवाली ध्वजाओंमे जो चक्र बने हुए रहते थे, उनमे सहस्र आरे अङ्कित रहते थे तथा उनकी किरणें ऊपरकी ओर उठी हुई रहती थीं। उन चक्रोंसे ध्वजाएँ ऐसी शोभित होती थी, मानो सूर्यके साथ स्पर्द्धा करनेके लिए ही प्रस्तुत हों। चक्रचिन्हाङ्कित ध्वजाएँ आजकलकी अशोकचक्राङ्कित ध्वजाओके साथ समताकर अध्ययन की जा सकती है। वास्तवमे चक्र भारतीय संस्कृतिमे अहिंसा और ज्ञानका प्रतीक है। धर्मचक्रका प्रवर्तन भी इस वातका प्रमाण है कि चक्र शान्ति, वल, पौरुष और उपदेशामृतका प्रतिनिधित्व करता है। चक्रवर्त्तीका चक्र पौरुषकी स्थापना करता है तो तीर्थङ्करका चक्र धर्मतीर्थकी प्रतिष्ठा। अत. चक्रका अङ्कन प्राचीन ध्वजाओमे पाया जाता है।

ध्वजाएँ वास्तुकलाके साथ चित्रकला की झाकी भी प्रस्तुत करती है। गुप्तकालीन गरुडध्वजा आदिपुराणकी गरुड चिन्हाङ्कित ध्वजा ही है। उसी प्रकार गुप्तकालमे गज, वृषभ, हंस, मयूर आदि चिह्नोंसे अङ्कित ध्वजाएँ भी प्रचलित थी।

कूटागार[2]

आदिपुराणके भारतमे कई प्रकारके भवनोका निर्देश उपलब्ध होता है। कूटागार भी एक प्रकारके भवन है। इन भवनोंमें अनेक शिखर वने रहते थे। इन शिखरोका सौन्दर्य कलाकी दृष्टिसे अपूर्व होता था। कूटागारोमे सामन्त एवं राजन्यवर्गके व्यक्ति निवास करते थे। कूटागार एक ही शालान्तभवन है अर्थात् इसमें कोई मञ्जिल नही वनायी जाती थी। अनेक शिखरोके कारण ही यह उपादेय माना जाता था।

हर्म्य[3]

आदिपुराणमे कई प्रकारके प्रासाद वर्णित है। समराङ्गणसूत्रधारमे भी मंजिलकी दृष्टिसे अनेक प्रकारके भवनोका वर्णन आया है। मत्स्यपुराणमे सोलह भुजावाले दुमजिले अनेक भवनोंका निर्देश मिलता है।

हर्म्यको सात मंजिलका भवन कहा है। हर्म्यकी छत वहुत ऊँची होती थी। महाकवि कालिदासने अपने मेघदूत काव्यमें हर्म्यका निर्देश किया है। हर्म्य ऊँची अट्टालिकावाले ऐसे भवन थे, जिनमें कपोत भी निवास करते थे। अमरकोषमे[4] धनिकोके भवनोको हर्म्य कहा गया है। वस्तुतः हर्म्यका वर्णन आदिपुराणमे विशाल और समृद्ध भवनके लिए आया है।

---

१. आदिपुराण २२।२३५। २. वही, २२।२६०। ३. वही, १२।१८४। ४. हर्म्यादि धनिना वासः—अमरकोष २।२।६।

सौध[1]

सौध भी सामन्त और श्रेष्ठियोंके भवनको कहा गया है। यह पलस्तर किया हुआ, चूनेकी सफेदीवाला विशाल मकान होता था।[2] सौध शब्द ही इस बातका द्योतक है कि इस श्रेणीके भवन ईंटोसे बनाये जाते थे और चूनेका पलस्तर लगा रहता था। इसकी सफेदी ही इन्हें सौध शब्दके द्वारा अभिहित कराती है। हमारा अनुमान है कि सौध संगमरमरके बनाये जाते थे। ऊपरकी छत ढालू होती थी और ढालको वलभी कहा जाता था।

भवन[3]

आयताकार आंगनसे युक्त गृह भवन है। इसके भीतरी कमरोंमें शयनागार, अग्न्यागार, गर्भवेश्य, क्रीडावेश्म, सारभाण्डकगृह आदि भी रहते थे। प्राय: श्रेष्ठिजनोके आवासकी सञ्ज्ञा भवन है। आदिपुराणमें भवनोंका उल्लेख कई सन्दर्भोमे आया है। भवनोका प्राङ्गण भाग उत्तमकोटिके पाषाणोसे खचितकर बनाया जाता था। आरामकी दृष्टिसे भवन सबसे अधिक ग्राह्य है। वातायन और गवाक्ष भी भवनोमे रहते थे।

गृह[4]

गृहका अपर नाम गेह भी आया है। गृह राजन्य वर्गसे लेकर मध्यमवर्ग तकके व्यक्तियोके होते थे। गृहकी एक प्रमुख विशेषता यह थी कि उसके वातायन सडकके दोनो ओर खुले रहते थे। छत पर आलिन्द—झरोखे भी होते थे। गृहका अग्रभाग मुख कहलाता था, जिसको दूसरे शब्दोमें द्वार भी कहते है। द्वारके ऊपर तोरण होता था, जो मत्स्य या मकरकी आकृतिका होता था। मथुराकी कलामे मकराकृति तोरण अनेक उपलब्ध है। तोरण भवनका सबसे पहला फाटक होता था। यह कभी कभी अस्थायी भी होता था। यही पर अतिथियोकी आगवनी की जाती थी। आदिपुराणकी वास्तुकलामे तोरणोका निर्देश सर्वत्र आया है, जो पारस्परिक दबावके कारण एक दूसरेसे सटे रहते[5] है। तोरणो पर देव, मुनि, पशु, पक्षी, पुष्पलता एवं पल्लवोंकी आकृतियाँ अङ्कित रहती थी। इन्द्रधनुषकी आकृतिके भी तोरण बनाये जाते थे।

वेश्म[6]

भवनोका एक प्रकार वेश्म है। साधारणत: साफ, स्वच्छ और भव्य भवनको

---

१. आदिपुराण ४७।३२,३३,२६।२१, १०।१०२। २. A Dictionary of Hindu Architecture, Page 642. ३. आदिपुराण—४७।२९७। ४. आदिपुराण ४६।२४५, ३३७। ५. A Dictionary of Hindu Architecture Page 247। ६. आदिपुराण ७।२०९।

वेश्म कहा जाता है। वेश्ममे उपयोगकी सभी वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं। वेश्म ग्रीष्म ऋतुमें अधिक सुखप्रद होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शीतल बनाया जाता था। वायु प्रवेशके लिए दोनों ओर गवाक्ष रहते थे और छत पर्याप्त ऊँची होती थी। वेश्म दुमजिले और तिमजिले भी होते थे।

आगार[1]

आगार भी घरका एक प्रकारका है। आगार ऐसे भवनको कहा जाता था जिसमें आंगन और छोटेसे उपवनका रहना आवश्यक था। आगारका वर्णन जैसा उपलब्ध होता है, उसके आधारपर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह प्राकार मण्डित होता था। आगारको सामान्य व्यक्ति भी पसन्द करते थे। यह ईटों और मिट्टी दोनोंसे बनाया जाता था। इष्टिकाद्वारा निर्मित आगार पक्के होते थे और मृत्तिकासे बनाये गये आगार कच्चे होते थे। आगारमे वातायन और गवाक्ष भी रहते थे। पुष्प, लताएँ भी आगारके सामने वाले आंगनमें शोभित रहती थी। आगारका द्वार वृहदाकारमे रहता था और उसमे मजबूत किवाड लगाये जाते थे। आगारोंका ही एक प्रकार अट्टालिका और तल्प है। अट्टालिका वस्तुतः लगाये प्रकोष्ठवाले भवनको कहा जाता है। तल्प केवल शिखर प्रदेशमें स्थित कमरेको कहा गया है।

सर्वतोभद्र[2]

चक्रवर्तीका एक सर्वतोभेद्र भवन था। इस भवनके नामकरणका कारण सर्वतोभद्र नामक गोपुर है। भवनके चारों ओरसे क्षितिसार नामका कोट वेष्टित किये हुए था और इसमें देदीप्यमान रत्नोसे मण्डित तोरण थे।

वैजयन्तभवन[3]

समस्त ऋतुओमें सुखदायक भवनको वैजयन्त भवन कहा गया है। यह भवन चारो ओरसे खुला रहनेपर भी भीतरसे आच्छादित रहता था। इसका बरामदा बिल्कुल खुला हुआ रहता था तथा वातायनद्वार भी खुले रहते थे। इस भवनके छज्जे इस प्रकारके बनाये जाते थे, जिससे शरद ऋतुमें धूप आती रहती थी, और ग्रीष्म ऋतुमे पूर्णतया हवाके आनेके कारण ठण्डा रहता था। वर्षाकी फुहारें अपना अद्भुत दृश्य उपस्थित करती थी। एक प्रकारसे यह शीतातपनियन्त्रक भवन है।

गिरिकूटक[4]

गिरिकूटक भवनके शिखर उन्नत रहते थे, जिससे यह ग्रीष्म ऋतुमे गरम

---

१. आदिपुराण ४७।८१। २. वही, ३७।१४६। ३. वही, ३७।१४७। ३. वही, ३७।१४९।

नही होता था और न सर्द ऋतुमे ठण्डा ही। यह अपनी ऊँचाईके कारण आकाशका स्पर्श करता था। इसी कारण इसे गिरिकूटक कहा गया है, इस भवनकी दीवाले स्फटिक मणिकी निर्मित रहती थी, जिससे नरनारियोंके प्रतिविम्ब स्पष्ट-तथा परिलक्षित होते थे।

गृहकूटक[1]

गृहकूटक भवनकी प्रमुख विशेषता धारागृहोंकी है। चक्रवर्ती ग्रीष्मजन्य कष्टको दूर करनेके लिए अपने भवनके भीतर धारागृहोंका निर्माण कराता था, जिससे सर्वदा वर्षा ऋतुका निवास रहता था। गृहकूटक अट्टालिकाएँ भी गगनचुम्बिनी होती थी। इसीकारण ग्रीष्मऋतुमे यह धूपसे गर्म भी नही होता था। आदि-पुराणमे इसकी विशेषता 'धारागृहसमाह्वयः'के रूपमे बतलायी गयी है।

पुष्करावर्त[2]

पुष्करावर्त उस भवनको कहा गया है, जो ईंटो द्वारा निर्मित होता था। और जिसपर चूनेका पलस्तर लगाया जाता था। साथ ही चूनेसे इसकी पुताई भी की जाती थी। उन्नत, भव्य और विशाल होनेके कारण इसे पुष्करावर्तकी संज्ञा दी गयी है।

कुवेरकान्त भाण्डारगृह[3]

यह भाण्डार गृह पाषाण और पाषाणचूर्णो द्वारा निर्मित होता था। इसकी दीवालें चौड़ी और मजबूत होती थी। कभी खाली न रहनेके कारण इसकी कुवेर-कान्त संज्ञा थी।

जीमूतस्नानागार[4]

यह चक्रवर्तीका स्नानागर है। अनुमानतः सौ फुट लम्बा और अस्सी फुट चौडा होता था। मध्यमे धारागृह एवं वापिका अंकित रहती थी।

चक्रवर्तीके अन्य वास्तुकला सम्बन्धी उपकरणोमें सिंहवाहिनी शय्या[5], वसु-धारक कोष्ठागार[6], अनुत्तर सिंहासन[7], देवरम्या चादनी[8] आदि भी उल्लि-खित है।

सभावनि[9]

सभावनि वह सभाभूमि है, जहाँ बैठकर राजा राज्यकार्य करता था। आदिपुराणमें इसका दूसरा नाम सभामण्डप भी आया है। इसीको अस्थानमण्डप

---

१. आदि० ३७।१५०। २. वही, ३७।१५१। ३. वही, ३७।१५१। ४. वही, ३७।१५२। ५ वही, ३६।१५४। ६. वही, ३६।१५२। ७. वही, ३७।१५४। ८. वही, ३७।१५३। ९. वही- ३६।२००।

भी कहा जाता है। सभावनि राजाके निवासस्थानसे पृथक रहती थी। प्रातः-कालीन दैनिक कृत्योसे निवृत्त होकर राजा सभामण्डपमें पहुँचता था और वहाँ बैठकर सभासदस्योके साथ प्रशासन सम्बन्धी कार्योका सञ्चालन करता था। सभामण्डपको सुगन्धित धूपके धुएँसे सुसंस्कृत किया जाता था। उसपर अनेक प्रकारकी पताकाएँ फहराती थी, फलफूल और पल्लवोंकी वन्दनवारे लगी रहती थी। स्फटिकके कुट्टिम तलपर गाढ़ी केशरका छिड़काव किया जाता था। कर्पूर-धूलिसे उसे सुगन्धित किया जाता था। पद्म, वकुल, मल्लिका, तिलक, मालती एवं अशोक आदिकी अवखिली कलियों द्वारा उसे सजाया जाता था उदीर्ण मणिस्तम्भिका पर सिंहासन सजाया जाता था और उसीपर बैठकर राजा राज्यकार्यका सञ्चालन करता था। इस प्रकार सभामण्डप बहुत ही प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण स्थान था।

आस्थायिका[1]

आस्थायिका राजसभाको कहा गया है। यह भी राजभवनका एक भाग है। आस्थायिकामें राजा रानियों सहित बैठकर संगीत, नृत्य एवं अभिनयका आस्वादन करता था। सामन्त और श्रेष्ठ-वर्गके व्यक्ति भी दर्शकके रूपमें उपलब्ध रहते थे। आदिपुराणमे विद्युच्चरचोरके आख्यानमे बताया गया है कि नाट्यमालिका नामकी नाटकाचार्यकी पुत्रीने राजाकी सभामे रति आदि स्थायी भावो द्वारा शृङ्गारादि रस प्रकट करते हुए नृत्य किया था। इस नृत्यको देखकर राजा आश्चर्यचकित हो गया था। स्पष्ट है कि आस्थायिका राजभवनका एक विशिष्ट कक्ष है, जिसमें नृत्य, गोष्ठी एवं नाटक आदिकी योजना की जाती थी।

दीर्घिका[2]

दीर्घिकाका उल्लेख जलक्रीडाके प्रसंगमे आया है। दीर्घिका प्राचीन प्रासादशिल्पका एक पारिभाषिक शब्द है। यह एक प्रकारकी लम्बी नहर होती थी, जो राजप्रासादोंमें एक ओरसे दूसरी ओर प्रवाहित होती हुई प्रमदवन या गृहोद्यानको सीचती थी। बीच-बीचमे जलके प्रवाहको रोककर पुष्करिणी, गन्धोदक-कूप, क्रीडावापी इत्यादि निर्मित किये जाते थे। मध्यमे किसी स्थानपर जलके प्रवाहको भूतलके भीतरसे निकालकर ऊपर अदृश्य रूपमे अंकित किया जाता था। यह प्रवाह आगे विविध प्रकारके पशुपक्षियोके मुँहसे झरता हुआ दिखलाया जाता था। लम्बी होनेके कारण इसका नाम दीर्घिका था। आदिपुराणमें वज्र-जंघके राजमहलमे दीर्घिकाका उल्लेख आया है। दीर्घिकाका तलभाग मरकत आदि

---

१. आदि० ४६।२९९। २. वही, ८।२२।

मणियोंसे निर्मित था और भित्ति स्फटिकमणिके द्वारा निर्मित की गयी थी। वज्रजंघ श्रीमतीके साथ इस दीर्घिकामें नानाप्रकारसे क्रीडा करता था। कमलके परागरजके समूहसे दीर्घिकाका जल पीतवर्णका हो गया था। इसमें सन्देह नही कि आदिपुराणमें दीर्घिकाका वर्णन सामान्य रूपमें ही आया है।

धारागृह[1]

धारागृह प्राचीन भारतका ऐसा जलाशय है, जिसमें कई स्थानोंपर फव्वारेके रूपमें जलकी धाराएँ निकलती थी। यह आयताकार बनाया जाता था और कई स्थानोंपर धारायन्त्र लगे रहते थे। गिरनेवाली जलकी धारा कही गजमुखसे गिरती थी, कही हंसमुखसे गिरती थी और कही व्यालमुखसे। भोजने 'समराङ्गणसूत्रधार' में पांच प्रकारके धारागृहोंका निर्देश किया है, जिनमें प्रवर्षण नामका एक स्वतन्त्र गृह था। इस गृहमें आठ प्रकारके मेघोंकी रचना की जाती थी तथा इन मेघोंमें से सहस्रधाराओंके रूपमें जल बरसता हुआ दिखलाई पड़ता[2] था। जिनसेनने भी आदिपुराणमें धारागृह द्वारा वर्षाऋतुके दृश्यको प्रस्तुत किया है। इसमें सन्देह नही कि धारागृहमें अनेक प्रकारके धारायन्त्र लगे रहते थे। धारागृहका वर्णन बाणभट्टकी कादम्बरीमें भी आता है। सोमदेवने अपने यशस्तिलचम्पूमें भी धारागृहका निर्देश किया है। प्राचीन समयमें सम्राटोंकी जलक्रीडाके हेतु दीर्घिका, वापिका एवं धारागृह आदिका निर्माण किया जाता था। वास्तुकलाकी दृष्टिसे दीर्घिकाओं और धारागृहोंका अत्यधिक महत्त्व है। महाकवि कालिदासने अपने रघुवंश काव्यमें दीर्घिका एवं धारागृहोंका अच्छा वर्णन किया है।

प्रमदवन[3]

प्रमदवनका वर्णन आदिपुराणमें आया है। प्रमदवन राजप्रासादका महत्त्वपूर्ण अंग होता था। यह प्रासादसे सटा हुआ होता था। इसमें क्रीड़ा-विनोदके पर्याप्त साधन एकत्र रहते थे। अवकाशके समयमें राजा अपने परिवारके साथ मनो-विनोद करता था। उद्यानतोरणक्रीडाकुत्कील, खात्वलय, जलकेलिवापिका, कुल्योपकण्ठ, मकरध्वजाराधनवेदिका, वनदेवताभवन, कदलीकानन, छायामण्डप, धारागृह, लताकुञ्ज आदि प्रमदवनके महत्त्वपूर्ण अंग होते थे। भासने अपने नाटकोंमें प्रमदवनका चित्रण किया है। वासवदत्ता पद्मावतीके साथ प्रमदवनमें कन्दुक क्रीड़ा करती थी। महाकवि कालिदासके रघुवंश महाकाव्यमें[1]

---

१. आदिपुराण ८।२८। २. धारागृहमेकं स्यात्प्रवर्षणाख्य ततो द्वितीयं च। प्राणालं जलमग्नं नद्यावर्तं तथान्यदपि ॥ जलदकुलाष्टकयुक्तं पूर्ववदन्यद्गृहं समारचयेत। वर्षद्धारानिकरैः प्रवर्षणाख्यं तदाप्नोति ॥ —समरागणसूत्रधार ३१।११७, १४२। ३. आदिपुराण, ४७।९।

प्रमदवनका[१] निर्देश आया है। यहाँ राजा अपने सम्वन्धियोके साथ क्रीडा करता था। कलाकी दृष्टिसे प्रमदवनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आदिपुराणमे वास्तुकलाके अनेक अंग वर्णित है। क्रीडाशैल[२] भी प्रमद-वनोंमे स्थित रहते थे। लतागृह[३], गुफाएँ[४], दुर्ग[५],गोष्ठ[६], दोलागृह[७] चामी-करयन्त्र[८], इक्षुयन्त्र[९] आदि भी उल्लिखित है। भवनकी देहलीके लिए कुतप[१०], फर्शके लिए कुट्टिम भूतल[११] और नाना प्रकारकी कुटियोके लिए कायमान[१२] शब्द का प्रयोग हुआ है। वज्रकपाट[१३], एवं साधारणकपाटका भी निर्देश आता है। किवाड़ोंकी जोड़ीको अररीपुट[१४] कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार के गृहों, परिखा, प्राकार, वप्र, चैत्यालय, दुर्ग आदिका वर्णन वास्तुकलाकी दृष्टिसे आदिपुराणमे महत्त्वपूर्ण है।

आदिपुराणमे वास्तुविद्या-विशारदोका भी निर्देश पाया जाता है। ज्ञात होता है कि आदिपुराणके भारतमे वास्तुविद्याविद् नगर, भवन, वापी, कूप, तडागके अतिरिक्त शिविका आदिका भी निर्माण करते थे। आदिपुराणमे इञ्जीनियरके लिए स्थपति[१६] शब्दका प्रयोग हुआ है। स्थपति भवन, दुर्ग, निकेतन, सौध, हर्म्य आदिका निर्माण कलापूर्ण ढंगसे कराता था। स्थपतिका वही स्थान था जो आज कल सिविल इञ्जीनियर (Civil Enginer) का है।

आदिपुराणके भारतमे धातुओको गलाकर डालनेका भी कार्य किया जाता था। जिस साँचेसे ढलाईका कार्य होता था, उस साँचेको मूषा[१७] कहा गया है। उस युगमे लोहा, ताँवा, पीतल आदि विभिन्न प्रकारकी धातुओसे मूर्तियोका भी निर्माण होता था। लौहनिर्मित मूर्तिका अयस्कान्तपुत्रिकाके[१८] नामसे उल्लेख आया है।

चित्रकला

चित्रकलाका आधार कपड़ा, कागज, काष्ठ आदि कोई भी वस्तु हो सकती है, जिसपर कलाकार अपनी तूलिका अथवा लेखनीसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी वस्तुओं एवं जीवधारियोंकी आकृति अंकित करता है। चित्रकार अपनी चित्रकलाके द्वारा मानसिक सृष्टिका सृजन करता है। किसी घटना दृश्य अथवा व्यक्तिको चित्रित

---

१. रघुवंश ६।३५। २. आदिपुराण १६।९५-१०१। ३. वही, १६।११८। ४. वही, १६।११६, ४७।१०३, १६१। ५. वही, २६।४३। ६.। वही, २८।३६ ७.। वही, ७।१२५। ८. वही, ८।२३। ९. वही, १०।४४। १०. वही, २९।५७। ११. वही, २६।६। १२. वही, २७।१३२। १३. वही, ४।६६। १४. वही, ३१।१२४। १५ वही, १७।८१। १६. वही, ३२।२४। १७. वही, १०।४३। १८. वही, १०।१९३।

करनेके लिए उसके वाह्य अंगोंके साथ सजीवता लाना भी उसके लिए वाञ्छनीय है।

काव्यकलाकी तरह चित्रकला भी आन्तरिक भावोंकी अभिव्यक्तिका प्रमुख साधन है। इसमे सन्देह नही कि चित्रो द्वारा मानव मनमे आनन्दकी अनुभूति अनेक प्रकारसे होती है।

आदिपुराणमे चित्रकलाके प्रसंगमे जितने सन्दर्भ उपलब्ध होते है, वे सभी महत्त्वपूर्ण है। आदिपुराणके भारतमें चित्रगोष्ठियाँ[1] भी हुआ करती थी और इन गोष्ठियोमे अनेक चित्रकार सम्मिलित होकर अपनी कलाका प्रदर्शन करते थे। आदितीर्थंकर ऋषभदेवने अपने पुत्र अनन्तविजयको चित्रकला सम्वन्धी उपदेश दिया था और इस कलाके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोका प्रतिपादन किया था। वताया गया है—

> अनन्तविजयायाख्यद् विद्यां चित्रकलाश्रिताम्।
> नानाध्यायशताकीर्णां साकला: सकला: कला:[2] ॥

चित्रनिर्माणके उपकरण

चित्रनिर्माणके उपकरणोका संकेत भी आदिपुराणसे प्राप्त होता है। चित्रनिर्माणके उपकरणोमे तूलिका, पट्ट और रंग ये तीन[3] ही वस्तुएँ प्रधान है। उत्तम कोटिका चित्रकार चित्रकी लम्वाई एवं ऊँचाईके प्रमाणका यथार्थ ज्ञान रखता[4] है। वह रंगोके सम्मिश्रणमे भी पूर्ण पटु होता है। काष्ठफलक अथवा अन्य कोई भी आधारभूत वस्तु उस प्रकारकी चिक्कण और समतल रहती है, जिसपर चित्रका अंकन सुन्दररूपमे किया जा[5] सके। चित्रकार अपनी तूलिका या लेखनीसे रेखांकनके पश्चात् ही रंग भरता है और नवरस सम्वन्धी भावोको मूर्तिमान् रूप प्रदान करता[6] है। आधारकी दृष्टिसे भित्ति, काष्ठ, कर्गल, पट एवं वृक्षोके पल्लव या वल्कल प्रधान उपकरण है। भित्ति-चित्रोके निर्माणके समय कलाकार सर्वप्रथम भित्तिको स्निग्ध और समतल वनानेका प्रयास करता है। पश्चात् अपनी तूलिकाका व्यवहारकर मनोगत भावोको मूर्त्तिमान् रूप प्रदान करता है।

आदिपुराणके भारतमे रंगोंका पूर्ण ज्ञान था। किस प्रकारके धरातल पर कौनसा रंग उपयुक्त हो सकता है, इसकी जानकारी चित्रकारको थी। आदिपुराणके एक सन्दर्भ[7]मे वताया गया है कि चित्रमे रेखाओ, रंगो और अनुकूल

---

१. आदिपुराण १४।१९२। २. वही, १६।१२१। ३. वही, ७।५५। ४. वही, ७।११६। ५. वही, ७।११८। ६. वही ७।१२०। ७. वही, ७।१५४-१५५।

भावोका क्रम अत्यन्त स्पष्ट दिखलाई पड़ना चाहिये। कौनसा रंग कहाँ पर उपयुक्त हो सकता है और उसके प्रयोगसे चित्रमे कितनी सजीवता आ सकती है, इसकी जानकारी भी आदिपुराणके चित्रकारको है। अतएव स्पष्ट है कि आदिपुराणमे चित्रनिर्माणके उपकरणोंका संकेत वर्तमान है। चित्रकारमे उत्तम चित्रनिर्माणके लिए प्रतिभाके साथ नवीन भावाभिव्यञ्जनकी क्षमता भी होनी चाहिये। इस क्षमताके अभावमे चित्रनिर्माण कार्यमें सफलता प्राप्त नही हो सकती।

भित्तिचित्र[1]

कलाकी दृष्टिसे भित्तिचित्रोकी अपनी विशेपताएँ होती है। भित्तिचित्र वनानेके पूर्व दीवालको चिकना करनेके लिए उपलेप (Plaster) लगाया जाता है। उपलेप वनानेकी विधिका वर्णन 'अभिलापितार्थ चिन्तामणि' तथा 'मानसोल्लास'मे आया है। वरती रंगोंको ग्रहण कर सके, इसके लिए 'सरेस' दिया जाता था, जिसे वज्रलेप कहते है। उपलेप लगानेके अनन्तर सूक्ष्मरेखाविशारद चित्रकार अनेक भाव और रसवाले चित्रोका निर्माण करता था। आलेखनके पूर्व रेखाकन और तत्पश्चात् रंग भरनेकी क्रिया का सम्पादन किया जाता था। सर्वप्रथम आकार अंकित करता था, फिर गेरूसे आकृतिका निर्माण करता था, तत्पश्चात् समुचित रूपमें रंग भरनेकी क्रिया की जाती थी। ऊँचाई दिखलानेके लिए उजाला और निचाई दिखलानेके लिए छाया देता था। आदिपुराणमें वताया गया है कि दोवालों पर विभिन्न व्यक्तियो और पशु-पक्षियोको आकृतियाँ अंकित की जाती थी। इन आकृतियोके अंकनमें मिश्रित रंगका प्रयोग होता था, जिसे जिनसेनने श्लेष द्वारा वर्णसाङ्कर्य कहा है।

भित्तिचित्रोमे ऐसे प्रतीक चित्र भी है, जिनमें अष्टमगलद्रव्य, षोडशस्वप्न आदिका अंकन किया गया है।

चित्रशाला[2]

आदिपुराणमें चित्रशालाका वर्णन आया है। चित्रशाला प्राय. प्रत्येक जिनालयका अङ्गभूत होती थी। पण्डिता धात्री श्रीमती द्वारा निर्मित पूर्वजन्मके पति ललितागका चित्र लेकर जिनालयमें पहुँची और वहाँकी चित्रशालामे अपने चित्रपटको फैला दिया। इस महापूत जिनालयके एक भागमे चित्रशाला अवस्थित थी, जिसमे नाना प्रकारके चित्र टंगे हुए थे। जिस प्रकार जिनालयमे

---

१. आदिपुराण ६।१८१। तथा 'कुन्देन्दीवरमन्दारसान्द्रामोदाश्रितालिनि। चित्रभित्तिगतानेकरूपकर्ममनोहरे ॥" वही, ९।२३। २. वही, ७।११७ तथा आगेके पद्य।

एकभाग ग्रन्थालयका रहता था, उसी प्रकार चित्रशालाका भी वहाँ एक भाग पाया जाता था।

आदिपुराणके अध्ययनसे चित्रशालाकी निम्नलिखित विशेषताएँ अवगत होती हैं—

१. चित्रशाला बहुत ही मनोज्ञ, स्वच्छ और सुन्दर होती थी।

२. चित्रशालाकी भित्तियाँ भी चित्रित रहती थी।

३. चित्रशालामें धर्मनायकों, पुराणपुरुषों, ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं शलाका-पुरुषोंके चित्र टंगे रहते थे।

४. चित्रशालामे दर्शकोंको आने-जानेकी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती थी।

५. चित्रशालामे पूर्वजन्मके प्रेमी-प्रेमिकाओंका पता लगानेके लिए कतिपय जीवन-सम्बन्धी गूढ घटनाएँ भी टङ्कित रहती थीं।

६. चित्रशालामे विनोदार्थ चित्रोंका अङ्कन भी होता था।

७. प्रतीकचित्रों और व्यक्तिचित्रोंका भी आलेखन किया जाता था।

८. चित्रशाला चित्रकारोंके मिलनका एक केन्द्रस्थान था, जहाँ चित्रप्रेमी मिलकर चित्रकला सम्बन्धी चर्चा-वार्ताएँ करते थे।

९. चित्रशालामे चित्रपट, काष्ठचित्र, पाषाणचित्र आदि रसमय चित्रोंके साथ धूलिचित्र भी उपलब्ध होते थे।

चित्रपट[1]

चित्रपट बनानेकी प्रथा आदिपुराणके भारतमे उपलब्ध होती है। चित्रपटोंमें वैयक्तिक जीवनकी गूढ एवं रहस्यपूर्ण घटनाएँ भी अंकित की जाती थीं। स्मृतिके आधार पर निर्मित चित्रपटोंमें गूढ अर्थ भी अंकित रहते थे। इन गूढ बातोंकी जानकारी चित्रपटोंको देखनेसे उन्हीं व्यक्तियोंको हो सकती थी, जिन व्यक्तियोंका सम्बन्ध उन घटनाओंके साथ रहता था। श्रीमती[2] द्वारा जिस चित्रपटका निर्माण हुआ था उसमे उसने ललिताङ्गदेवके जीवनका पूर्ण अङ्कन किया था। स्वयंप्रभाके जीवनकी अनेक रहस्यपूर्ण घटनाएँ अंकित की गयी थी। सर्वप्रथम उसमे श्रीप्रभ विमान चित्रित किया गया था। इस विमानके अधिपति ललितांगदेवके समीप स्वयंप्रभा बैठी हुई दिखलायी गयी थी। कल्पवृक्षोंकी पंक्तियाँ, विकसित कमल-पूर्ण सरोवर, मनोहर दोलागृह एवं अत्यन्त सुन्दर कृत्रिम पर्वत चित्रित किये गये[3] थे। एक ओर प्रणयकोप कर पराङ्मुख बैठी हुई स्वयंप्रभा दिखलायी गयी थी, जो कल्पवृक्षोंके समीप वायुसे आहत लताके समान शोभित होती[4] थी।

---

१. आदि० ७।११८-१२०। २. वही, ७।१२१-१३०। ३. वही, ७।१२५। ४. वही, ७।१२६।

सरोवरके तटभाग पर मणियाँ फैली हुई थी तथा प्रभारूपी परदासे तिरोहित मेरु पर्वतके तटपर मनोहर क्रीडाएँ करते हुए दम्पति चित्रित किये गये[1] थे। चित्रपटमें अन्तःकरणमें छिपे हुए प्रेमको भी चित्रित किया गया था। ईर्ष्या-का अभिनय करती हुई स्वयंप्रभाने हठपूर्वक ललितागदेवकी गोदसे हटाकर अपने पैरको शय्यापर रख[2] दिया था। एक ओर स्वयंप्रभा मणिमय नूपुरोकी झंकारसे मनोहर अपने चरणकमलो द्वारा ललितांगका ताड़न करना चाहती थी, पर गौरव के कारण सखीतुल्य करवनीने उसे इस क्रियाको करनेके लिए रोका[3] था। इधर ललिगांगदेवको भी वनावटी क्रोध किये हुए दिखाया गया था और उसे प्रसन्न करनेके लिए स्वयप्रभाको उसके चरणोमे नतमस्तक किये हुए प्रदर्शित किया था[4]। इतना ही नही, इस चित्रपटमे अच्युत स्वर्गके इन्द्रके साथ हुई भेंट तथा पिहि-तास्रव गुरुकी पूजाका भी विस्तार दिखलाया गया[5] था।

इस चित्रमे कुछ वाते छूटी हुई भी थी, जिनका चित्रण वज्रजंघने करके चित्रपटको पूर्ण किया था। छूटी हुई घटनाओमे एक घटना यह थी कि प्रणय-कुपिता स्वयंप्रभाको प्रसन्न करनेके लिए ललिताग उसके चरणोमे पड़ा हुआ था और स्वयंप्रभा अपने कर्णफूलसे उसका ताड़न कर रही थी। स्वयंप्रभाके पैरोमे महावर लगा हुआ था, जिससे उसके अंगूठेकी छाप ललितांगके वक्षस्थल पर अङ्कित हो गयी[6] थी।

पत्र-रचना[7]

प्राचीन समयमे रस चित्रोके समान ही पत्र-रचनाएँ कपोलफलकोंपर अंकित की जाती थी। स्वयंप्रभाके प्रियंगु फलके समान कान्तिमान् कपोलफलकपर कितनी ही वार पत्ररचना की गयो थी। पत्ररचना रंगोंकी अपेक्षा कुंकुम, केशर, चन्दनद्रव आदि सुगन्वित पदार्थोसे की जाती थी। कपोलोंपर विभिन्न प्रकारके विलासितापूर्ण चित्र अंकित किये जाते थे, जिन चित्रोके अवलोकनसे वासना उद्वुद्ध होती थी। पत्ररचनाके निम्नलिखित उद्देश्य थे—

१. शरीरको सुन्दर और सज्जित दिखलानेके लिए कपोलफलकोपर पत्र-रचना की जाती थी।

२. शृङ्गारिक क्रीडाओंको सम्पादित करनेके लिए पत्ररचना की जाती थी।

३. हस्तनैपुण्य प्रदर्शित करनेके लिये कपोलफलकपर पत्रालेखन होता था।

४ मनोविनदार्थ पत्रालेखन क्रिया सम्पन्न होती थी।

---

१. आदिपुराण ७।१२७। २. वही, ७।१२८। ३. वही ७।१२९। ४. वही, ७।१३०। ५, वही ७।१३१। ६. वही, ७।१३१-१३३। ७. वही, ७।१३४।

एकभाग ग्रन्थालयका रहता था, उसी प्रकार चित्रशालाका भी वहाँ एक भाग पाया जाता था।

आदिपुराणके अध्ययनसे चित्रशालाकी निम्नलिखित विशेपताएँ अवगत होती हैं—

१. चिशगाला वहुत ही मनोज्ञ, स्वच्छ और सुन्दर होती थी।

२. चित्रगालाकी भित्तियाँ भी चित्रित रहती थी।

३. चित्रशालामे धर्मनायकों, पुराणपुरुपो, ऐतिहासिक व्यक्तियो एवं शलाका-पुरुपोंके चित्र टंगे रहते थे।

४. चित्रशालामे दर्शकोंको आने-जानेकी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती थी।

५ चित्रगालामे पूर्वजन्मके प्रेमी-प्रेमिकाओका पता लगानेके लिए कतिपय जीवन-सम्वन्धी गूढ घटनाएँ भी टङ्कित रहती थी।

६. चित्रगालामे विनोदार्थं चित्रोका अङ्कन भी होता था।

७. प्रतीकचित्रो और व्यक्तिचित्रोका भी आलेखन किया जाता था।

८ चित्रगाला चित्रकारोके मिलनका एक केन्द्रस्थान था, जहाँ चित्रप्रेमी मिलकर चित्रकला सम्वन्धी चर्चा-वार्ताएँ करते थे।

९. चित्रशालामे चित्रपट, काष्ठचित्र, पापाणचित्र आदि रसमय चित्रोके साथ धूलिचित्र भी उपलव्ध होते थे।

चित्रपट[1]

चित्रपट वनानेकी प्रथा आदिपुराणके भारतमे उपलव्ध होती है। चित्रपटोमें वैयक्तिक जीवनकी गूढ एवं रहस्यपूर्ण घटनाएँ भी अंकित की जाती थी। स्मृतिके आधार पर निर्मित चित्रपटोमे गूढ अर्थ भी अंकित रहते थे। इन गूढ वातोकी जानकारी चित्रपटोको देखनेसे उन्ही व्यक्तियोंको हो सकती थी, जिन व्यक्तियोका सम्वन्ध उन घटनाओके साथ रहता था। श्रीमती[2] द्वारा जिस चित्रपटका निर्माण हुआ था उसमे उसने ललिताङ्गदेवके जीवनका पूर्ण अङ्कन किया था। स्वयंप्रभा के जोवनकी अनेक रहस्यपूर्ण घटनाएँ अंकित की गयी थी। सर्वप्रथम उसमे श्रीप्रभ विमान चित्रित किया गया था। इस विमानके अधिपति ललितांगदेवके समीप स्वयंप्रभा वैठी हुई दिखलायी गयी थी। कल्पवृक्षोंकी पंक्तियाँ, विकसित कमल-पूर्ण सरोवर, मनोहर दोलागृह एवं अत्यन्त सुन्दर कृत्रिम पर्वत चित्रित किये गये[3] थे। एक ओर प्रणयकोप कर पराङ्मुख वैठी हुई स्वयंप्रभा दिखलायी गयी थी, जो कल्पवृक्षोंके समीप वायुसे आहत लताके समान शोभित होती[4] थी।

---

१. आदि० ७।११८-१२०। २. वही, ७।१२१-१३०। ३. वही, ७।१२५। ४. वही, ७।१२६।

पर भी वीणा वादनका प्रयोग होता था। सुषिर वाद्यके अन्तर्गत वंशी, तूणव आदि ग्रहण किये गये हैं। घनवाद्यमें करताल, मजीराकी गणना की गयी है।

सप्तस्वरोंका प्रयोग वैदिककालमे ही प्रचलित हो गया था। शतपथ ब्राह्मण में 'वीणागणगिन' शब्द आया है, जिसकी व्याख्या करते हुए सायणने लिखा है—"वीणानाम् अलाबु वीणा त्रितत्रि: सप्ततन्तिशततन्तिरित्यादीनां गणः वीणागणः–तेन वीणागणसंघातेन ये गायन्ति शब्दयन्ति ते वीणागणगाः। ते शिष्यभूताः येषा गायनाचार्यादीनां सन्ति ते वीणागणगिनः[1]।"

अतः स्पष्ट है कि प्राचीन समयमे राजा, महाराजा और अभिजात वर्गके साथ-साथ साधारणवर्गके लोग भी गाने बजानेके शौकीन थे।

आदिपुराणके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि उस समयके भारतमे उत्सवों और त्यौहारोके अवसरोपर स्त्री और पुरुष नाच व गाकर अपना मनोविनोद करते थे। जन्मोत्सव, विवाहोत्सव एवं राज्याभिषेकोत्सवके अवसर पर अनेक प्रकारसे नृत्य और गान सम्पन्न किये जाते थे। षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद इन सात स्वरोका प्रयोग होता था।

वाद्य

आदिपुराणमे जिन वाद्योंका व्यवहार किया गया है, उन वाद्योके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि आदिपुराणका भारत वाद्योकी दृष्टिसे बहुत ही सम्पन्न था।

वाद्योमे वीणा, मुरज, पणव, शंख, तूर्य, काहला, घण्टा, कण्ठीरव, मृदंग, दुन्दुभि, तुणव, महापटह, पुष्कर, आनन्दिनी भेरी, विजयघोष पटह, गम्भीरावर्त शंख, आदि वाद्य प्रमुख थे।

वीणा

तन्त्रीगत वाद्य-यन्त्रोंमे वीणाका महत्वपूर्ण स्थान है। संगीतदामोदरमे उन्तीस[2] प्रकारकी वीणाओंका उल्लेख आया है—(१) अलावणी (२) ब्रह्मवीणा (३) किन्नरी (४) लघुकिन्नरी (५) विपञ्ची (६) वल्लकी (७) ज्येष्ठा, (८) चित्रा (९) घोषवती (१०) जया (११) हस्तिका, (१२) कुब्जिका (१३) कूर्मि (१४) सारंगी (१५) परिवादिनी (१६) त्रिशवी (१७) शतचन्द्री (१८) नकुलौष्ठी (१९) ढंसवी (२०) औदुम्बरी (२१) पिनाकी, (२२) निःशंक (२३) शुष्कल (२४) गढावारणहस्त (२५) रुद्र (२६) मरुस्यन्दी (२७) कलियास (२८) स्वरमणमल एवं (२९) घोड़।

---

१. शतपथ० १३।४।३।३। २. कविकालिदासके ग्रन्थोंपर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति–डॉ० गायत्री वर्मा हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय पृ० ३३२।

वाद्य तैयार किये । ये सभी वाद्य चर्म मढकर तैयार किये जाते थे । पुष्कर वाद्यों-के लगभग सौ प्रकार हैं, पर इनमे त्रिपुष्करोकी अधिक मान्यता है । उत्सवो, मंगलकार्यो शुभ अवसरों आदिमे भी इन वाद्योंका प्रयोग होता था । पुष्कर वाद्योके वादनके भी अनेक प्रकार है तथा उनके अनेक नियम है । आदिपुराणमे सामान्यरूपसे पुष्कर वाद्यका प्रयोग आया है । यह मुरजविशेष है । एक प्रकार-से मुरजादि भेद पुष्करके ही है । पुष्कर वाद्योके तीन प्रकार सम-विपम एवं सम-विपमका उपयोग मार्गोके साथ किया गया है । पुष्करोके मुखपर लेपन किया जाता था । यह लेपन मिट्टी अथवा आटेका होता था । नदी तटकी काली, मिट्टी जिसमे शर्करा और वालुकाकण न हो, उपादेय मानी जाती थी । पुष्कर वाद्यको आजकलका पखावज कह सकते हैं । पखावजपर भी मृत्तिका लेप इसी कारण किया जाता है जिससे एकरसता उत्पन्न न हो । पुष्कर वाद्योके वादनमे वर्ण-साम्य, मात्रासाम्य, तालसाम्य आदिका भी पूर्ण ध्यान रखा जाता है ।

पणव[1]

पणव वाद्य भी पुष्करवाद्योंका उपभेद है । इसका वादन दो प्रकारसे होता था । अतिवादित, अनुवादित या समवादित । अतिवादित वह प्रकार है, जिसमे कार्यक्रमसे पूर्व पुष्करका वादन होता है और कार्यक्रमके अनुकरणके रूपमे मृदंग-का वादन होता है । अतः पुष्करवादनके पश्चात् होनेवाले पणववादनको अनु-वाद्य कहते है और जब दोनोका कार्यक्रम साथ-साथ चलता है तो वे समवादित कहलाते है । पणववादनके अन्तर्गत क ख ग घ र व प्राण-प्र ह माद, व्रहु, लान, घाहु आदि वर्णाक्षर प्रयुक्त होते है । इसी प्रकार रिविण्टा धा घा आदि वर्ण भी पणवपर वजाये जाते हैं । छोटी तथा अंगूठीवाली उँगलीके ऊपरी नोक द्वारा कुशल वादकोको पणवपर विभिन्न करणोको प्रयुक्त करना चाहिये । पणव आव-श्यकतानुसार कसा जाता है और ढीला किया जाता है । वर्णध्वनियोकी उत्पत्ति के लिए अन्य उँगलियोका आघात भी किया जाता है । कोणद्वारा तथा अंगूठी वाली उँगलीसे जब वादन किया जाय तो आघात सरल और शुद्ध होता है । पणवका वादन जब उसे कसकर किया जाता है तो स, ण, आदि आघात वजाया जाता है । शिथिल पणवमे ल, ध आदि आघात वजते है । शिथिल एवं कसे पणव-मे क, ठ, न, त, णि आदि ध्वनियाँ वजायी जाती है । पणव वस्तुत' महत्त्वपूर्ण वाद्य हैं ।

पटह[2]

पटह भी चर्म मढा हुआ वाद्य है । इसका उल्लेख रामायण, महाभारत आदि

---

१. आदिपुराण २३।६२ । २. वही, २३।६३ ।

इन वीणाओंमें वल्लकी और परिवादिनी अच्छी वीणाएँ मानी गयी हैं। मल्लिनाथकी टीकाके अनुसार परिवादिनीमें सात तार होते हैं। और इसका स्वर मधुर माना जाता है। आदिपुराणमें वीणाके स्वरको सबसे अधिक उत्तम बताया गया[1] है। देवियाँ माता मरुदेवीसे प्रश्न पूछती हैं कि स्वरके समस्त भेदोंमें उत्तम स्वर कौन-सा है? माता उत्तर देती हैं कि वीणाका स्वर सबसे अधिक उत्तम है। माता मरुदेवीके मनोरञ्जनके लिए देवियाँ अपने हस्तरूपी पल्लवोंसे वीणाका वादन करती थीं। बताया है कि देवांगनाओंके हस्त पल्लवके समान थे। वीणा बजाते समय उनके हाथरूपी पल्लव वीणाकी लकड़ी अथवा उसके तारों पर पड़ते थे, जिससे वह वीणा पल्लवित होती-सी मालूम पड़ती थी। हाथकी उंगलियोंसे ताड़न करने पर ही वीणाओंसे मधुर शब्द निकलता था। वीणावादन-की कला आदिपुराणके भारतमें विशेष रूपसे प्रचलित थी। स्वयं आदितीर्थंकरने अपने पुत्र वृषभसेनको गीत-वाद्यरूप गन्धर्वशास्त्रकी शिक्षा[2] दी थी। गन्धर्व-शास्त्रमें वाद्योंका विशेषरूपसे वर्णन आया है। वीणावादनको आदिपुराणमें आदरकी दृष्टिसे देखा गया है।

मुरज[3]

मुरजकी गणना अवनद्ध वाद्यमें की गयी है। यह चर्मवाद्य है। इसका दूसरा नाम मृदंग है। इसकी ध्वनि मनोहर और सुखद मानी गयी है। भुजाओंको ऊपर उठाकर मुरज बजाया जाता था।[4] अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मुरज और मृदंग दोनोंमें कुछ भिन्नता अवश्य थी।

पुष्कर[5]

पुष्कर प्राचीन भारतका एक प्रमुख वाद्य है। इसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें एक मनोरञ्जक कथा उपलब्ध होती है। बताया गया है कि वर्षाकालीन अव-काशके समय एक बार स्वाति पानी लाने एक झीलके समीप गये। उनके जानेके पश्चात् ही इन्द्रने भीषण वर्षाद्वारा जगत्को समुद्र बनाना प्रारम्भ किया। उस समय इस झीलमें जलकी भीषण धारा हवाके वेगसे कमल पत्तोंपर गिरकर स्पष्ट ध्वनि उत्पन्न कर रही थी। स्वातिने इस ध्वनिको अचानक ही सुना एवं आश्चर्य-पूर्वक उस ध्वनिको समझनेका प्रयास किया। जब उन्होंने तार मध्य एवं मन्द्र-ध्वनियाँ मधुर रूपमें सुनी तो वे वापस कुटियामें लौट आये और वहाँ आकर मृदंगका चिन्तन किया। पुष्कर वाद्योंको विश्वकर्माकी सहायतासे जानना चाहा। देवोंकी दुन्दुभिको देखकर उन्होंने मुरज, आलिंग्य, ऊर्ध्वक एवं आंकिकादि पुष्कर

---

१. आदिपुराण १२।२३९। २. वही १६।१२०। ३. वही १२।२०५। ४. वही १२।२०४। ५. वही, ३।१७४।

बजानेसे हा हू शब्द होते थे। काहलाकी आकृति धतूरेके पुष्पके समान बत-लायी गयी है।

घण्टा[1]

घण्टा बहुत ही प्राचीन वाद्य है। आज भी यह मांगलिक वाद्य माना जाता है। जहां अन्य कोई वाद्य उपलब्ध नहीं होता वहाँ घण्टा बजाया जाता है। घण्टाका वाद्यके रूपमें वर्णन पौराणिक साहित्यमे अनेक स्थानों पर हुआ है। यह ठोस वाद्य है और जयगानके लिए घण्टाकी वाद्यध्वनिका होना आवश्यक-सा माना गया है। आदिपुराणमें कल्पवासियोके वहाँ घण्टाध्वनिके होनेका उल्लेख आया है। घण्टाकी ध्वनि भी समुद्रके समान गम्भीर मानी गयी है।

सिंहनाद[2]

सिंहनाद भी प्राचीन वाद्योके रूपमें उल्लिखित है। जिस प्रकार कांस्यवाद्य था, उसी प्रकारका सिंहनाद भी है। ज्योतिषियोंके यहाँ सिंहनाद ध्वनिके होनेका उल्लेख आया है।

भेरी[3]

भेरी मृदंग जातिका वाद्य है। यह तीन हाथ लम्बा दो मुंहवाला और धातुका बनता है। मुखका व्यास एक हाथका होता है। दोनो मुख चमडेसे मढे होकर चमड़ेसे कसे रहते हैं और उनमें कासेके कड़े पडे रहते है। संगीतरत्नाकरमे[4] इसका स्वरूप तीन बालिश्त लम्बा माना है और यह भेरी ताम्बेकी धातु द्वारा निर्मित होती है। भेरी दाहिनी ओर लकडी और बायीं ओर हाथसे बजायी जाती है।

शंख[5]

शंखका कथन ऋषभदेवके जन्मोत्सवके अवसर पर तो आया ही है, पर माता मरुदेवीको प्रात.कालके अवसर पर देवियाँ शंखनाद कर जागृत करती है। संध्याकालमे मृदंग और शंखध्वनि होती है, पर प्रातःकालमे पूजाके अवसर पर शंखध्वनि ही की जाती है। शंखकी सर्वश्रेष्ठ जाति पाञ्चजन्य है। भगवत्-गीताके अनुसार श्रीकृष्ण पाञ्चजन्य शखको ही बजाते है।

शंख सुषिर वाद्य है। इसकी उपलब्धि समुद्रसे होती है। यही एक ऐसा वाद्य है जो पूर्णतया प्रकृति द्वारा निर्मित होता है। इसे मौलिक वाद्य कहा जा सकता है। संगीत-ग्रन्थोमे आता है कि वाद्योपयोगी शंखका पेट बारह अंगुलका होता है तथा मुखविवर बेरके समान रहता है। वादन-सुविधाके लिए मुखविवर

---

१. आदिपुराण १३।१३। २. वही, १३।१३। ३. वही, १३।१३। ४. संगीतरत्नाकर ६।११४८। ५. आदिपुराण, १३।१३।

ग्रन्थोमे आता है। आदिपुराणमे पटह और महापटह दोनोंका उल्लेख आया है। पटहकी ध्वनि बहुत उन्नत नही होती थी, पर महापटहकी ध्वनि बहुत उन्नत होती थी। रघुवंशकाव्यमे[१] भी पटह वाद्यका उल्लेख आया है। पटहका अन्य नाम ढक्का भी आता है। वस्तुत. यह पीटकर बजाया जाता था। यह लकड़ीका बना वर्तुलाकार वाद्य है जिसके दोनो ओर चमड़ा मढा रहता है। पटहको डण्डेसे पीटकर भी बजाते थे। महापटहका अर्थ नगाड़ा है। विशेप अवसरोपर इसका प्रयोग होता था।

आनक[२]

आनक एक मुंहवाला अनवद्य वाद्य है जिसके बजानेसे मेघ या समुद्र गर्जनके समान ध्वनि उत्पन्न होती है। आदिपुराणमे जिनसेनने उच्च स्वरसे आनक वाद्योके बजनेका निरूपण किया है। और 'प्रथुध्वाना' शब्द द्वारा उसके घोर गर्जनपर प्रकाश डाला है। इस वाद्यकी व्युत्पत्ति 'आनयति उत्साहवतः करोति इति आनक.' के रूपमे की जा सकती है। आनकका उल्लेख महाभारतमें[३] भी आया है। इसकी समता आजकलके नौबत या नगाड़ासे की जा सकती है।

दुन्दुभि[४]

दुन्दुभि वाद्य भारतका प्राचीन वाद्य है। देवदुन्दुभि प्रसिद्ध है। दुन्दुभिकी ध्वनि मधुर और उच्च होती थी। इस वाद्यकी गणना युद्ध और उत्सव दोनो ही अवसरोपर की गयी है। दुन्दुभिकी ध्वनि समुद्रके क्षोभके समान होती है। यह एक मुंहवाला चमडेसे मढा हुआ वाद्य है और डण्डेसे पीट-पीटकर इसका वादन किया जाता है। मंगल और विजयके अवसरपर इस वाद्यका विशेप प्रयोग होता था। आदिपुराणमे दुन्दुभि वाद्यका प्रयोग तीन सन्दर्भोमें आया है (आदि० २३।६१; १७।१०६; १३।१७७)। दुन्दुभिको मधुर और कटु दोनों ही प्रकारके वाद्योमे ग्रहण किया जाता है।

काहला[५]

काहला वाद्यका निर्देश आदिपुराणमे दो सन्दर्भोमे मिलता है। काहलाकी ध्वनिको सुनकर गुफाएँ भी शब्दायमान हो जाती थी। काहलाका अर्थ धतूरेके फूलके समान मुंहवाली भेरी है। संगीतरत्नाकरमे[६] काहलाको धतूरेके फूलके समान मुंहवाला वाद्य कहा है। काहला तीन हाथ लम्बा छिद्रयुक्त तुरही जैसा सुषिर वाद्य है। यह सोना, चादो तथा पीतलका बनाया जाता था। इसके

---

१. रघुवंश ६।७१। २. आदिपुराण, १३।७। ३. महाभारत, १३।१५।७; १।२१४।२५। ४. आदि० १३।१७७। ५. वही, १२।१३९; १७।११३। ६. धातूरकुसुमाकारवदनेन विराजिता—संगीतरत्नाकर ६।७५४।

बजानेसे हा हू शब्द होते थे। काहलाकी आकृति धतूरेके पुष्पके समान बतलायी गयी है।

घण्टा[1]

घण्टा बहुत ही प्राचीन वाद्य है। आज भी यह मांगलिक वाद्य माना जाता है। जहां अन्य कोई वाद्य उपलब्ध नहीं होता वहाँ घण्टा बजाया जाता है। घण्टाका वाद्यके रूपमें वर्णन पौराणिक साहित्यमें अनेक स्थानों पर हुआ है। यह ठोस वाद्य है और जयगानके लिए घण्टाकी वाद्यध्वनिका होना आवश्यक-सा माना गया है। आदिपुराणमें कल्पवासियोके यहाँ घण्टाध्वनिके होनेका उल्लेख आया है। घण्टाकी ध्वनि भी समुद्रके समान गम्भीर मानी गयी है।

सिंहनाद[2]

सिंहनाद भी प्राचीन वाद्योंके रूपमें उल्लिखित है। जिस प्रकार कांस्यवाद्य था, उसी प्रकारका सिंहनाद भी है। ज्योतिषियोंके यहाँ सिंहनाद ध्वनिके होनेका उल्लेख आया है।

भेरी[3]

भेरी मृदंग जातिका वाद्य है। यह तीन हाथ लम्बा दो मुंहवाला और धातुका बनता है। मुखका व्यास एक हाथका होता है। दोनों मुख चमडेसे मढे होकर चमड़ेसे कसे रहते है और उनमे कासेके कड़े पडे रहते है। संगीतरत्नाकरमें[4] इसका स्वरूप तीन बालिश्त लम्बा माना है और यह भेरी ताम्बेकी धातु द्वारा निर्मित होती है। भेरी दाहिनी ओर लकडी और बायीं ओर हाथसे बजायी जाती है।

शंख[5]

शंखका कथन ऋषभदेवके जन्मोत्सवके अवसर पर तो आया ही है, पर माता मरुदेवीको प्रात.कालके अवसर पर देवियाँ शंखनाद कर जागृत करती है। संध्याकालमे मृदंग और शंखध्वनि होती है, पर प्रात कालमे पूजाके अवसर पर शंखध्वनि ही की जाती है। शंखकी सर्वश्रेष्ठ जाति पाञ्चजन्य है। भगवत्-गीताके अनुसार श्रीकृष्ण पाञ्चजन्य शखको ही बजाते है।

शंख सुषिर वाद्य है। इसकी उपलब्धि समुद्रसे होती है। यही एक ऐसा वाद्य है जो पूर्णतया प्रकृति द्वारा निर्मित होता है। इसे मौलिक वाद्य कहा जा सकता है। संगीत-ग्रन्थोमे आता है कि वाद्योपयोगी शंखका पेट बारह अंगुलका होता है तथा मुखविवर बेरके समान रहता है। वादन-सुविधाके लिए मुखविवर

---

१. आदिपुराण १३।१३। २. वही, १३।१३। ३. वही, १३।१३। ४. संगीतरत्नाकर ६।११४८। ५. आदिपुराण, १३।१३।

पर धातुका कलश लगाकर शंखविशेष बनाये जाते है। यो तो शंखसे एक ही प्रकारका स्वर निकलता है पर इससे भी राग-रागिनियाँ उत्पन्न की जा सकती है।

मृदंग[1]

मृदगका आदिपुराणमे पाच बार उल्लेख आया है। भरतमुनिने[2] अपने नाट्य-शास्त्रमे इसकी गणना पुष्करत्रयके अन्तर्गत की है। इसका खोल मिट्टीका बनता है, इसी कारण इसको मृदग कहते है। इसके दोनो मुँह चमड़ेसे मढ़े जाते है। मृदंग खडे होकर भी बजाया जाता है और बैठकर भी। संगीतरत्नाकर[3] मे मृदंगका वर्णन करते हुए कहा है कि यह मर्दलका एक रूपान्तर है।

आदिपुराणमें स्वय ही मृदंगकी व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि देवियो के हाथसे बारबार ताडित हुए मृदंग यही ध्वनि कर रहे थे कि हमलोग वास्तवमे मृदंग (मृत्त् अंग) अर्थात् मिट्टीके अंग नही है, किन्तु सुवर्णके बने[4] हुए है।

तूर्य[5]

तूर्य प्राचीन वाद्य है। इसकी गणना सुषिर वाद्योमें है। वर्तमानमें इसे तुरही कहते है। तुरहीके अनेक रूप है। यह दो हाथसे लेकर चार हाथ तककी होती है। आदिपुराणके अनुसार तूर्य मंगलवाद्य है। माता मरुदेवीको जगानेके लिए इस वाद्यका उपयोग किया गया है। तूर्यकी अपेक्षा तूर कुछ कठोर वाद्य है। यद्यपि दोनो एकार्थक प्रतीत होते है।

ताल[6]

घनवाद्योमे तालका उल्लेख आया है। तालका जोडा होता है। ये छ अंगुल व्यासके गोल कासेके बने हुए बीचमे दो अगुल गहरे होते है। मध्यमे एक छेद होता है जिससे एक डोरी द्वारा वे जुडे रहते है। दोनो हाथोसे पकडकर बजाये जाते है। इसकी तुलना हम मञ्जीरोसे कर सकते है।

वेणु[7]

आदिपुराणमे वेणुवादकको वेणुध्मा कहा गया है। वेणु सुषिर वाद्य है जो बासमे छिद्र करके बनाया जाता है। बासका बननेके कारण ही इसे वेणु कहा गया है। वेणुके उल्लेख प्राचीन साहित्यमे बहुत मिलते है।

अलाबु[8]

तुम्बी वाद्यके लिए अलाबुका प्रयोग आया है। अलाबु वाद्यसे सातों प्रकारके शब्द नि.सृत होते है। इसकी गणना सुषिर वाद्योमे है।

---

१. आदिपुराण १२।२०४-२०६; १३।१७७; १७।१४३। २. वही ६३।१४-१५। ३. संगीतरत्नाकर ६।१०२७ ४. आदि० १२।२०६। ५. वही १२।२०६। ६. वही १२।२०९। ७. वही १२।१९९-२०० ८. वही १२।२०३।

गायन

गायन अथवा गीत सम्बन्धी अनेक उल्लेख आदिपुराणमे आते है। संगीतके लिए गान्धर्व संज्ञा प्राप्त होती है। गायनका नियम है कि प्रथम मन्द्र स्वरसे क्रमशः मध्य एवं तार स्वरमे गीतका उच्चारण करना चाहिये। गीतके तीन आकार, षड् दोष, अष्ठ गुण एवं तीन प्रकार है। जो ज्ञानपूर्वक गीत गाया जाता है, उसे ललित गीत कहते है। तीन आकारोके अन्तर्गत मृदुगीतध्वनि, तीव्रगीतध्वनि एवं क्षययुक्त हल्की गीतध्वनि आती है। ६ दोषोमे भयभीत होकर गाना, शीघ्र गाना, धीरे गाना, तालरहित गाना, काकस्वरसे गाना, नाकमे गाना इत्यादि। गायनके आठ गुण निम्नप्रकार है—

१. पूर्णकलासे गाना।
२ रागको रञ्जक बना कर गाना।
३. अन्य स्वरविशेषोसे अलंकृत करके गाना।
४. स्पष्ट गाना।
५. मधुर स्वर युक्त गाना।
६. ताल वंशके स्वरसे मिलाकर गाना।
७. तालस्वरसे मिलाकर गाना।
८. मूर्च्छनाओक ध्यान रखते हुए गायन करना।

उरस्, कण्ठ एवं शिरस्से पदबद्ध, गेयपद सहित ताल समान पदका उच्चारण करना एवं सात स्वरके समक्षरो सहित गाना ही गीत कहा गया है। गीतको दोषरहित, अर्थयुक्त काव्यालंकारयुक्त, उपसंहार उपचारयुक्त, मधुर शब्दार्थ वाला एवं प्रमाणयुक्त होना चाहिये। आदिपुराणमे गीतोको वारवनिताओं द्वारा गवाया गया[१] है। श्यामा षोडशवर्षीया मधुरस्वरसे गीतका गायन करती है जबकि गौरी चातुर्यसे गीत गाती है। पिंगला और कपिलाको गीत गानेके लिए वर्जित माना गया है।

नृत्यकला

नृत्य शब्दकी निष्पत्ति नृत् धातुसे हुई है। दशरूपकमे 'भावाश्रयं[२] नृत्यम्' अर्थात् भावो पर आश्रित अंगसंचालनको नृत्य कहा है। नृत्यका एक अन्य रूप नृत्त है। नृत्तको 'ताललयाश्रयम्'[३] अर्थात् ताल और लयके अनुरूप गात्रविक्षेपण करना कहा गया है। इस प्रकार नृत्यमे रस, भाव और व्यञ्जना इन तीनोका प्रदर्शन होता है। संक्षेपमे नृत्यमे निम्नलिखित तत्त्व समाविष्ट होते है।

---

१. आदिपुराण १६।१९७—मंगलानि जगुर्वारनार्यो...। २. दशरूपक १।९। ३. वही १।१०।

१. नृत्यमें भावोका अनुकरण प्रधान होता है।

२. इसमें आंगिक अभिनय पर बल दिया जाता है।

३. इसमे पदार्थका अभिनय होता है।

४. नृत्य भावाभिनयमे सहायक होता है तथा भावों पर ही अवलम्बित रहता है।

५. नृत्य सार्वभौमिक होता है एवं इसमे अभिनयकी प्रधानता रहती है।

आदिपुराणमे नृत्यका चित्रण अनेक रूपोमे आया है। नृत्य करती हुई अंगनाएँ नाट्यशास्त्रमें निश्चित किये हुए स्थानोपर हाथ फैलाती हुई विभिन्न प्रकारकी भावमुद्राओंका प्रदर्शन करती[1] है। चञ्चल अंगोको तीव्र गतिसे घुमानेके कारण नर्तकियोंके अंगप्रत्यंगका सौन्दर्य स्पष्ट रूपमे प्रदर्शित होता[2] है। आदिपुराणके आधार पर नृत्यकी निम्नलिखित मुद्राएँ प्रतिपादित की जा सकती हैं—

१. भौहको खीचकर बारबार कटाक्ष करते हुए नृत्य करना।[3]

२. मुस्कराते हुए मधुरगानपूर्वक नृत्य करना।[4]

३. कटाक्षपूर्वक हावभाव और विलासपूर्वक नृत्य करना।[5]

४. नाना प्रकारकी गतियों द्वारा नृत्य करना।[6]

५ विभिन्न प्रकारके गायनोकी तालध्वनिके आधारपर नृत्य करना।[7]

६ विचित्र रूपमें शारीरिक चेष्टाओंका प्रदर्शन करते हुए फिरकी लेना[8]।

७. पुष्पघट, मृत्तिकाघट अथवा स्वर्णघट सिर पर रखकर विभिन्न प्रकारकी भावावलियोंका प्रदर्शन करना[9]।

८. रसान्वित नृत्य करना—अर्थात् अंगोके सौन्दर्यका विभिन्न भावावलि द्वारा प्रदर्शन करते हुए नृत्य करना[10]।

९. छत्रबन्ध आदिका प्रदर्शन करते हुए विभिन्न रूपोमे नृत्य करना।[11]

आदिपुराणमे कई प्रकारके नृत्योका उल्लेख आया है। वस्तुतः नृत्य दो प्रकार का होता है—मधुर और उद्धत। मधुर नृत्यको लास्य नृत्य कहते है और उद्धतको ताण्डव। आदिपुराणमे इन दोनों ही प्रकारके नृत्योका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है।

ताण्डव नृत्य[12]

ताण्डवनृत्य उद्धत नृत्य है। इसमे विविध रेचकों, अंगहारों तथा पिण्डी बन्धों सहित यह नृत्य किया जाता है। कहा जाता है कि तण्डुमुनिने इस नृत्यमें

---

१ आदिपुराण १२।१९१ २. वही १२।१९० ३. वही १२।१९४। ४. वही १२।१९५। ५. वही १२।१९६। ६. वही १२।१९७। ७. वही १२।१९७। ८. वही १२।१९७। ९. वही १२।१९७। १०. वही १२।१९७। ११. वही १७।१०९। १२. वही १४।१३३।

गान एवं वाद्य यन्त्रोंका प्रयोगकर इसे सरस बताया है। ताण्डवनृत्यकी प्रयोग-विधियोंका विवेचन करते हुए बताया गया है कि इसमे वर्धमानक तालका समावेश रहता है, जो कि कलाओं, वर्णों और लयों पर आधारित होता है।

आदिपुराणमे ताण्डव नृत्यका विवेचन करते हुए लिखा गया है कि पाद, कटि, कण्ठ और हाथोको अनेक प्रकारसे घुमाकर उत्तम रस दिखलाना ताण्डव नृत्य[1] है। ताण्डव नृत्यकी कई विधियाँ प्रचलित थी। पुष्पाञ्जलि क्षेपण करते हुए नृत्य करना, पुष्पाञ्जलि प्रकीर्णक नामक[2] ताण्डव नृत्य है। इसी प्रकार विभिन्न रूपोंमे सुगन्धित जलकी वर्षा करते हुए नृत्य करना जलसेचन नामक ताण्डव-नृत्य है।

अलातचक्रनृत्य[3]

अलातचक्रनृत्यमे शीघ्रतापूर्वक फिरकी लेते हुए विभिन्न मुद्राओं द्वारा शरीरका अंगसंचार किया जाता था। शीघ्रतासे नृत्य क्रिया करने कारण ही इसे अलातचक्र कहा गया है।

इन्द्रजालनृत्य[4]

इस नृत्यमें क्षणभरके लिए व्याप्त हो जाना, क्षणभरमे छोटा बन जाना, क्षणभरमें निकट दिखलाई पडना, क्षणभरमे दूर पहुँच जाना, क्षणभरमे आकाश-में दिखलाई पड़ना, इन्द्रजाल नामका नृत्य है। इस नृत्यमे नाना प्रकारकी लास्य क्रीडाएँ भी सम्मिलित रहती है। नृत्यकी गतिविधि अत्यन्त शीघ्रतासे प्रदर्शित की जाती है, जिससे नर्तक या नर्तकीका स्वरूप ही दृष्टिगोचर नही होता।

चक्रनृत्य[5]

इस नृत्यमे नर्तकियोकी फिरकियाँ इस प्रकारमें घटित होती है जिससे केवल शिर या सेहरा अंश ही घूमता है। मुकुटका सेहरा घूमनेके कारण ही इसे चक्र संज्ञा प्राप्त है।

निष्क्रमणनृत्य[6]

निष्क्रमण नृत्यमे प्रवेश और निर्गमन ये दोनो ही क्रियाएँ साथ-साथ चलती है। फिरकी लगाने वाली नर्तकियाँ कभी दो तीन हाथ आगेकी ओर बढ़ती है और कभी दो तीन हाथ पीछेकी ओर हटती है। फिरकी लगानेकी यह प्रक्रिया ही निष्क्रमण नामसे अभिहित की जाती है।

---

१. चित्रैश्च रेचकैः पादकटिकण्ठकराश्रितैः। ननाट ताण्डवं शक्रो रसमूर्जितम् दर्शयन्॥ आदि० १४।१२१। २. वही, १४।११४। ३. वही, १४।१२८। ४. वही, १४।१३०-१३१। ५. वही, १४।१३६। ६. वही १४।१३४।

सूचीनृत्य[1]

नृत्य करते हुए नर्तकियाँ जव सिमटकर सूचीके रूपमें परिणित हो जाती है तव उसे सूची कहते है। आदिपुराणमे किसी पुरुपके हाथकी उंगलियो पर लीलापूर्वक नृत्य करना सूचीनृत्य है।

कटाक्षनृत्य[2]

स्त्रियाँ अपने कटाक्षोका विक्षेपण करती हुई किसी पुरुपकी वाहुओ पर स्थित हो जो नृत्य करती है, उसे कटाक्ष नृत्य कहा जाता है। सूची नृत्यमे पुरुप-की उंगलियो पर खडी होकर लडकियाँ नृत्य करती है तो कटाक्ष नृत्यमे वाहुओं पर खडी होकर।

लास्यनृत्य[3]

भावोंकी सुकुमार अभिव्यञ्जनाको लास्य कहते है। श्रावण आदि महीनोंमे दोलाक्रीडाके अवसर पर किये जाने वाले कामिनियोके मधुर तथा सुकुमार नृत्य लास्य कहलाते है। मयूरका कोमल नर्तन लास्यके अन्तर्गत आता है। लास्य नृत्य वहुत ही लोकप्रिय एवं रसोत्पादक है।

वहुरूपिणीनृत्य[4]

वहुरूपिणी विद्या वह कहलाती है जिसमे व्यक्ति अपनी अनेक आकृतियाँ वना ले। कामिनियाँ निर्मल मुक्तामणि जटित हारोको पहनकर उस प्रकार नृत्य करें जिससे उनकी आकृतियाँ उस हारके मणियोंमे प्रतिविम्वित हो। अनेक प्रतिविम्व पडनेके कारण ही इस नृत्यको वहुरुपिणी नृत्य कहा जाता है। आदिपुराणमे वास्तविक नृत्य उसीको माना गया है, जिसमे अंगोकी विभिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ सम्पन्न हो और नृत्य करने वाला अनेक रूपोमें अपनी रसभाव मयी मुद्राओका प्रदर्शन करे।[5]

स्पष्ट है कि रसभाव, अनुभाव और चेष्टाएँ नृत्यके लिए आवश्यक है। नृत्य, शृंगार, शान्त और वीररसके भावोके प्रदर्शनके लिए सम्पन्न किया जाता था। नृत्य नाट्यशालाओमे सम्पन्न होता था आदितीर्थंकरको नृत्य करती हुई नीला-ञ्जनाके विलयनके कारणही विरक्ति उत्पन्न हुई थी। आदिपुराणके भारतमे ललित कलाओमे नृत्यका महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनोरञ्जनके लिए सामन्त, सम्राट, प्ररो-हित सभी नृत्यशालाओमे वैठकर नृत्य देखते थे।

●

---

१ आदिपुराण १४।१४२। २. वही १४।१४४। ३. वही, १४।१३३। ४. वही १४।१४१ ५. वही १४।१४९–१५०।

अध्याय : ६

आर्थिक और राजनैतिक विचार

प्रथम परिच्छेद

आर्थिक विचार और आर्थिक समृद्धि

आदिपुराणमें बताया गया है कि आदितीर्थङ्करने अपने पुत्र भरतको अर्थ-शास्त्रकी शिक्षा दी[1] थी। पर इस अर्थशास्त्रका स्वरूप क्या था, इसकी जानकारी आदिपुराणके उक्त सन्दर्भसे नही होती। हाँ, समस्त आदिपुराणके अध्ययनसे इतना अवश्य अवगत होता है कि कल्याण सम्बन्धी समस्त बातोका समावेश अर्थशास्त्रमें किया गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार अर्थशास्त्रका विषय मनुष्य है। मनुष्य किस प्रकार आय प्राप्त करता है और उसे व्यय करके अपनी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति किस विधिके अनुसार करता हुआ सुख और कल्याण प्राप्त करता है, यह अर्थशास्त्रका अध्ययनीय विषय है। अर्थशास्त्रके विशेषज्ञ विद्वान् प्रो० उदयप्रकाश श्रीवास्तवने लिखा है—"अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जिसमे मनुष्यकी आर्थिक क्रियाओं—उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरणका अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दोमे यह मानवकल्याणके केवल उस भागका अध्ययन करता है. जिसे मुद्रारूपी मापदण्डसे मापा जा सके; अर्थात् अर्थशास्त्रमें भौतिक कल्याणका अध्ययन किया जाता है।[2]...."

आदिपुराणमे आर्थिक विचारोके अन्तर्गत "अर्थसम्मार्जनं, रक्षणं, वर्द्धनं, पात्रे च विनियोजनम्[3]"—अर्थात् धन कमाना, अर्जित धनका रक्षण करना, पुन: उसका संवर्द्धन करना और योग्य पात्रोको दान देना आदि बातोंको माना गया है।

---

१. आदिपुराण १६।११९। २. प्रारम्भिक अर्थशास्त्र—प्रो० उदयप्रकाश श्रीवास्तव, लाइट हाउस, आर्यकुमार रोड, पटना ४ से प्रकाशित, प्रथम संस्करण १९६८, पृ० २६६। ३. आदिपुराण ४२।१३।

आशय यह है कि मनुष्यके आर्थिक आचरणका अध्ययन करना आर्थिक विचारों-का अध्ययन है। मनुष्यको दुर्लभता और अभावका निरन्तर सामना करना पड़ता है। अर्जनके साधन भी सीमित हैं, अतएव अनिवार्यताके आधारपर आवश्य-कताओंकी प्राथमिकता एवं उनकी पूर्तिके लिए सीमित साधनोंका सन्तुलित रूप-में प्रयोग करना आर्थिक सिद्धान्त है। साधनोंकी निर्दोषता एवं सदोषतासे ही साध्य भी निर्दोष एवं सदोष होता है। अतएव आजीविका सम्पन्न करनेके लिए प्राप्त साधनोंका निर्दोष रूपमें व्यवहार करना आदिपुराणके भारतमें श्रेयस्कर समझा गया है। बताया है—"वृत्तिन्र्याय:[1]" तथा "न्यानोपार्जितवित्त[2]...." अर्थात् न्यायपूर्वक धनार्जन करना ही जीवनको सुखी और सन्तुष्ट बनानेका हेतु है। मनुष्यकी समस्त क्रियाओंका, जो समाजके बीच घटित होती हैं उसके आर्थिक जीवनके साथ सम्बन्ध है।

आदिपुराणमें जीवनका लक्ष्य त्रिगौरवको प्राप्त करना है। इस त्रि-गौरवमें रसगौरव, शब्दगौरव और ऋद्धिगौरव सम्मिलित हैं। आर्थिक दृष्टिसे ऋद्धि-गौरवके अन्तर्गत वस्तुओंकी विशेषताएँ, उसकी आन्तरिक दशाएँ, अर्जन एवं संवर्द्धन सम्मिलित है। आदिपुराणमें उपयोगिताको सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। आवश्यकताकी पूर्ति तभी तृप्तिका कारण बन सकती है, जब उसकी उप-योगिता किसी दृष्टिसे हो। आवश्यकताओंकी उत्पत्तिके कारणोंमें भौगोलिक, शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, स्वाभाविक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक आदि प्रमुख हैं। मनुष्यकी प्रधान आवश्यकताओंमें क्षुधा, तृषा, विश्राम, शीता-तपसे संरक्षण, वस्त्र, आवास एवं आत्मरक्षा सम्बन्धी हैं। मनुष्य इन आवश्य-कताओंकी पूर्ति अपने विवेक द्वारा सम्पन्न करता है। आदिपुराणमें विवेकको विशेष महत्त्व दिया है।

उपयोगितावादको स्पष्ट करते हुए बताया है—"रत्नानि ननु तान्येव यानि यान्त्युपयोगिताम्[3]"। दर्शनके सिद्धान्तानुसार मनुष्य न तो नयी वस्तुका निर्माण करता है और न किसी पुरानी वस्तुका विनाश करता है, केवल उपयोगिताका सृजन करता है। उपयोगिताके सृजनका ही नाम उत्पादन या उपभोग है। वस्तुओंकी जैसी-जैसी उपयोगिता बढ़ती जाती है, उनका मूल्य भी वृद्धिगत होता जाता है। मूल्यनिर्धारण उपयोगिताके आधार पर ही किया जाता है। जहाँ वस्तुओंकी अधिकता रहती है, वहाँ उपयोगिता भी घटती जाती है। आदि-पुराणकारने रत्नोंका उदाहरण देकर उपयोगितावादका बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। रत्न तभी रत्नसंज्ञाको प्राप्त होते हैं, जब खानसे निकलनेके अनन्तर

---

१. आदि० ४२।१४। २. वही, ४२।१५८। ३. वही, ३७।१९।

उन्हें सुसंस्कृत कर उपयोगी बना दिया जाता है। यदि रत्नोमे संस्कार न किया जाय—उपयोगिताका सृजन न किया जाय, तो रत्न रत्न न होकर पापाण कहलायेंगे। अतएव आर्थिक क्रियाओका प्रारम्भ उपभोग या उपयोगितासे होता है और उनकी समाप्ति भी उन्ही दोनोंसे होती है। मूलत आर्थिक क्रियाओंका जन्म मनुष्यकी आवश्यकताओसे होता है, जिनकी पूर्ति अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यकताएँ शारीरिक और मानसिक वेदना उत्पन्न करती है, जिससे बेचैनी होती हैं और बेचैनीके कारण मनुष्यका जीवन विशृंखलित हो जाता है। इसी कारण आदिपुराणमे उपयोगिताको महत्त्व दिया है। यह उपयोगिता, उपभोग या उत्पादनकी समानार्थक है। जब उपयोगिता पूर्ण हो जाती है, तो परम सन्तोष प्राप्त होता है। मनुष्यके दु खका कारण भौतिकताके प्रति मानसिक वृत्तिका अत्यधिक राग अथवा द्वेपयुक्त हो जाना है। ये राग और द्वेप जब सन्तुलनकी स्थितिको प्राप्त होते है तभी व्यक्तिको परम सन्तोष उपलब्ध होता है और परम शान्ति मिलती है।

आदिपुराणमे धनार्जनके साथ विवेकको महत्त्व देते हुए लिखा है—"लक्ष्मीवाग्वनितासमागमसुखस्यैकाधिपत्यं दधत्[1] .." अर्थात् सरस्वती और लक्ष्मीका समान रूपसे सन्तुलन ही सुखका कारण है। जो व्यक्ति धनार्जन, धनरक्षण और धनसंवर्द्धन करते समय विवेकको खो देता है, वह व्यक्ति संसारमे सुखी नही हो सकता। इसी सिद्धान्तको विस्तृत करते हुए आदिपुराणमे बताया है—"न्यायोपार्जितवित्तकामघटना[2]" अर्थात् न्यायपूर्वक चयन किये हुए धनसे ही इच्छाओकी पूर्ति करनी चाहिये। इच्छाएँ अनन्त है और पूर्तिके साधन अत्यल्प। अतएव समस्त इच्छाओकी पूर्ति तो असम्भव है। ऐसी स्थितिमें अधिक तीव्र आवश्यकताओकी पूर्ति ही न्यायोपात्त धनसे करनी चाहिये। अर्थशास्त्रका नियम है कि सीमित साधनोको विभिन्न आवश्यकताओं पर इस प्रकार व्यय करना चाहिये, जिससे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। आवश्यकताओकी तीव्रता ही उनकी प्राथमिकताकी निर्णायक है। सामान्यतः आवश्यकताओको पाँच वर्गोमे बाँटा जा सकता है—

१. जीवन रक्षक आवश्यकताएँ।
२. निपुणता रक्षक आवश्यकताएँ।
३. प्रतिष्ठा रक्षक आवश्यकताएँ।
४. आराम सम्बन्धी आवश्यकताएँ।
५. विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ।

---

१. आदिपुराण ४१।१५८। २. वही, ४१।१५८।

इस वर्गीकरणकी प्रथम तीन आवश्यकताओंका अन्तर्भाव अनिवार्य आवश्यकताओंमें किया जा सकता है, जिनकी पूर्ति जीवनरक्षा, कार्यदक्षता एवं सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराओंकी दृष्टिसे अनिवार्य है। इनकी सन्तुष्टिके बिना हमें शारीरिक एवं मानसिक कष्टका अनुभव होता है और हमारी कार्यक्षमता घटती है।

आराम सम्बन्धी आवश्यकताओंकी पूर्तिसे मनुष्यको सुख एवं आराम उपलब्ध होता है। इनकी पूर्ति न होनेसे मनुष्यको कष्ट होता है। जीवनस्तर गिरता है एवं कार्यक्षमताका ह्रास होता है। जो आराम सम्बन्धी आवश्यकताएँ विलास और वासनाको प्रोत्साहित करती हैं, वे आवश्यकताएँ महत्त्वहीन हैं। विलासिताके अन्तर्गत हानिकारक विलासिताएँ, हानिरहित विलासिताएँ और कल्याणकारी विलासिताएँ परिगणित हैं। जिन विलासिताओंके सेवनसे मनुष्य व्यसनी बनता है वे विलासिताएँ हानिकारक हैं। कल्याणकारी विलासिताओंमें संस्कृति और सभ्यताके विकासकी प्रगति निहित रहती है। ललित कलाओं एवं शिल्प-कौशलको अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए प्रस्तुत करना कल्याणकारी विलासिताओंके अन्तर्गत है। हानिरहित विलासिताओंमें भव्य भवन विभिन्न प्रकारके आभूषण एवं यान-वाहन आदि सम्मिलित हैं। शृङ्गार-प्रसाधन एवं उपभोगके अन्य कार्य भी इसी प्रकारकी आवश्यकताओंके अंग हैं। अतएव आदिपुराणके सिद्धान्तानुसार वस्तुमें उपयोगिताका सृजन करना ही वस्तुओंका उत्पादन है।

आर्थिक सिद्धान्तोंके अनुसार धर्म आर्थिक प्रगतिमें बाधक माना गया है। सन्तोषी व्यक्ति आर्थिक समृद्धिको किस प्रकार प्राप्त कर सकेगा, यह चिन्त्य है। अध्यात्मप्रेमी, उत्पादन कार्योंसे जब विमुख रहेगा, तो किस प्रकार अर्थकी समृद्धि कर सकेगा। उक्त समस्याका समाधान आदिपुराणके अध्ययनसे प्राप्त हो जाता है। आदिपुराणकारने एकमात्र—धर्म और अर्थके सेवनका विरोध किया है। जो अर्थके साथ धर्मका समन्वय करता है, ऐसा व्यक्ति आर्थिक समृद्धिके साथ आध्यात्मिक समृद्धिको भी प्राप्त कर लेता है।

धर्मबुद्धि[1] पूर्वक इष्टार्थकी पूर्ति—कामनाओंकी पूर्ति करनी चाहिये। कामनाओंकी पूर्तिका साधन अर्थ है और अर्थार्जनके लिए श्रम एवं पूँजीका विनिमय करना आवश्यक है।

एक अन्य सन्दर्भमें बताया है कि धनार्जन करने वालेके लिए संसारमें कोई भी अकरणीय कार्य नहीं है। जो उत्पादनमें लगा हुआ है, वह व्यक्ति अपने समस्त साधनोंका उपयोग कर पूरी शक्तिके साथ धनार्जन करता है। उत्पादकका विवेक अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे यही है कि वह उत्पत्तिके साधनोंका अधिकाधिक उप-

१. आदिपुराण ५।१५।

भोगकर धन चयन करे। "अर्थार्थिभिरकर्तव्यं न लोके नाम किञ्चन [1]" अर्थात् जो उद्योग व्यवसाय या कृषिमे लगा हुआ है तथा जिसका एकमात्र उद्देश्य धन कमाना ही है ऐसे व्यक्तिके लिए संसारमे कोई भी अकरणीय कार्य नही है। इस सिद्धान्तके अनुसार अर्थव्यवस्थाको सुदृढ करनेका संकेत प्राप्त होता है। इसमे सन्देह नही कि लौकिक दृष्टिसे आर्थिक समृद्धि अत्यधिक अपेक्षित है। आदिपुराण-मे इस समृद्धिको सकलजन उपभोग्य बनानेके लिए अपरिग्रह [2] एवं संयमके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। धर्मवृक्षका फल अर्थको ही माना है। इच्छाओकी पूर्ति उस फलका [3] रस है।

आदिपुराणमे वर्णाश्रम धर्मका निर्देश आया है। "वर्णाश्रमाः प्रजाः" [4] द्वारा प्रजा शब्दकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। आदिपुराणमे गुणकर्मानुसार ही जाति-व्यवस्था उपलब्ध होती है। इस व्यवस्थाका प्रभाव आर्थिक विचारोंपर भी पड़ा है। जन्मके समय ही व्यक्तियोका कार्यव्यवसाय निश्चित हो जाता है और शैशव-से ही वे अपने कुलोचित व्यवसायको करने लगते है, जिससे व्यवसायकी उन्नति होती है। इस प्रक्रिया द्वारा कार्यव्यवसायके प्रशिक्षण द्वारा व्यवसायकी अत्यधिक उन्नति होती है क्योकि व्यवसाय पैतृक परम्परासे होता है और उसे सीखनेकी विशेष आवश्यकता नही रहती। अन्य व्यक्ति कार्यकुशलता प्राप्त करनेके लिये जहाँ जी तोड़ श्रम करते है वहाँ कुलपरम्परासे प्राप्त व्यवसायको करनेमे अत्यल्प श्रम करना पडता है और कार्यकुशलता भी बढ जाती है। स्वाभाविक श्रमविभा-जनके कारण अपने निर्धारित कार्योमे संलग्न रहनेसे अर्थव्यवस्था सुव्यवस्थित रूपमे कार्य करती है। गुण-कर्मानुसार जाति-विभाजनमें पारस्परिक सहयोगकी भावना भी कम नही रहती। एक जाति दूसरी जातिपर अपनी आवश्यकताओके लिए निर्भर थी, जिससे सहकारिताकी भावना निरन्तर बढती जाती थी। इस जाति-प्रणालीका एक सुनिश्चित परिणाम ग्रामीण अर्थव्यवस्थापर भी दिखलाई पड़ता है। विभिन्न प्रकारकी पेशेवर जातियोके कारण ग्राम आर्थिक दृष्टिसे अपने-मे स्वतन्त्र थे, जिससे गाँवकी आवश्यकताके अनुसार कार्य सम्पादित होते थे और आर्थिक स्थिति भी सुदृढ रहती थी। आदिपुराणमे बताया है—"यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दधुरसंकरम् [5]" अर्थात् प्रजा अपने-अपने योग्य कार्योको यथायोग्य रूपसे सम्पादित करती थी। अपने वर्णकी निश्चित आजीविकाको छोडकर कोई दूसरी आजीविका नही करता था, जिससे उनके कार्योमे कभी संकर नही होता था।

---

१. आदि० ४६।५५। २. वही, २।२३। ३. वही, २।३१। ४. आदिपुराण २६।२६। ५. वही १६।१८७।

आदिपुराणमे अर्थव्यवस्थाको सुदृढ करनेके लिये प्रजाकी वृत्ति[1]—आजीविका-हेतु किये जानेवाले कार्योका—वर्णके अनुसार निर्देश किया गया है। अत. स्पष्ट है कि आदिपुराणके भारतमें अर्थव्यवस्थाको सुदृढ करनेके लिये जाति-व्यवस्थाके सिद्धान्त प्रचलित थे। यद्यपि आगे चलकर यह व्यवस्था आर्थिक दृष्टिसे पंगु प्रतीत होने लगी, क्योकि समस्त व्यक्तियोको योग्यतानुसार अपने विकासका अवसर नही मिल पाता था।

अर्थव्यवस्थाकी सुरक्षाके लिए संयुक्त परिवार प्रणाली भी आदिपुराणके भारतमे प्रचलित थी। राजाओं और सामन्तवर्गमे वयस्क होने पर पुत्र अपने कार्योका संचालन पृथक् रूपमे रहकर करते थे। अतः आदिपुराणमे दोनो प्रकारकी परिवार व्यवस्था वर्णित है। संयुक्त परिवारमे माता-पिता, पुत्र-पौत्र, भाईवन्धु आदि अनेक सदस्य निवास करते थे। परिवारके सवल, निर्वल, योग्य, अयोग्य वच्चे, वूढे, सभी सदस्योका भरण-पोपण होता था। इस संयुक्त परिवार-प्रणालीका फल यह था कि अनेक स्थानों पर होने वाला व्यय-भार एक ही जगह पड़ता था, जिससे आर्थिक वचत होती थी। परिवारका आकार वडा होनेसे श्रम-विभाजनमें भी सुविधा होती थी, जिससे परिवारकी आर्थिक स्थिति तो सवल होती ही थी, सामाजिक सुरक्षा भी प्राप्त होती थी। कृपिके क्षेत्रमे संयुक्त परिवारकी अधिक उपयोगिता थी। आज जिस चकवन्दीकी व्यवस्थाके लिए प्रयास किया जा रहा है वह चकवन्दी संयुक्त परिवारके द्वारा आदिपुराणके भारतमे स्वयं ही सम्पादित थी। खेतोके टुकड़े नही किये गये थे और न उनका इतना अधिक उपविभाजन ही हुआ था, जिससे कृपि व्यवस्था पर प्रभाव पडे। एक व्यक्तिकी प्रमुखताके कारण अनुशासनके साथ आर्थिक सुरक्षा एवं आर्थिक सवलता भी सम्पादित रहती थी। सदस्योमे पारस्परिक असन्तोप और मनमुटाव न होनेके कारण सहकारिताकी भावना प्रमुख रूपमे रहती थी, जिससे कृपि और उद्योगके कार्योमें सफलता प्राप्त होती थी।

आदिपुराणके भारतका आर्थिक संगठन ग्रामों पर निर्भर है। वताया है कि वड़े-गाँवमे कमसे कम पाँच सौ घर रहते है और छोटे गाँवमे[2] सौ। इसमे सभी सम्पन्न किसान निवास करते है। कृपकोके साथ दूकानदार, नाई, दर्जी, धोवी, लोहार, चमार, वैद्य, पण्डित आदि सभी प्रकारके व्यक्ति निवास करते है। ये सभी पेशेवर व्यक्ति अपने-अपने पेशेके अनुसार कार्यकर गाँवकी आवश्यकताओकी पूर्ति करते है। अतएव आर्थिक दृष्टिसे ग्राम अत्यधिक सम्पन्न है। वताया गया है—"सम्पन्नशस्यसुक्षेत्रा. प्रभूतयवसोदकाः"[3] अर्थात् गाँवोंमे धानके खेत सदा लह-

१. आदि० १६।१८०। २. वही १६।१६५। ३. वही, १६।१६६।

लहाते रहते थे। पशुओंके लिए घास और उनके पीनेके लिए जलकी भी कमी नही रहती थी। गाँवकी प्रधान आवश्यकताएँ निम्नलिखित थी।

१. पेय जलकी आवश्यकता।

२. अन्नके उत्पादनकी आवश्यकता।

३. घास और भूसाके उत्पादनकी आवश्यकता।

४. जीवनोपयोगी वस्त्र एवं गुड़, मसाला आदि उपयोगी पदार्थोंके व्यवसायकी आवश्यकता।

५. पशुपालनकी आवश्यकता।

आदिपुराणमे ग्राम-व्यवस्थाके सम्बन्धमे "योगक्षेमानुचिन्तनम्"[1] पद आया है। इस पदका आशय यह है कि उपभोग योग्य समस्त वस्तुएँ गाँवोमे उपलब्ध हो जाती थी। अत. आदिपुराणका ग्राम्य जीवन अधिक आत्मनिर्भर, सहयोगी और जनतन्त्रीय था। उस समयके गाँवोकी आत्मनिर्भरताका एक प्रमुख कारण यह था कि उस कालमे आवागमनके साधन अत्यधिक सीमित थे। ग्रामीण समस्याओं एवं कार्योंका प्रवन्ध ग्रामके प्रधानके द्वारा होता था।

पशुपालनकी प्रथा रहनेसे दूध, दधि आदि पदार्थ तो उपलब्ध होते ही थे, पर ऊनकी प्राप्ति भी होती थी, जिससे ऊनी कपडे कम्वल आदिके रूपमे गाँवोमे तैयार किये जाते थे। कपासकी खेती प्रायः प्रत्येक गाँवोमे होती थी, जिससे वस्त्र-सम्वन्धी आत्मनिर्भरता भी आदिपुराणके गाँवोमे विद्यमान थी।

इक्षुरसका[2] उपयोग कई रूपोमे किया जाता था। गुड, राव आदि स्वादिष्ट पदार्थ वनते ही थे, पर खीर भी इक्षुरससे वनायी जाती थी। अत. प्रत्येक गाँवका कृषक-जीवन समृद्ध और सम्पन्न था।

नागरिक जीवनकी अर्थव्यवस्था भी समृद्ध थी। व्यवसायका पूर्णतया प्रचार था, उन्नत अट्टालिकाएँ, नाना प्रकारके वस्त्राभूपण एवं विविध प्रकारके भोगोपभोगके पदार्थ जीवनमे आनन्द और उमंगका सृजन करते थे। इससे स्पष्ट है कि नगरोकी अर्थव्यवस्था वहुत ही समृद्ध थी।

आदिपुराणके एक सन्दर्भमे ग्रामीण आर्थिक जीवनका वहुत ही सुन्दर चित्रण आया है। हम यहाँ उस सन्दर्भका साराश उपस्थित करते है। चक्रवर्ती भरतकी सेना गाँवोकी सीमासे चली जा रही है। गोचर भूमिमे गायोंका समूह चर रहा है। दूधसे उनके स्तन भरे हुए हैं और दुग्धभारके कारण कुछ थनोसे दूध

---

१. आदिपुराण १६।१६८। २. वही, २०।१७७। ३. २६।१०६।

निकल भी रहा है, जिससे वहाँकी भूमि दुग्धसे तर हो गयी[१] है। गोचर भूमिमें चरते हुए उन्नत स्कन्ध वाले बैल अपने सीगोके अग्रभागसे कमलोको उखाड़ रहे है और मृणालोको जहाँ-तहाँ फेंक रहे[२] है। दुग्धपानके कारण पुष्ट हुए गायोके वछडे उछल-कूद मचाकर एक नया ही दृश्य उपस्थित कर रहे हैं। उन वछडोके पुष्ट शरीरोको देखनेसे ऐसा ज्ञात होता था कि ग्वालोने गायोसे दूध दूहा नही है, वल्कि वछडोको पिला दिया है जिससे वे हृष्ट-पुष्ट हो अपनी क्रीडाएँ सम्पन्न कर रहे[३] है।

पकी हुई वालोसे नम्रीभूत हुए धानके खेत प्रत्येक पथिकका मन अपनी ओर आकृष्ट कर[४] रहे थे। धानके खेतोमे उत्पन्न हुए कमलोको सुगन्धि लेनेके लिए धानके पौधे उन्नत होकर भी अपनी मञ्जरके कारण नीचे झुक रहे[५] थे।

धानसे समृद्ध खेतोकी रखवाली कृपककन्याएँ कर रही थी। वे अपने कानों मे नाल सहित कमलके कर्णफूल पहने हुए थी। खेतोकी समृद्धिको देखकर उनका मन आनन्दविभोर हो रहा था, अतएव वे मनोहर गाना गाकर हंसोको अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। कृपककन्याओका मधुर गायन सुनकर पथिक भी कुछ क्षणके लिए रुक जाते थे। कुछ कृपकवालाएँ अपने कानोंमे धानकी वाल ही धारण किये थी। पके हुए धानोकी सुगन्धि कमलकी गन्धके साथ मिलकर पथिकोके मनको तृप्त कर रही[६] थी।

पके हुए धानोके खेतोको काटनेमे व्यस्त कृषक वर्ग अत्यन्त प्रसन्न दिखलाई पड़ रहे थे। कृपकोकी मुख मुद्राएँ आर्थिक समृद्धिकी ओर संकेत कर रही थी। ग्रामके निकटवर्ती मार्ग कीचड युक्त होनेके कारण मवेशियोके चरण-चिन्होसे अङ्कित हो रहे थे। कुछ गाँवोमे वाटिकाएँ भी सुशोभित हो रही थी, जिनमे सभी प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे थे।[७]

जहाँ-तहाँ लौकी और तुरईकी लताएँ शोभित हो रही थी। फूलोसे ढकी हुई वावड़ियाँ एवं विभिन्न प्रकारकी तरकारियोंसे युक्त समीपवर्त्ती खेत मनको प्रसन्न कर रहे थे। झोपडियोके समीपमें फल एवं फूलोसे झुकी हुई लताएँ सभीके मनको प्रसन्न कर रही थी। ग्रामवासियोके यहाँ घृत, दधि, दुग्ध, गुड, फल आदि पदार्थोकी कमी नही थी। अतः वे महाराज भरतके सम्मुख उक्त पदार्थोकी भेंट समर्पित कर रहे[८] थे।

उपर्युक्त ग्राम्य चित्रणसे वहाँकी आर्थिक समृद्धिका सांगोपाग विवरण उपलब्ध होता है, अनाज, तरकारियाँ, फल, दूध, दही, घृत एवं गुड़ आदि उपभोगके

---

१. आदिपुराण २६।१०९। २. वही, २६।११०। ३ वही, २६।१११। ४. वही, २६।११२। ५. वही, २६।११३। ७. वही, २६।११५-१२०। ७. वही, २६।१२१-१२३। ८. वही, २६।१२४-१२७।

पदार्थ प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न होते थे। ग्रामोकी समृद्धि पशुधनपर निर्भर थी, क्योंकि पशुओके विना कृषि सम्भव ही नही है। गायकी उपयोगिता दूध देने एवं उपभोग योग्य पदार्थ प्रस्तुत करनेकी दृष्टिसे जितनी है उससे कही अधिक कृपकों-की दृष्टिसे है। उन्नतस्कन्ध वृपभ हल, गाडी एवं कोल्हू आदिमे जोते जाते थे। समृद्ध ग्राम अपनी आवश्यकताओकी समस्त वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करते थे। इसी कारण उन्हे आत्मनिर्भर कहा गया है। वाजार गावोके भीतर ही रहते थे। वाहरी वाजारपर गाँव निर्भर नही थे। कृपिके प्रसंगमे आये हुए सन्दर्भोसे भी यह सिद्ध होता है कि आदिपुराणके भारतके ग्राम अपनी सामान्य आवश्यकताओकी सभी वस्तुएँ उत्पन्न करते थे। उन्हें उपयोगिताकी वस्तुएँ प्राप्त करनेके लिए नगरोकी शरण नही लेनी पड़ती थी। झोपडी वनानेके लिए वास, घास एवं अन्य उपयोगी सामग्रियाँ वही उत्पन्न होती थी, अतः आवासकी व्यवस्था सम्वन्धी उपकरणोको खरीदनेके लिए ग्रामीणोको अन्यत्र नही जाना पडता था। लुहार फाल, हसुए, खुरपी आदि तैयार करता था और वढई हल, जुआ एवं चारपाई आदि उपभोगकी सामग्रियाँ वनाता था। गाँवका धोवी कपडे धोता था, रंगरेज उन्हे रंगता था एवं जुलाहा कपड़ा वुनता था। सूचिकार (दर्जी) कपड़े सीकर देते थे। उत्तरीय और अधोवस्त्रोको सीनेकी आवश्यकता नही होती थी। अतएव संक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि आदिपुराणमे प्रतिपादित भारतकी आर्थिक अवस्था समृद्ध थी। कृषकवर्ग, कर्मकर एवं व्यवसायी सभी सन्तुष्ट एवं प्रसन्न थे।

आर्थिक समृद्धि

धन एकत्र करनेकी तत्परताको आदिपुराणमे "धनोञ्छनचुञ्चुना.[1]" कहा गया है। आदिपुराणकी मान्यता है कि दरिद्रता समस्त कष्टोंका घर है, इसीलिए "अहो कष्टा दरिद्रता[2]" द्वारा आर्थिक समृद्धिको सुखका हेतु होनेका संकेत किया है। जिस ग्रामीण समृद्धिका पूर्वमे निर्देश किया है वह समृद्धि भी आर्थिक जीवन-को अभिव्यक्त करती है। आदिपुराणमे वताया गया है कि मणिकुण्डल, मुद्रिका, हार, यष्टि, कटक, केयूर, अंगद, तुलाकोटिक, कण्ठिका, चूडारत्न, मुक्तादाम, काञ्ची, उत्तंस, चूडामणि, मणिहार, रत्नकुण्डल, हारलता, कण्ठाभरण, नक्षत्र-मालाहार, विजयछन्दहार, मकराकृतिकुण्डल आदि अनेक प्रकारके आभूपण धारण किये जाते थे। इन आभूपणोंके अध्ययनसे आदिपुराणके भारतकी समृद्धिका पूर्णचित्र उपलब्ध होता है। वाहनके हेतु प्रयुक्त होनेवाले गज, अश्व, रथ आदि भी समृद्ध जीवनका चित्र प्रस्तुत करते है। इस ग्रन्थमें एक "अक्षीण महानस[3] ऋद्धि" का उल्लेख आया है। यह ऋद्धि इस प्रकारकी विशेपता रखती है कि जिसे यह प्राप्त हो जाती है, उसके यहाँ भोगोपभोगकी कोई वस्तु कभी क्षीण

१. आदिपुराण ३५।१२२। २. वही, २६।४९। ३. वही, ३६।१५५।

नही होती। भरत चक्रवर्तीकी उपलब्धियोमे अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व आदि अष्टसिद्धियो[१]का उल्लेख आया है। ये सिद्धियाँ जिसे प्राप्त हो जाती थी, वह आर्थिक दृष्टिसे अत्यन्त समृद्ध रहता था। भरत चक्रवर्तीको अष्टसिद्धियोके साथ नव[२] निधियाँ भी प्राप्त थी। ये सिद्धियाँ और निधियाँ इस बातका सकेत करती है कि आदिपुराणके भारतमे राजा, महाराजा और सम्राट अत्यधिक सम्पन्न थे। भौतिक दृष्टिसे सुख-समृद्धिके सभी साधन उन्हे उपलब्ध थे। चक्रवर्तीके वैभवमे बताया गया है कि अठारह करो और चौरासी लाख हाथी थे। चौदह रत्न[३] भी उन्हें उपलब्ध थे, जिन रत्नोकी सहायतासे उन्हे सभी प्रकारके भोगोपभोगके पदार्थ प्राप्त होते थे। निधियोका आधुनिक दृष्टिसे अध्ययन करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि ये निधियाँ शिल्पशालाएँ (Factories) थी। काल[४] नामकी निधि (Factory) मे ग्रन्थमुद्रण या ग्रन्थ लेखनका कार्य होता था। साथ ही वाद्य भी इसी शिल्पशाला द्वारा उत्पन्न किये जाते थे। महाकाल[५] निधि शिल्पशालामे विभिन्न प्रकारके आयुध तैयार किये जाते थे। नैसर्प्य निधिमे[६] शय्या, आसन एवं भवनोके उपकरण तैयार किये जाते थे। भवन बनानेका कार्य भी इसी शिल्पशाला द्वारा सम्पन्न होता था। विभिन्न प्रकारके धान्यो और रसोकी उत्पत्ति पाण्डुकनिधि[७]—उद्योग व्यवसाय द्वारा सम्पन्न होती थी। पद्मनिधि[८] नामक व्यवसाय केन्द्रसे रेशमी एवं सूतीवस्त्र तैयार होते थे। दिव्याभरण एवं धातुसम्बन्धी कार्य पिङ्गल नामक व्यवसाय केन्द्रमें[९] सम्पन्न किये जाते थे। माणव[१०] नामक उद्योग-गृहसे शस्त्रोकी प्राप्ति होती थी। प्रदक्षिणावर्त[११] नामक उद्योगशालामे सुवर्ण तैयार किया जाता था। शंख[१२] नामक उद्योगशालामे स्वर्णकी सफाई कर उसे शुद्धरूपमे उपस्थित किया जाता था। सर्वरत्न[१३] नामक उद्योगशाला नील, पद्मराग, मरकतमणि, माणिक्य आदि विभिन्न प्रकारकी मणियोको खानसे निकालकर उन्हे सुसंस्कृत रूपमे उपस्थित करनेका कार्य करती थी। इस प्रकार भरत चक्रवर्तीके यहाँ नव प्रकारकी उद्योगशालाएँ थी। निधिका समाजशास्त्रीय अर्थ उद्योगशाला है। निधियोके जिन कार्योका वर्णन आदिपुराणमे आया है, वे सभी कार्य उद्योगशालाओ द्वारा हो सम्पन्न किये जा सकते है। अतः पौराणिकनिधिको वर्त्तमान अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे उद्योगशाला माननेसे किसी प्रकारकी विप्रत्तियति दिखलाई नही पड़ती।

---

१. आदि० ३८।१९३। २. वही, ३७।७३-७४। ३. आदिपुराण ३७।८३। ४. वही, ३७।७५-७६। ५ वही, ३७।७७। ६ वही, ३७।७८। ७. वही, ३७।७८। ८. वही, ३७।७९। ९ वही, ३७।८०। १०. वही, ३७।८०। ११. वही, ३७।८१। १२. वही, ३७।८१। १३ वही, ३७।८२।

भरतचक्रवर्तीके चतुर्दश रत्नोमे कुछ ऐसे रत्न है, जिनका सम्बन्ध आर्थिक समृद्धिसे है। अवतंसिका माला[1] दिव्य और बहुमूल्य है। इस मालाको धारण करनेवाला व्यक्ति तो महान् होता ही है, पर इसका चमत्कार भी अद्भुत है। भारतीय ज्योतिषशास्त्र और रत्नशास्त्रके अनुसार अनेक रत्नोमे रोगके निवारणकी क्षमता रहती है। अनेक रत्नोंकी ऐसी मालाएँ बनायी जाती है जो शरीरसे निकलनेवाले विद्युत्कणोका उपशमन कर सुख और समृद्धिका साधन बनती है। अवतंसिका माला और सिंहाटकमाला[2] दोनो ही रोग, शोक, दुःख-दारिद्र्य आदिको दूर करनेवाली और धनसमृद्धिको देनेवाली है। सूर्यप्रभछत्र[3] भी कान्ति और तेजको प्रदान करनेवाला है। यह बहुमूल्य मणियो द्वारा निर्मित होता है और इसके धारण करनेसे शारीरिक सौन्दर्य बढ़ जाता है। चक्रवर्तीकी विभूतिमे सिंहवाहिनी शय्या[4], देवरम्या[5] चांदनी, अनुतर सिंहासन[6], अनुपमान चमर[7], चिन्तामणि रत्न[8], दिव्यरत्न[9], विद्युत्कान्तिवाले वीरांगद कड़े[10], विषमोचका खड़ाऊँ[11], चिन्ताजननी काकड़ी[12], आदि परिगणित किये गये है।

आदिपुराणमें भोगके दशभेद बतलाये गये है। जब कोई भी जाति या देश अर्थकी दृष्टिसे समृद्ध हो जाता है, तभी उसके जीवनमे विलास और वैभवका प्रारम्भ होता है। आदिपुराणमे जिस भारतका चित्रण है, उस भारतका सम्बन्ध विशेषरूपसे सामन्तवर्गके साथ है। अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे आदिपुराणके भारतके उपभोक्ताओंको निम्नलिखित वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. सामन्तवर्ग
२. कृषकवर्ग
३. सम्राटवर्ग
४. श्रेष्ठिवर्ग
५. जनसाधारणवर्ग

सामन्तवर्गके व्यक्तियोका उद्देश्य आमोद-प्रमोद पूर्वक जीवन यापन करना था। शासनके साथ वे आराम और विलासिता सम्बन्धी सामग्रियोका पूर्ण उपभोग करते थे। सामन्त, श्रेष्ठि और सम्राट् ये तीनो वर्ग नागरिक सभ्यताके प्रतिनिधि है। नागरिक जीवन आर्थिक समृद्धिका जीवन है। विलास और आराम दोनोंको ही इस जीवनमे स्थान प्राप्त है। कृषक एवं सामान्यवर्गके व्यक्ति ग्राम्य सभ्यताके प्रतीक है। यद्यपि ग्रामोंका आर्थिक स्तर आजसे कहीं उन्नत था, तो

१. आदिपुराण ३७।५३। २. वही, ३७।६४। ३. वही, ३७।५६। ४. वही, ३७।५४। ५ वही, ३७।५३। ६. वही, ३७।५४। ७ वही, ३७।५५। ८. वही, ३७।५७। ९ वही, ३७।८१। १०. वही, ३७।८५। ११. वही, ३७।५८। १२. वही, ३७।६३।

भी नागरिक जीवनकी अपेक्षा ग्रामीण जीवन वैभवहीन और असमृद्ध था।
नागरिक सभ्यताकी दृष्टिसे जीवनके दश[1] प्रधान भोग माने गये हैं—(१) रत्न (२) देवियाँ (३) नगर (४) शय्या (५) आसन (६) सेना (७) नाट्यशाला (८) वर्त्तन (९) भोजन और (१०) वाहन।

वैभव और ऐश्वर्यके प्राप्त होनेपर ही स्वर्ण, रजतके पात्रोंमें सुस्वादु और पुष्टिकर भोजन ग्रहण करनेकी कामना जागृत होती है। उत्तमशय्या, आसन और वाहन भी वैभव सम्पन्न व्यक्ति प्राप्त करता है। आरामयुक्त सुखी जीवनके लिए नगरनिवास भी आवश्यक है। नगरमें निवास करने वाले व्यक्ति प्रबुद्ध और सुरुचि सम्पन्न होते हैं। विलास और वैभवकी सामग्रियोंके प्राप्त होनेपर ही पुत्रैषणाकी तृप्तिके लिए स्त्रीकी आवश्यकता होती है। लोकैषणा और वित्तैषणासे बढ़कर पुत्रैषणा है। अतः आर्थिक समृद्धिके साथ उक्त दश प्रकारके भोगोंका सम्बन्ध है। अर्थशास्त्रमें तीन प्रकारके उपभोगोंका वर्णन आता है—तात्कालिक उपभोग, उत्पादक उपभोग और स्थगित उपभोग। तात्कालिक उपभोग वह है जिससे वस्तुकी उपयोगिता तत्काल समाप्त होकर आवश्यकताकी पूर्ति उसी क्षण हो जाय। उक्त दश उपभोगके साधनोंमें भोजन, वाहन एवं रमणियाँ तात्कालिक उपभोगके साधन हैं। दूसरी दृष्टिसे यों भी कहा जा सकता है कि उक्त तीनों उपभोगके साधनोंकी उपयोगिता शनैः शनैः समाप्त होती है और आवश्यकताकी पूर्ति क्रमशः होती जाती है।

उत्पादक उपभोगका तात्पर्य किसी वस्तुके उत्पादन कार्यमें प्रयोगसे है। यथा बीज, उद्योगशालाके यन्त्र आदि। वर्तन, शय्या, आसन हम अन्तिम उपभोग कह सकते हैं क्योंकि इन साधनों द्वारा प्रत्यक्षरूपसे उपभोक्ताओंकी पूर्ति होती है।

स्थगित उपभोगका अर्थ है बचाकर भविष्यमें उपभोगके लिए रखना। यथा—रत्न, अन्नसञ्चय एवं विभूति आदि। अतएव स्पष्ट है कि आदिपुराणमें आर्थिक समृद्धिका चित्रण पूर्णतया पाया जाता है।

आदिपुराणके पात्रोंके जीवनका अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि अधिकांश पात्र राजन्यवर्ग, श्रेष्ठिवर्ग एवं सामन्तवर्गसे आते हैं। उन सभी पात्रोंका जीवन आर्थिकदृष्टिसे समृद्ध है। सुन्दर वेशभूषा, अलंकृत परिधान एवं गजाश्वादि वाहन आर्थिक सन्तुलनके परिचायक हैं। धनको मानवकल्याणका साधन माना गया है। कल्याणसे सुख (Happiness) आनन्द (pleasure) और सन्तुष्टि (Satisfaction) का बोध होता है। जिसका अनुभव मनुष्यको किसी

१. आदि० ३७।१४२-१४३।

वस्तुकी प्राप्तिके बाद अथवा उसके उपभोगके अनन्तर मन और मस्तिष्कमे होता है। अर्थ मानवकी आवश्यकताकी पूर्तिका साधन बनता है और इससे उसे सुख, आनन्द और तृप्ति प्राप्त होती है। धनसे प्राप्त सुख अलौकिक या आध्यात्मिक नही है। इसको हम भौतिक सुख (Materıol pleasure) अथवा कल्याण कह सकते हैं। समाजकल्याणकी दृष्टिसे भी धनको आवश्यक माना गया है।

आदिपुराणके भारतकी समृद्धिका चित्रण स्वय जिनसेनने[1] करते हुए लिखा है—

नानारत्ननिधानदेशविलसत्संपत्तिगुर्वीमिमां
साम्राज्यश्रियमेकभोगनियतां कृत्वाऽखिलां पालयन्।
योऽभून्नैव किलाकुलः कुलवधूमेकामिवाङ्कस्थितां
सोऽयं चक्रधरोऽभुनक् भुवमभूमेकातपत्रां चिरम्॥

स्पष्ट है कि आदिपुराणका भारत रत्नों, निधियो और सभी प्रकारकी सम्पत्तियोसे युक्त एक सम्पन्न देश था।

द्वितीय परिच्छेद

आजीविकाके साधन

आदिपुराणमे आजीविकाके प्रमुख छह साधनोका निर्देश पाया जाता है। आजीविकाके साधनोके अध्ययनसे अवगत होता है कि आदिपुराणके रचयिता जिनसेनके सभी वर्गके व्यक्तियोके लिए आजीविकाके साधनोंका निर्देश किया है। बताया[2] है—

असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः॥

अर्थात् आजीविकाके ६ साधन बतलाये गये है—

१ असि—सैनिक वृत्ति

२ मषि—लिपिक वृत्ति

३ कृषि—खेतीका कार्य

४. विद्या—अध्यापनका कार्य या शास्त्रोपदेश।

---

१. आदिपुराण ३६।२०२। २. वही १६।१७९।

५ वाणिज्य—व्यापार, व्यवसाय।

६. शिल्प—कलाकौशल।

आदिपुराणके एक अन्य सन्दर्भमे गृहस्थोको 'पट्कर्मजीविनाम्[1]' कहा गया है। यहाँ पट्कर्मजीवीका अभिप्राय भी असि, मपि आदि पट्कर्मोसे ही है।

जिनसेनने इन पट्कर्मोकी परिभापाएँ और व्याख्याएँ भी दी है। हम यहाँ क्रमश. एक-एक आजीविकाके माधनपर विचार प्रस्तुत करेंगे।

असिकर्म[2]

असिकर्मका अभिप्राय तलवार, मुद्गर आदि अस्त्र धारणकर सेवा करनेसे है। वस्तुत यह सैनिक वृत्ति है। पुलिस या सेनाकी नौकरी करते हुए आजीविका अर्जन करना असिवृत्तिके अन्तर्गत है। असिवृत्तिका कार्य उस क्षेत्र तक ग्राह्य है जिस क्षेत्रमें समाज, धर्म, देश एवं राष्ट्रकी रक्षाका सम्बन्व रहता है। जव असिकर्म उस क्षेत्रका अतिक्रमण कर जाता है, उस समय त्याज्य हो जाता है। जो सामने अस्त्र लिये हुए खड़ा है, देशको पदाक्रान्त करना चाहता है ऐसे व्यक्तिके ऊपर शस्त्रका प्रयोग करना अनुचित नही माना जाता। आदिपुराणमे "क्षत्रिया शस्त्रजीवित्वम्[3]" का उल्लेख आया है। इस उल्लेखसे यह स्पष्ट होता है कि शस्त्र धारण कर क्षत्रियजातिके व्यक्ति आजीविका सम्पन्न करते थे। शस्त्रजीवी व्यक्तियोका समाजमे वही स्थान था, जो शास्त्रजीवियोका है। रक्षा व्यवस्था क्षत्रियोके हाथमें थी, अतएव अस्त्र-शस्त्र के व्यवहार द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करना असिकर्म है। यहाँ 'असि' पद लाक्षणिक है और अपने साहचर्य सम्बन्धसे दण्ड, मुद्गर, भाला, वरछा आदि शस्त्र ग्रहणकर रक्षाविधानकी ओर संकेत करता है।

मषिकर्म

मपिकर्मका तात्पर्य लिपिक कार्यसे है। यह लिपिकका कार्यकर कार्यालयोका सञ्चालन करता था। जो व्यक्ति प्रशासनके किसी भी कार्यमे योगदानके लिए लिपिक या गणकका काम करता वह मषिवृत्ति कहलाता था। कौटिलीय अर्थशास्त्रमे इसीको लेखक कहा गया है। उसकी योग्यताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि लेखकको आमात्यकी योग्यताओ वाला, आचार-विचारका ज्ञाता, शीघ्र ही सुन्दर वाक्य योजनामें निपुण, सुलेखक और भिन्न-भिन्न लिपियोको लिखने-पढनेवाला होना चाहिये। वह लेखक प्रकृतिस्थ होकर राजाके सन्देशको सुने

१. वही, ३९।१४३। २. वही, १६।१८१। ३. वही, १६, १८४।

और पूर्वापर प्रसंगोंको दृष्टिमे रखकर स्पष्ट अभिप्रायको प्रकट करनेवाले लेखको[1] लिखे। लेख यदि किसी राजासे सम्बद्ध हो तो उसमे देश, ऐश्वर्य, वंश और नामका स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये।[1] यदि उसका सम्बन्ध किसी अमात्यसे हो तो उसमे केवल उसके देश और नामका ही उल्लेख किया जाय। लेख यदि राजकार्यसे सम्बन्वित हो तो जाति, कुल, स्थान, योग्यता, आयु, कार्य, धनसम्पत्ति, सदाचार, देशकाल एवं वैवाहिक सम्बन्ध आदि बातोका विचार करना आवश्यक[2] है। संक्षेपमे लेखकी योग्यताएँ निम्न प्रकार है—

१. अर्थक्रम[3]—प्रधान अर्थ और अप्रधान अर्थको पूर्वापर यथानुक्रममे रखना ही अर्थक्रम है।

२ सम्बन्ध[4]—लेखकी समाप्ति पर्यन्त अगला अर्थ प्रस्तुत अर्थका बाधक न होनेपर अर्थसम्बन्ध कहलाता है।

३ परिपूर्णता[5]—परिपूर्णताका तात्पर्य सार्थक शब्दावलि द्वारा पूर्ण भावोंको अभिव्यक्त करना है।

४. माधुर्य[6]—सरल सुबोध शब्दोका प्रयोग करना माधुर्य है।

५. औदार्य[7]—शिष्ट शब्दोंका प्रयोग करना औदार्य है।

६ स्पष्टता—[8] सुप्रसिद्ध शब्दोंका प्रयोग करना स्पष्टता है। लेखकके दोपोंका निर्देश करते हुए बताया है कि उसमे ईर्ष्या, निन्दा, आत्मप्रशंसा, भर्त्सना आदि दोष नही होने[9] चाहिए।

कौटिलीय अर्थशास्त्रमें लेखक और लेख इन दोनोका बहुत ही स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण वर्णन आया है। इस ग्रन्थसे यह भी ज्ञात होता है कि लेखक या मषिजीवी मुहर्रिर का भी कार्य करता था और इसके विवेचनमे "लेखकश्चेदुक्तं न लिखति, अनुक्तं लिखति, दुरुक्तमुपलिखति, सूक्तमुल्लिखति, अर्थोत्पत्तिं वा विकल्पयतीति[10]" अर्थात् लेखक बयानोमे कही हुई बातोको न लिखे, बिना कही हुई बातोको लिखे, बुरी बातोको अच्छी और अच्छी बातोको बुरीकी तरह लिखे, अथवा अभिप्राय बदलकर लिखे—इस प्रकारके लेखकको दण्डनीय माना गया है। संक्षेपमे मषिजीवी व्यक्ति राज्यशासनमे सहायता देनेके लिए लेखकका कार्य सम्पन्न करता है।

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र, चौखम्बा संस्करण १९६२ पृ० १४३। २. वही, पृ० १४४। ३. वही, पृ० १४४। ४. वही, पृ० १४४। ५. वही, पृ० १४४। ६. वही, पृ० १४४। ७. वही, पृ० १४५। ८. प्रतीतशब्दप्रयोग : स्पष्टत्वमिति—कौटिलीय अर्थशास्त्र चौखम्बा, पृ० १४५। ९ देखिये—वही, प्रकरण २६, अध्याय १०, शासनाधिकार। १०. वही, पृ० ४६७।

लेखक, गणक, पादाता और शिल्पकारका वेतन निर्धारित करते हुए लिखा है कि इस श्रेणीके कर्मचारियोंको पाँच सौ पण[१] प्रतिवर्ष देना चाहिये। कौटिल्य और आदिपुराण दोनोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक प्रशासनका एक वहुत वडा अंग था। लेखपत्र प्रस्तुत करना, प्रज्ञापना लिखना, आज्ञा लिखना आदि कार्य लेखकके माने जाते थे। लेखकके ऊपर एक अधिकारी वर्गका व्यक्ति रहता था, जिसके निर्देशनमे उसे लेखकार्य प्रस्तुत करना होता था।

कृषिकर्म[२]

आदिपुराणमे भूकर्पणको कृपि कहा है। जमीनको जोतना, वोना कृपिकर्म है। कृपिकर्म भारतके लिए वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कृपिके लिए अच्छी और उपजाऊ धरती, सिंचाईके साधन, सहज प्राप्य श्रम और वीज आवश्यक है। खेतीकी जमीनकी मिट्टी कई प्रकारकी होती थी। उपजाऊ मिट्टी कृष्ण, लाल और पीत वर्णकी मानी गयी है। कृपिजीवी श्रमिक स्वयंकी खेती करनेके अनन्तर दूसरोंके कृपिकर्ममे भी सहायता प्रदान करते थे। इनके पास हल, वैल और कृपिके औजार रहते थे और वुलाये जानेपर दूसरोंके खेतको वो-जोत देते थे। कृपि-विद्याके विशारदोंकी वडी ही प्रतिष्ठा थी। जो व्यक्ति कृपिके कार्योंको सम्पादित करते थे, वे समाजमे आदरकी दृष्टिसे देखे जाते थे। कृपि कर्मको एक आवश्यक और उपयोगी जीविकाका साधन माना है।

आर्थिक विकासकी दृष्टिसे कृपिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृपि और औद्योगिक विकास दोनो एक-दूसरेपर अवलम्वित है। प्रारम्भमे ये भले ही एक दूसरेके प्रतियोगी मालूम पडें, किन्तु दीर्घकालमे इनका सम्वन्ध एक दूसरेका अनुपूरक है। आर्थिक विकासके इतिहासका आलोडन करनेपर ज्ञात होता है कि औद्योगिक विकास कृपिके द्वारा ही पुष्ट होता है। अर्थशास्त्रके एक विज्ञ विद्वानने लिखा है—"आजके प्रमुख औद्योगिक देश किसी समय कृपिप्रधान रहे थे और आर्थिक इतिहासकारोंने उन विभिन्न मार्गो का पता लगाया है, जिनमे एक समृद्धिशाली और विस्तारशील कृपिने निर्माणकारी उद्योगोंकी समीपवर्ती और परवर्ती स्थापना तथा प्रसारके लिए आधार प्रस्तुत किया[3] है।"

इसमे सन्देह नही कि आर्थिक दृष्टिसे कृपिकर्मका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके कुछ तत्त्व—मिट्टी, जलवायु, धरातल, उर्वरा शक्ति आदि सापेक्षत. अपरिवर्तनीय है, पर भूमिव्यवस्था, सिंचाई, खाद आदि ऐसे तत्त्व है जिनमे समयानुसार परिवर्तन कर कृपिका विकास किया जा सकता है। आदिपुराणमे परिवर्त-

---

१. शिल्पवन्त पादाता· संख्यायकलेखकादिवर्गा. पञ्चशताः। वही, पृ० ५१४। २. आदिपुराण १६।१८१। ३. B. S —'The Economics of under developed countries : Page 235।

नीय साधनोमे सिंचाईको बहुत महत्त्व दिया है। सिंचाई दो रूपोमे सम्पन्न की जाती थी—अदेवमातृका[1] और देवमातृका[2]। अदेवमातृकाका तात्पर्य नदी, नहर, आदि द्वारा सिंचाईके प्रबन्धसे है। आदिपुराणमे बताया गया है कि कृषक नहर और नदीके जलसे खेतीको सीचते थे। एक अन्य सन्दर्भमे आया है कि सिंचाईके लिए घटीयन्त्र[3] (रहट) भी व्यवहारमे लाया जाता था। जो कृषक अपनी फसलको समृद्ध बनाना चाहते थे और एक ही खेतसे अधिक उपज लेना चाहते थे, वे घटीयन्त्रका व्यवहार करते थे।

घटीयन्त्रके अतिरिक्त कूप[4], वापी[5] और सरोवरोसे[6] भी सिचाईकी व्यवस्था की गयी थी। नदियोसे छोटी-छोटी कुल्याएँ—नहरें निकाली गयी थी और इन नहरोसे सिचाई की जाती थी। वापी और प्रपा[7] जलके सञ्चित भण्डार थे। प्रपाका अर्थ वर्त्तमान 'अहर' है। कृषक आज भी खेतके नीचे गड्ढा खोदकर पानीका सञ्चय करते है और उस पानीसे खेतोकी सिंचाई करते है।

कुओसे भी सिंचाई होती थी। कुओमे रहट लगाया जाता था और रहट द्वारा खेतोको सीचा जाता था। तडाग[8] भी सिंचाईके लिये काममे लाये जाते थे। इस प्रकार आदिपुराणके भारतमे सिंचाईकी व्यवस्था पर्याप्त समृद्ध थी।

वर्षा भी समयानुसार पर्याप्तरूपमे होती थी। आदिपुराणमे अलंकृतरूपमे वर्षाका वर्णन करते हुए लिखा है—

"बलाकालिपताकाढ्याः स्तनिता मन्द्रबृंहिताः।
जीमूता यत्र वर्षन्तो भान्ति मत्ता इव द्विपाः[9] ॥"

स्पष्ट है कि यथेष्ट रूपमे वर्षाके होनेसे खेती अच्छे रूपमे उत्पन्न होती थी।

आदिपुराणमें 'कुल्याप्रणालीप्रसृतोदका[10]' पद आया है। इस पदसे यह स्पष्ट है कि सिंचाईके लिए नहरे तो थी ही, पर इन नहरोसे छोटी-छोटी नालियाँ बनाकर जलको अपने-अपने खेतोमे लानेकी प्रणाली भी प्रचलित थी। अतएव संक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि आदिपुराणके भारतमे केवल वर्षाके जलके ऊपर ही कृषि अवलम्बित नही थी, अपितु सिंचाईके लिये कृत्रिम साधन भी प्रचलित थे।

उत्पन्न होनेवाले अनाज

उस समय खेतोमे विभिन्न प्रकारके अनाज उत्पन्न होते थे। साठी, कलम,

---

१. आदिपुराण १७।१५७। २. वही, १६।१५७। ३. वही, १७।२४। ४. वही, ४।७२। ५. वही, ५।१०४। ६. वही, ५।२५६। ७. वही, ४ ७१। ८. आदिपुराण ४।७२। ९. वही, ४।७६। १०. वही, ३५।४०।

व्रीहि, शाल्य, जौ, गेहूँ, कागनी, सामा, कोदो, नीवार, तिल, अलसी, मसूर, सरसों, मूंग, उडद, अरहर, माष, मोठ, चना, कुल्थी, तेवरा, कपास, इक्षु आदि[1] की खेती होती थी और ये सभी अन्न प्रचुररूपमे उत्पन्न होते थे। बताया है कि[2] वर्षाके अनन्तर भूमि आर्द्र हो जाती है। पश्चात् सूर्यकी तेज किरणोंके कारण उस आर्द्र हुई भूमिमें उष्णता उत्पन्न होती है, जिससे भूमिमें डाले गये बीजमे अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। ये अंकुर बढ़ते हुए क्रमशः फलावस्थाको प्राप्त होते हैं। कृषक कृष्टपच्याभूमिमे कृषि उत्पत्तिकी साधन-सम्पन्न प्रक्रियाका उपयोग कर अपनी फसलको समृद्ध बनाते थे। फसलके लिए बीजका भी महत्व है। कृषक उत्तम कोटिके बीजको चुनकर रखते थे, जिसका समय पर उपयोग कर कई गुनी फसल उत्पन्न कर लेते थे।

इक्षु और पुण्ड्रेक्षुकी उत्पत्ति भी पर्याप्त मात्रामें होती थी। इक्षुरसका उपयोग करना भी उस समयके कृषक जानते थे।

फसलको काटना और मॉड़ना

आदिपुराणमे कृषिकी विभिन्न स्थितियोंका चित्रण आया है। बोना, निराना आदि क्रियाओंके अतिरिक्त काटना, मॉड़ना और ओसाना जैसी क्रियाएँ भी सम्पन्न की जाती थी। बताया गया है कि कृषक पके हुए खेतोंकी समृद्धिको देखकर आनन्द-विभोर हो जाते थे और जब खेत बिलकुल पक जाते और काटनेकी स्थितिमें आजाते, तब वे परिवार सहित हँसिये लिए हुए खेत पर पहुँच जाते थे। खेत काटते समय शीघ्रता करनेके कारण संघर्ष उत्पन्न हो जाता था और इस संघर्षकी सूचना तूर्यवाद्य द्वारा दी जाती थी[3]। खेत काटकर खलिहानमें ले आते थे। इस काटकर अनाजके रखनेकी क्रियाको मॉडना कहा जाता है। वास्तवमे मॉडनेकी क्रिया उस समय पूर्ण होती है, जब बैलोंद्वारा दॅवरी की जाती है और भूसाको अलग कर अनाजको एकत्र कर लिया जाता है। आदिपुराणमे पलाल[4] शब्दका प्रयोग हुआ है जो ओसानेके कृषिकर्मकी ओर संकेत करता है।

कृषिरक्षा

खेतीको रक्षा करनेके लिए कृषकबालाएँ या गोपागनाएँ बहुत ही प्रयास करती है। शुक, चटक आदि पक्षी धानकी मञ्जरियोंको तोड़कर न ले जा सकें, इसके लिए वे निरन्तर प्रयास करती हैं। रक्षा करने वाली बालाओंका चित्रण कृषिरक्षाकी दृष्टिसे जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है उतना ही काव्यसौन्दर्यकी दृष्टिसे। बताया गया हैं कि सुगन्धित धानकी सुगन्धिके समान सुवासित श्वाससे युक्त

---

१. आदि० ३।१८६-१८७। २. वही, ३।१७९-१८२। ३. सकुटुम्बिभिरद्दात्रैर्नृत्यद्भिरभिनन्दितान्। केदारलावसंघर्षंतूर्यघोषान्न्यशामयत् ॥ वही, ३५।३०। ४ वही, १२।२४४।

गोपवालाएँ धानकी वालोको कर्णभूपणके रूपमे धारण किये हुए कृपिरक्षामे तत्पर रहनेके कारण श्रम करनेसे उनके वक्षस्थलपर उत्पन्न हुई पसीनेकी बूँदें मोतियोके समान सुशोभित हो रही थी। वे वालाएँ हरितवर्णकी कञ्चुकियाँ धारण किये हुए थी और पक्षियोको उड़ानेके लिए छो-छो शब्द करती हुई खेतकी रक्षामे तत्पर[1] थी। कृपि रक्षाके लिए चञ्चापुरुप स्थापित किये जाते थे। इन चञ्चापुरुपोको देखकर पशु भाग जाते थे।[2]

कृपिके लिए राज्यसे प्राप्त साधन

कृपिविकासका दायित्व आदिपुराणके भारतमे राजापर था। राज्यकी ओर-से हल, वैल आदि तो किसानोंको दिये ही जाते थे, पर वह वीज एवं अन्य साधन भी कृपकोंको प्रदान करता था। वताया है—

> तथा भूपोऽप्यतन्द्रालुर्भक्तग्रामेपु कारयेत्।
> कृपिं कर्मान्तिकैर्बीजप्रदानाद्यैरुपक्रमैः[3] ॥

अर्थात् कृपिविकासके लिए खाद, वीज एवं अन्य उपकरणोंकी व्यवस्था राज्य द्वारा होनी चाहिये। जो राज्य कृपको द्वारा भलीभाँति कृषि कराकर धान्य संग्रह करता है, वही अपने देशको सन्तुष्ट एवं सुखी रख सकता है। आर्थिक समृद्धिका मूलकारण कृपि है। कृपिके लिए पशुओ और मवेशियोंकी रक्षाका भी पूर्ण प्रवन्ध होना चाहिये। इस प्रकार आदिपुराणमे कृषि समृद्धिके लिए पूर्ण प्रयत्न किया गया है। राज्यकी ओरसे समयविशेपके लिए अन्नका भी सञ्चय किया जाता था।

विद्याकर्म[4]

'विद्या शास्त्रोपयजीवने' द्वारा आदिपुराणकारने स्वयं ही शास्त्रवृत्तिकी ओर सकेत किया है। विद्या द्वारा आजीविका किये जानेसे यह ध्वनित होता है कि कुछ व्यक्ति पठन-पाठन द्वारा आजीविका सम्पन्न करते थे। विद्याकर्मका सामान्यतः अर्थ उपाध्यायकर्मसे है। शिक्षा देना एवं आवश्यक क्रियाकाण्डोंका सम्पादन करना आजीविकाका एक साधन था। आदिपुराण[5]के एक सन्दर्भमे वताया गया है कि राजाको अपने राज्यमे विद्या-व्यसनी और शास्त्र द्वारा आजीविका सम्पन्न करनेवाले व्यक्तियोंकी आजीविकाका ध्यान रखना चाहिये। जो राजा सेवकोको उचित आजीविका नही दे सकता है, उस राजाका राज्य कीट-खादनसे

---

१. दधतीरातपक्लान्तमुखपर्यन्तसंगिनीः। लावण्यस्येव कणिका. श्रमघर्माम्बुविप्रुप.॥ शुकान् शुकच्छदच्छायैः रुचिराङ्गीस्तनांशुकै। छोकुर्वतीः कलक्वाण सोऽपश्यच्छालिगोपिका ॥ वही, ३५।३५-३६। २. वही, २८।१३०। ३. वही, ४२।१७६। ४. वही, १६।१८१। ५. वही, ४२।१५२–६०।

नष्ट हुए काष्ठके समान नि सार हो जाता है। अतः मपिजीवी और विद्याजीवी व्यक्तियोकी आजीविकाका प्रवन्ध करना आवश्यक है। नृत्य और गायनकी कला भी गायन कर्ममे सम्मिलित है।

वाणिज्यकर्म[1]

व्यापार करना वाणिज्य है। वाणिज्यका आर्थिक विकासकी दृष्टिसे अत्यधिक महत्त्व है। आदिपुराणके एक सन्दर्भमे चार विद्याओं[2] का उल्लेख आया है। ये विद्याएँ आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति है। कौटिलीय अर्थशास्त्र[3]में वार्ताकी व्याख्या कृषि, पशुपालन और व्यापारके रूपमे की गयी है। धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्रादि खनिज पदार्थकी उत्पत्तिका साधन वार्ता है। वार्ताके अभावमे आर्थिक समृद्धि सम्भव नहीं है। जहाँ कृषि, पशुपालन और वाणिज्य व्यवसायोकी उन्नति न हो वहाँ देशकी आर्थिक उन्नति कभी नही हो सकती। इसी कारण आदिपुराणमे[4] वाणिज्य-व्यवसायके साथ पशुपालन और पशुव्यापारको महत्त्व दिया गया है। पशुओंके पालनके समय बहुत ही सतर्क एवं सावधान रहनेकी आवश्यकता है। यदि पशुओको कोई कीडा काट ले, तो तत्काल उसका इलाज होना चाहिये। इसी प्रकार पशुओके घाव आदिको दूर करनेकी विधियाँ भी प्रचलित थी। नस्यकर्मकी जानकारी भी आदिपुराणके भारतको थी। मवेशी के कई रोग नस्यकर्म द्वारा अच्छे किये जाते थे। मवेशीके लिए चरागाह थे। उन्हे चराते समय कण्टक और पापाण रहित भूमिमें ही चराया जाता था। जिस चरागाहमे मवेशीको रखा जाता था, वहाँ शीतातप जन्य वाधा भी नही होती थी।

गाय, भैंस आदि पशुओकी प्रजनन-क्रिया भी उस समय ज्ञात थी। गोप हालके उत्पन्न हुए वच्चेको एक दिन तक माताके साथ रखता था। दूसरे दिन दयाभावसे मुक्त हो उसके पैरमे रस्सी वाँधकर धीरेसे खूँटेसे वाँध देता था। जरायु एवं नाभिके नालको वडे यत्नपूर्वक काटा जाता था। यदि कदाचित् नाल काटनेके कारण कोडे आदि उत्पन्न हो जायें, तो उनका प्रतीकार भी किया जाता था। वछडोको दूध पिलाना, संवर्द्धनके लिए उपयुक्त वातावरणकी व्यवस्था करना, योग्य ओपधियोकी व्यवस्था करना आदि वातें प्रचलित थी। पशुओकी हड्डी या सन्धि स्थानके विचलित होनेपर उसके वैठानेकी क्रिया भी उस समय लोग जानते थे। अतएव यह स्पष्ट है कि वाणिज्य-व्यवसायके साथ पशुपालन भी आर्थिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण था।

---

१. आदिपुराण १६।१८२। २. वही, ४१।१३९। ३. चौखम्वा सस्करण पृ० १५। ४. वही, ४२।१५०–१७१।

पशुओका व्यापार भी किया जाता था। ग्वाले गाय, बैल आदि पशुओको खरीदते थे और अधिक कीमतपर उन्हे बेचते थे। इस खरीद-विक्रयमे एक प्रतिभू— जामिनदार भी होता था, जिसकी जमानतपर मवेशीको खरीदा जाता[1] था। अतएव यह स्पष्ट है कि व्यापार-व्यवसायका कार्य पर्याप्त समृद्ध था।

व्यापारके लिये विदेश भी जाया जाता था। व्यापार स्थलमार्ग और जल-मार्ग दोनो द्वारा सम्पादित होता था। आदिपुराणके एक सन्दर्भमे आया है कि भवदेव नामक व्यक्ति धनोपार्जन कर रतिवेगाके साथ विवाह करना चाहता है। अतएव वह व्यापारके हेतु विदेश गया और वहाँपर नानाप्रकारकी वस्तुओका क्रय-विक्रय करता रहा।[2]

व्यापार करनेके लिए सार्थवाहोका समूह भी जाता था। इस सार्थवाह-समुदायका एक व्यक्ति संघपति होता था और सब उसीके आदेशसे कार्य करते थे। सार्थवाहोका यह वर्ग वर्षोंमे वापस लौटता था, अतएव उनके साथ क्रय-विक्रयकी वस्तुओके अतिरिक्त खाद्य, भोजन, पान आदि भी प्रचुर परिमाणमे सञ्चित रहते थे। हमारे इस कथनकी पुष्टि मेरुकदत्त नामक सेठके आख्यानसे होती है। यह सेठ व्यापारी समुदायसंघका अधिपति था और इसीके परामर्शसे संघका सञ्चालन होता था[3]।

श्रीपालकी जलयात्राएँ भी व्यवसायियोंके जलव्यापारको सूचित करती है[4]। व्यापारियों और व्यवसायियोके चरित्रके अध्ययनसे यह ज्ञात होता है कि व्यवसायमे श्रम, पूंजीके अतिरिक्त साहसकी भी आवश्यकता थी। जलमार्ग-से जाते समय जलपातोंका भग्न होना एवं आधी-तूफानोके द्वारा जलपातोका बीच जलमार्गमे फँस जाना आदि तथ्य जलयात्राकी कठिनाइयोको सूचित करते है।

शिल्पकर्म[5]

आदिपुराणमे 'शिल्पं स्यात्करकौशलम्' अर्थात् हस्तकौशलको शिल्पकर्म कहा है। हस्तकौशलके अन्तर्गत बढई, लोहार, कुम्हार, चमार, सोनार आदिकी उपयोगी कलाएँ तो सम्मिलित थी ही, पर चित्र खीचना, फूल-पत्ते काढना आदि भी इसी श्रेणीमे परिगणित थे। शिल्पकर्मको आजीविकाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। कोटिलीय अर्थशास्त्रमे शिल्पकर्म करनेवालेको प्रतिवर्ष पाँचसौ पण

---

१. आदिपुराण ४२।१७३। २. वही, १०७–१०९। ३. वही, ४६।११२-१४२। ४. वही, ४७।४५-१०८। ५. वही, १६।१८२।

वेतन मिलता था[1]। शिल्पीका महत्त्व कई दृष्टिकोणोसे बहुत अधिक है। इनके कई भेद किये गये है। अर्थशास्त्रमे कारू शिल्पीको प्रतिवर्ष एकसौ बीस पण वेतन देनेकी बात कही गयी[2] है। कौटिलीय अर्थशास्त्रमे 'शिल्पी' शब्दकी व्याख्या करते हुए स्नायक, संवाहक, अरन्तरक, रजक, मालाकार आदिको शिल्पी कहा है। उबटन बनाना, सुगन्धित पाउडर तैयार करना, चन्दनद्रव तैयार करना, कस्तूरी एवं कुंकुम आदिके द्वारा विभिन्न प्रकारके चूर्ण तैयार करना शिल्पियोका ही कार्य था।[3] शिल्पी कई दृष्टियोसे समाजके लिए उपयोगी समझे जाते थे।

•

तृतीय परिच्छेद

राजनैतिक विचार

राजतन्त्रका प्रचार प्राचीनकालसे ही चला आ रहा है। राजतन्त्रका अर्थ राज्य और शासनका अध्ययन है। राजाके कर्त्तव्य, शासन सम्बन्धी चर्चाएँ, युद्धविज्ञान आदि भी राजतन्त्रमें परिगणित है। आदिपुराणमे[4] चार विद्याओका निर्देश आया है। उनमें एक दण्डनीति नामकी विद्या है। दण्डनीतिको हम प्राचीन भारतका 'प्रशासन शास्त्र' कह सकते है। दण्डनीतिका क्षेत्र संकुचित नही है। उसकी व्यापकता सामाजिक एवं राजनैतिक संबंधोके अतिरिक्त राजा, मन्त्री, सेना आदिके साथ भी है। मनुने[5] दण्डको ही राजा अथवा वास्तविक शासन कहा है। कामन्दकका[6] अभिमत है कि अपराधोके दमनको दण्ड कहते है। इसी गुणके कारण राजा स्वयं दण्ड कहलाता है और राजाका प्रशासन दण्डनीति कहा जाता है। दण्डनीतिका प्रशासन-विद्या अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। आदिपुराणमे दण्डनीतिका वर्णन राजशास्त्रके रूपमें आया है। राजा प्रजाकी रक्षा करता है और सभी व्यक्तियोसे अपने-अपने कर्त्तव्योका पालन कराता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि आदिपुराणके भारतमें राजशास्त्रके कतिपय

---

१ कौटिलीय अर्थशास्त्र, चौखम्बा प्रकाशन, १९६२, पृ० ५१४। २. वही, पृ० ५१४। ३. वही, पृ० ८७। ४. आदि० ४१।१३९। ५. मनुस्मृति ७।१८ तथा V. R R Dikshitar–Hindu Administrative Institutions Page, 10. ६ प्राचीनभारतमें राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ—डॉ० परमात्माशरण, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठसे प्रकाशित, १९६७ भूमिका पृ० २ पर उद्धृत।

नियम प्रचलित थे, जिन नियमोंका पालन राजा करता था। सर्वप्रथम राजाके कर्त्तव्य, उसकी योग्यता, एवं दिनचर्याका वर्णन करेंगे। योग्य राजा ही प्रजाको सुखी या समृद्ध बना सकता है।

राजाका महत्त्व और उसके कर्त्तव्य

राज्यमे राजाका महत्त्व सर्वोपरि है। राजाके अभावमे राज्यकी कल्पना नही की जा सकती। जिस प्रकार नेत्र शरीरकी भलाई करते है और बुराई करनेकी प्रवृत्तिको दूर करते है, उसी प्रकार राजा अपने राज्यमे सत्य और धर्मका प्रचारकर राष्ट्रहितमें तत्पर रहता है। प्रजाकी भलाई, कुलीनोचित आचार, दुष्टनिग्रह और शिष्टका संरक्षण करना राजाका प्रधान कार्य है। अराजकतारूपी विषको दूर करनेवाला राजा ही होता है। आदिपुराणमे राजाके कर्त्तव्योका निर्देश करते हुए बताया है कि राजाको प्रजापालनमे अलसभावसे तत्पर रहना चाहिये। राजाको न तो अत्यन्त कठोर होना चाहिये और न अत्यन्त कोमल। उसे मध्यमवृत्तिका आचरण करना चाहिये[1]। राजाको अन्तरंग शत्रु काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोहको जीतकर बाह्य शत्रुओको भी अपने आधीन करना चाहिये[2]। राजाके धर्म, अर्थ और काम परस्परमे किसीको बाधा नहीं पहुँचाते। वह तीनोंका समान ही सेवन करता[3] है। उसके कार्यकी चतुराईसे उक्त तीनों वर्ग परस्परमे मित्रताको प्राप्त होते है। राज्यके प्राप्त होने पर मद नही करना और विवेक द्वारा यथार्थ न्याय करनेकी चेष्टा करना राजाका कर्त्तव्य[4] है। युवावस्था, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि गुणोको प्राप्तकर अहंकार न करना राजाका प्रमुख कर्त्तव्य[5] है। जो राजपुत्र राज्यलक्ष्मीको प्राप्त कर अहंकार करता है, विषयसुखोके सेवनमे संलग्न हो जाता है, वह सम्यक् प्रकारसे राज्यका परिपालन नही कर सकता[6]। अन्याय, अत्यधिक विषय-सेवन और अज्ञान इन तीनो दुर्गुणोको दूर करना राजाका कर्त्तव्य[7] है। राजाका बाह्य-शरीर भी दिव्य, भव्य और सुन्दर होता[8] है।

एक अन्य सन्दर्भमे राजधर्मके पाँच भेद[9] बताये है—

१. परिवार संरक्षण।
२. विवेक द्वारा कार्यसंचालन।
३. स्वरक्षण।
४. प्रजारक्षण।

---

१ आदिपुराण ४।१६३। २. वही, ४।१६४। ३. वही, ४।१६५। ४. वही, ४।१६६। ५ वही, ४।१६७। ६. वही, ४।१६८। ७ वही, ४।१६९। ८. वही, ४।१७३-१७५। ९. वही, ४२।४।

५. दुष्टनिग्रह और शिष्टपुरस्कार प्रदान।

कुल आम्न्यायकी रक्षा करना, कुलके योग्य आचरणकी रक्षा करना कुलपालन कहलाता[1] है। क्षत्र शब्दका अर्थ विपत्ति या दुःखसे प्रतीकार करना है। जो प्रजाकी रक्षा करनेमे तत्पर रहता है, वही वास्तविक क्षत्रिय राजा है। प्रजा के लिये न्यायपूर्वक वृत्ति रखना उनका योग्य आचरण[2] है। धर्म और सदाचारकी नीतिके अनुसार राजस्व आदि वसूल करना राजाओंकी न्यायवृत्ति[3] है। राजा स्वयं धर्ममार्गमें स्थिर रहता है और अन्य लोगोंको धर्ममार्गमे लगाता[4] है। राजाका यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वह अपने वंशके बडप्पनकी रक्षा करे तथा धर्म-मार्गकी रक्षा[5] करे। कुलपरम्परासे जो धर्म चला आ रहा है, उस धर्मका आचरण व्यवहार करते हुए अपनी क्रियाओको सम्पन्न करना[6] विधेय कर्त्तय है।

मत्यनुपालनका अर्थ है लोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थोके हिताहितका ज्ञान प्राप्त करना[7]। बुद्धिपालनकी व्याख्या करते हुए बताया गया है कि अविद्याका नाश करनेसे ही बुद्धिका पालन हो सकता है। मिथ्याज्ञानको अविद्या कहा गया है। तथा अतत्त्वमे तत्त्वबुद्धि होना मिथ्याज्ञान[8] है। इस सन्दर्भमे क्षत्रियोकी प्रशंसा भी की गयी है, पर वस्तुतः राजनीतिकी दृष्टिसे मत्यनुपालनका अर्थ है-विवेक-बुद्धिको जागृत रखना। लौकिक और पारलौकिक कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्ध मे चित्रण करना तथा कामभोगादिको वश करना।[9]

आत्मरक्षाका अर्थ स्वात्माका विकास करना है। राज्यकी व्यवस्था पापबन्धनका हेतु है। अत जो राजा चिन्तनशील है वह प्रशासनके कार्योंको करते हुए भी स्वोत्थानके लिए चिन्तित रहता है। लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणाका सम्बन्ध संसारके पदार्थोंके साथ ही है। अतएव राजाको अपने अन्तरंग स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। विषयकी तृष्णा इतनी प्रबल है कि प्रचुर विषयोके उपलब्ध होनेपर भी शान्त नही होती। स्नान, माल्यधारण, विलेपन एवं आभूषण धारण आदिसे शरीरका संस्कार तो होता है, आत्माका नहीं। राजाको शरीरके धातुज दोषोको शान्त करनेके लिए औषधि आदि तो ग्रहण करना ही चाहिये, पर आत्मोत्थानके लिए भी सचेष्ट रहना चाहिये[10]।

प्रजापालन राजाका आवश्यक कर्त्तव्य है। प्रजापालनमे उसे सर्वप्रथम प्रमाद का त्यागकर उपद्रवोसे रक्षा करनी चाहिये। प्रजाके लिए आजीविकाका प्रबन्ध

१. आदि० ४२।५। २. वही, ४२।१०। ३. वही, ४२।१३-१४। ४. वही, ४२।१६। ५. वही, ४२।१८। ६. वही, ४२।२३। ७. वही, ४२।३१। ८. वही, ४२।३२। ९. वही, ४२।३२-६०। १०. विशेष जाननेके लिए, वही, ४२।४६-१३६।

करना, भृत्यवर्गका दान-मान आदिके द्वारा सम्मान करना एवं प्रजाकल्याणके लिए सभी प्रकारसे तत्पर रहना राजाका धर्म है। ईति, भीति आदिके अवसर पर राजाको अपनी पूरी शक्ति लगाकर राज्यके उपद्रवोको शान्त करना चाहिये। प्रशासन-कार्यमे भाग लेनेवाले व्यक्तियोकी देखरेख करनी चाहिये। जो व्यक्ति कार्य करनेमे सर्वोत्तम ज्ञात हो, उसकी पदवृद्धि भी अवश्य करनी चाहिये। चोर, डाकू एवं लुटेरोसे प्रजाकी रक्षा करनेका पूर्ण प्रयत्न होना चाहिये। प्रजाकी आर्थिक समृद्धि किन किन साधनोके द्वारा हो सकती है, ग्रामीण क्षेत्रका विकास किस प्रकार किया जा सकता है, इन सब बातोपर राजाको ध्यान देना चाहिये। सत्यता और दयालुता राजाके प्रमुख धर्म है। इन दोनो धर्मोका अनुसरण करते हुए सेवकोकी नियुक्ति तथा प्रजाके अभ्युदयके कार्य करना चाहिये। प्रजाकी बातोको सुननेके लिए सदा तैयार रहना राजाका आवश्यक धर्म है। ग्रामोके सुधार और कल्याणके लिए आर्थिक सहयोग देना, कृषिके विकासके लिए सिंचाई आदिकी व्यवस्था करना भी राजाके कार्योमे परिगणित है। आवश्यक अवसरके लिए धान्य संग्रह करना और दुर्भिक्ष आदिके अवसर पर उसे वितरित करना चाहिये। अक्षरम्लेच्छ—प्रकृतया दुष्ट नीचकुलोत्पन्न साक्षर व्यक्ति, जो प्रजाको कष्ट पहुंचाते है, राजाको उन्हे आजीविका आदि देकर अपने अधीन करना चाहिये जिससे वे प्रजा आदिको कष्ट न दे सकें। अक्षरम्लेच्छकी परिभाषा करते हुए बताया गया है कि जो अधर्म करनेवाले अक्षरोके पाठसे लोगोको ठगा करते है, अक्षरजन्य ज्ञानके कारण अहंकारी, निन्द्य आचरण करनेवाले धूर्त, मासाहारी, हिंसक, बलपूर्वक दूसरेके धनका अपहरण करनेवाले है वे अक्षरम्लेच्छ है। राजा इस श्रेणीके अक्षरम्लेच्छोको किसी कार्यविशेषमे नियुक्त करे। यदि दान-मान-सम्मान आदि द्वारा भी अपने अधीन न हो तो राजाको चाहिये कि उन्हे दण्ड दे। राजाका प्रजापालन करना सबसे आवश्यक कर्तव्य है। प्रजाकी भलाईके लिए जितने भी कार्य किये जा सकते है, राजाको वे सभी कार्य करने चाहिये[1]।

दुष्ट पुरुषोका निग्रह और शिष्ट पुरुषोका पालन करना समञ्जसत्त्व कहलाता[2] है। जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र दोनोका निग्रह करता है, जिसे किसीका पक्षपात नही है, जो दुष्ट और मित्र सभीको निरपराध बनाने की इच्छा करता[3] है और इस प्रकार मध्यस्थ रहकर जो सबपर समान दृष्टि रखता है, वह समञ्जस कहलाता[4] है। समञ्जसत्त्व गुणका अर्थ ही है—सभीपर समान दृष्टि रखना। किसीके साथ पक्षपात नही करना। न्यायपूर्वक आजीविका

---

१. आदिपुराण ४२।१३७-१९८। २. वही, ४२।१९९। ३ वही, ४२।२००। ४. वही, ४२।२०१।

करनेवाले शिष्ट पुरुषोका पालन और अपराध करनेवाले दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करना चाहिये[1]। जो पुरुष हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रहसञ्चय आदि पापोमे संलग्न है वे दुष्ट है और जो क्षमा, सन्तोष आदिक गुणोंको धारण करनेवाले है वे शिष्ट[2] है। शिष्टका पालन और दुष्टका निग्रह करना ही समञ्जसत्व धर्म है।

आदिपुराणमे विवेचित राज्य-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक है। पर यह राजतन्त्र पाश्चात्य देशोके राजतन्त्रोसे भिन्न है। राजा सर्वोच्च पदपर अवश्य प्रतिष्ठित रहता है, पर वह निरंकुश नही रहता। राजा देश एवं प्रजाको प्राणोंके समान प्रिय मानता है। प्रजाको सन्तुष्ट करना और उसका उचित रीतिसे पालन करके सुखी बनाना ही राजाका सर्वप्रथम उद्देश्य है। इसी कारण आदिपुराणमे राजा के लिए विहित और निषिद्ध आचरणका वर्णन किया गया है। निषिद्ध आचरण के अन्तर्गत असत्य भाषणका त्याग, परद्रोहवर्जन, अभक्ष्यवर्जन, असूयावर्जन, कुसंगति वर्जन, अन्तरंगषड्रिपुवर्जन एवं स्वात्मस्तुतिवर्जन आदि है। आचार-विचारकी शुद्धि राजाके विहित कर्त्तव्योमें निहित है। दान देना, पूजन, दर्शन आदि क्रियाओंको सम्पन्न करना, प्रजाको सन्तुष्ट रखना, आत्मचिन्तन करना एवं अतिथिसत्कार आदि राजाके लिये विधेय है। कौटिल्य अर्थशास्त्रमें राजाके गुणोंका विवेचन आया है। बताया गया है कि राजामें चार प्रकारके गुणोका होना आवश्यक है—

१. आभिगामिक गुण।
२. प्रज्ञागुण।
३. उत्साहगुण।
४. आत्मसंपत्।

अक्षुद्र परिवारत्व, वश्यसामन्तता, शुचित्त्व, प्रियवादिता, धार्मिकता, दूरदर्शिता आदि अभिगामिक गुण[3] है। अस्त्र-शस्त्र एवं शास्त्रकी निपुणता, विवेक, तर्कणाशक्ति, दृढचित्तत्त्व आदि प्रज्ञागुण[4] है। शौर्य, क्षिप्रकारिता, दक्षत्त्व एवं अमर्ष उत्साह गुण[5] है। आत्मसंपत्के अन्तर्गत वाग्मी, प्रगल्भ, स्मरणशील, बलवान्, उन्नतमन, संयमी, निपुण सवार, शत्रुका सामना करनेकी क्षमता, स्वसैन्यसंरक्षणकी क्षमता, उपकार या अपकारके यथोचित प्रतीकारकी योग्यता, दीर्घदर्शिता, दूरदर्शिता, सन्धिप्रयोगोको अवगत करनेकी क्षमता, कोषसंवर्द्धनकी प्रज्ञा, गम्भीरता, उदारदृष्टि आदि गुण परिगणित[6] है।

---

१. आदि० ४२।२०२। २. वही, ४२।२०३। ३. कौटिलीय अर्थशास्त्र पृ० ५३५। ४. वही, पृ० ५३५। ५. वही, पृ० ५३५। ६. वही, पृ० ५३६।

याज्ञवल्क्य स्मृतिमें[1] राजाको उत्साही, स्थूललक्ष्य, कृतज्ञ, वृद्धसेवी, विनय-युक्त, कुलीन, सत्यवादी, पवित्र, अदीर्घसूत्री, स्मृतिवान्, प्रियवादी, धार्मिक, अव्यसनी, पण्डित, शूर, रहस्यवेत्ता, राज्यप्रवन्धकी शिथिलताका प्रवन्ध करने वाला, आत्मविद्या और राजनीतिमें प्रवीण वतलाया है।

मनुस्मृतिमे[2] भी राजाके गुणोका विवेचन आया है। ये गुण याज्ञवल्क्यस्मृति और कौटिलीय अर्थशास्त्रसे मिलते-जुलते है।

राज्यके अन्य अंग

कौटिलीय अर्थशास्त्रमे[3] राज्यको सप्तांग कहा है। इस सप्तांगमे स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र ये सात गिनाये गये हैं। मानसोल्लास[4] में[4] भी स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग एवं वलको सप्तांग कहा गया है। पूर्वमें जो राजाके गुणधर्मोका विवेचन किया है, वही स्वामीका गुणधर्म है। आदिपुराणमे[5] अमात्यको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अमात्यकी योग्यताके सम्वन्ध में वताया गया है कि कुलीन, श्रुतिसम्पन्न, पवित्र, अनुरागी, वीर, धीर, निरोग नीतिशास्त्रमें पण्डित, प्रगल्भ, वाग्मी, प्राज्ञ, रागद्वेषसे रहित, सत्यसन्ध, महात्मा, दृढ़चित्तवाला, निरामय, प्रजाको प्रिय तथा दक्ष होना चाहिए[6]। कौटिलीय अर्थ-शास्त्रमे[7] भी अमात्य-सम्पत्तिका वर्णन आया है। वताया गया है कि अमात्यकी नियुक्ति अपने देशमे उत्पन्न हुए कुलीन, प्रगल्भ और पवित्र व्यक्तिकी होनी चाहिए। अमात्यकी योग्यताका वर्णन करते हुए कहा है कि ललित कलाओमे निपुण, अर्थशात्रका विद्वान्, वुद्धिमान्, स्मरणशक्ति सम्पन्न, चतुर, वाक्पटु, उत्साही, प्रभावशाली, सहिष्णु, पवित्र, स्वामिभक्त, सुशील, स्वस्थ, समर्थ, धैर्यवान्, निर-भिमानी, प्रियदर्शी, स्थिर प्रकृति एवं द्वेषवृत्ति रहित होना चाहिये। मन्त्री नियुक्त करनेसे पूर्व राजाको चाहिये कि वह प्रामाणिक, सत्यवादी और आप्तपुरुषोके द्वारा उनके निवास स्थान, आर्थिक स्थिति, योग्यता, शास्त्रीय पाण्डित्य, प्रत्युत्पन्न-मतित्व, स्मृति, धारणा, वाक्यपटुता प्रगल्भता, प्रतिभा, शील, वल, स्वास्थ्य आदिकी जानकारी प्राप्त[8] करे। प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय ये तीन राजव्यवहार की विधियाँ[9] है। स्वयं देखा हुआ प्रत्यक्ष, दूसरेके माध्यमसे जाना हुआ परोक्ष और सम्पादित कार्योसे किये जाने वाले कार्योका अनुमान करना ही अनुमेय है। राजा अमात्योके द्वारा उक्त तीनों प्रकारके कार्यव्यवहारोका सञ्चालन अमात्यो

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृति, राजधर्म प्रकरण श्लोक ३०९-३१०। २. कौ० अर्थशास्त्र पृ० ५३५। ३-४. मानसोल्लास अनुक्रमणिका श्लोक २०। ५. आदिपुराण ५।७। ६. मानसोल्लास २।२। ५२-५६। ७. कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० २८। ८, कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० २९। ९. वही, पृ० २६।

के सहयोगसे करता है। अमात्योंके विना राज्यकार्यके सञ्चालनमें अत्यधिक कठिनाई होती है। अतएव पूर्णतया अमात्यका परीक्षणकर ही उसकी नियुक्ति करनी चाहिये। अमात्यके लिये मन्त्री और सचिव शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं। राज्य की व्यवस्था मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही सञ्चालित की जाती थी। मन्त्रिपरिषद्में कम-से-कम चार और अधिक-से-अधिक सात मन्त्री होते[1] थे। आदिपुराणमें मन्त्रियो-को बुद्धिमान्, स्नेही और दीर्घदर्शी कहा गया है[2]। कार्यसंचालनकी योजना मन्त्रिपरिषद् ही तैयार करती थी। राजा अपनी सुनिश्चित योजनाको जब तक मन्त्रियोसे स्वीकृत नही करा लेता था, तब तक उस योजनाको लागू नहीं कर सकता था। आदिपुराणके एक सन्दर्भसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मन्त्रियो द्वारा योजनाकी स्वीकृति आवश्यक-सी[3] थी।

पुरोहित[4]

राज्यकी रक्षाके लिए पुरोहितको नियुक्त करना भी आवश्यक माना गया है। पुरोहितकी योग्यताका[5] कथन करते हुए बताया है कि त्रयी विद्या, दण्डनीति शान्तिकर्म, पौष्टिक और आथर्वणमे कुशल व्यक्ति ही राज्यका पुरोहित होता था। पुरोहितको दण्डनीतिका विशेषज्ञ होना अत्यावश्यक है। शुक्राचार्यने शुक्र[6]-नीतिमे बताया है कि दण्डनीति ही एक ऐसी विद्या है जिस पर सभी अन्य विद्याओका योगक्षेम निर्भर रहता है। पुरोहित शान्तिकर्मद्वारा दुर्भिक्ष, अवर्षण, एवं कृषि सम्बन्धी बीमारियोका शमन करता था। पशुओ और मनुष्योमे जो महामारियाँ उत्पन्न होती थी उनका निवारण वैद्य औषधियों द्वारा और पुरोहित अपने शान्तिकर्म द्वारा करता था। याज्ञवल्क्यस्मृति[7]में पुरोहितको ज्योतिष शास्त्रका ज्ञाता, समस्त शास्त्रोमे समृद्ध, अर्थशास्त्रमे कुशल और शान्तिकर्ममे प्रवीण बतलाया है। मनुस्मृति[8]मे भी मनुने गृह्यकर्म और शान्त्यादिकर्मोमें प्रवीण पुरोहितको कहा है। कौटिल्य अर्थशास्त्र[9]मे पुरोहितको शास्त्र प्रतिपादित विद्याओसे युक्त, उन्नत, कुलशीलवान् षडङ्गवेदका ज्ञाता, ज्योतिषशास्त्र-शकुनशास्त्र-दण्डनीतिशास्त्रमे अत्यन्त निपुण, दैवी मानुषी आपत्तियोंके प्रतीकारमे समर्थ होना चाहिये। इसी प्रकार शुक्रका कथन है[10] कि जो मन्त्र और अनुष्ठानमे सम्पन्न, वेद-त्रयीका ज्ञाता, कर्म तत्पर, जितेन्द्रिय, जितक्रोध, लोभ तथा मोहसे रहित, वेदके षडंगोका ज्ञाता, धनुविद्या तथा धर्मका ज्ञाता, स्व और परराष्ट्रनीतिका अभिज्ञ पुरोहित होता है। संक्षेपमे इतना ही कहा जा सकता है कि न्याय और धर्मका

---

१ आदिपुराण ४।१९० (पूर्वार्द्ध)। २ वही, ४।१९० (उत्तरार्द्ध)। ३. वही, ४।१९२ तथा ४।१९५। ४. वही, ५।७। ५. मानसोल्लास २।२।६०। ६. मानसोल्लास पृ० १५० पर उद्धृत। ७. याज्ञ० १।३१३। ८. मनु० ७।७८। ९ अर्थ० १।९।१५। १०. शुक्र० २।७७-७८।

प्रतिनिधि राष्ट्रमें पुरोहित होता था। आदिपुराणका प्रत्येक राजा अपनी राज-परिषद्में पुरोहितकी नियुक्ति करता हुआ दिखलाई पड़ता है। भरत चक्रवर्ती जैसे सम्राटके यहाँ बुद्धिसागर पुरोहित नियुक्त था।[1] पुरोहितके अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहित द्विज वर्गका प्रतिनिधि होता था। यह राज्याभिषेकके अवसरपर न्यायकी खड्ग राजाको देता था और उसे न्यायनीतिसे शासन करनेके लिए अनुशासित करता था। आदिपुराणमें उसी राष्ट्रको समृद्ध माना गया है जो सप्तांगपूर्ण है।

सेनाध्यक्ष[2]

सेनापतिका स्थान राज्यके सप्तांगोमे महत्त्वपूर्ण है। सेना ही राजाकी विजयका कारण होती है और सेनाका सुचारु रूपसे संगठन एक योग्य सेनापति ही कर सकता है। सेनापतिके गुणोंमे बताया गया है कि उसे कुलवान्, शील-वान्, धैर्यवान्, अनेक भाषाओंमे निपुण, गजाश्वपर चढनेमें दक्ष, शस्त्रास्त्र शास्त्रका ज्ञाता, शकुनविद्; आवश्यकतानुसार प्रारम्भिक चिकित्साका ज्ञाता, वाहनोंका विशेषज्ञ, अस्त्रशस्त्रका विशेषज्ञ, दानी, मधुरभाषी, दान्त, मतिमान्, दृढप्रतिज्ञ, शूरवीर तथा भृत्योको विशेष रूपसे माननेवाला होना चाहिये[3]।

कौटिल्य अर्थशास्त्रमे सेनापतिकी योग्यताका वर्णन करते हुए बताया है कि सेनाके चारों अंगोंके प्रत्येक कार्यको उसे जानना चाहिये। प्रत्येक प्रकारके युद्धमे सभी प्रकारके अस्त्रशस्त्रके संचालनका परिज्ञान भी उसे होना चाहिये। हाथी घोडेपर चढ़ना, और रथसञ्चालन करनेमे भी अत्यन्त प्रवीण होना चाहिये। चतुरंगी सेनाके प्रत्येक कार्यका उसे परिज्ञान होना चाहिये। युद्धमे उनका कार्य अपनी सेनापर पूर्ण नियन्त्रण रखनेके साथ ही साथ शत्रुकी सेनाको नियन्त्रित करना भी[4] है। इसप्रकार सेनापतिका महत्त्व आदिपुराणमे स्वीकृत है। भरत जैसा सम्राट् भी अयोध्य सेनापतिको[5] नियुक्त किये था।

प्रधान सेनापतिके अतिरिक्त रथसेनाध्यक्ष, पैदलसेनाध्यक्ष, हस्तिसेनाध्यक्ष और अश्वसेनाध्यक्षोंको भी नियुक्तियाँ की जाती थी। इन सभी सेनाध्यक्षोको शूरवीर होनेके साथ-साथ युद्धकला और शास्त्रोंमें भी प्रवीण होना चाहिये। गजसेनाध्यक्षके[6] सम्बन्धमे बताया गया है कि उसे हाथियोकी प्रकृति, आकृति एवं गुणोकी जानकारी होनी चाहिये। सैन्यसञ्चालनमे गजोका उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है और गजोकी शिक्षा किस प्रकार निष्पन्न की जा

---

१. आदिपुराण ३७।१७५। २. आदिपुराण ५।७। ३. मानसोल्लास २।२।१०-१२। ४. कौ० अर्थ० पृ० २९३। ५. आदि० ३७।१७४। ६. विशेष जाननेके लिए देखिये, कौटिल्य अर्थशास्त्रका हस्ति सेना प्रकरण पृ० २८३-२९१।

सकती है आदि वातोका परिज्ञान भी हस्तिसेनाध्यक्षको होना चाहिये। अश्वसेनाध्यक्षको[1] अश्वोकी नस्ल, रोग, प्रकृति गुणदोष, आदि वातोकी जानकारीके साथ सेनामे व्यवहृत होनेवाले घोड़ोकी शिक्षा-दीक्षा किस प्रकारकी होनी चाहिये, आदि तथ्योसे भी वह अवगत रहता था। इसी प्रकार रथसेनाध्यक्षको[2] रथसंचालनके विधिविधानोंके सम्वन्धमें परिज्ञान रहना आवश्यक है। देवरथ, पुष्परथ, सांग्रामिकरथ, पारयाणिकरथ, आदि विभिन्न प्रकारके रथोंकी जानकारीके साथ शस्त्रसञ्चालन एवं युद्धमें रथोके व्यवहार किये जानेकी विधिका ज्ञान आवश्यक है। पैदलसेनाध्यक्ष[3] सेनाकी कार्यव्यवस्थाके सम्वन्धमें पूर्णज्ञाता होता था। उसे श्रेणिवल विभिन्न प्रदेशोमें रखी गयी सेना, मित्रवल—मित्रराजाकी सेना; अमित्रवल—शत्रुराजकी सेना, अटवीवल—जंगलकी सुरक्षाके लिए नियुक्त सेना एवं भृत्यवल—वेतनभोगी सेनाका पूर्णपरिज्ञान होना आवश्यक है। पैदलसेनाध्यक्ष जंगल, तराई, मोर्चावन्दी छलकपट, खाई खोदना, दिन युद्ध, रात्रियुद्ध आदिकी भी जानकारी रखता था। देशकालकी दृष्टिसे सेनाओंकी उपयोगिताओ और अनुपयोगिताओंका भी उसे ज्ञान रहता था।

कोषाध्यक्ष

कोप राज्यका आवार है। कौटिल्यने[4] 'कोपपूर्वां सर्वारम्भा.' कहा है जिसका अर्थ है कि समस्त कार्योका आधार कोप है। कोपकी सुरक्षा एवं वृद्धिके लिए कोपाध्यक्षकी नियुक्ति परमावश्यक है। कोपाध्यक्षकी योग्यतामे वताया गया है कि उसे गुणाकार, भागहार और त्रैराशिक विधिसे सुपरिचित होना चाहिये। लोभ, रागद्वेष और प्रमोदका त्यागी होना चाहिये। ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मात्सर्य आदि दुर्गुणोका अभाव परमावश्यक है। कोषागारके पद पर आदिपुराणके अनुसार श्रेष्ठि नियुक्त किया जाता है। यह कोषवृद्धिके उपायोसे भी अवगत रहता है। आदिपुराणमे कोपके लिए 'श्रीगृह'[5] आया है। कोष्ठागारके अध्यक्षपदकी[6] नियुक्तिका निर्देश भी आदिपुराणमे उपलब्ध है। इस सन्दर्भमे वताया गया है कि कोष्ठागारके अधिकारीको धमकाकर वलवान लोग धनादि सामान निकालकर ले जाते थे।

दण्डाधिकारी

दण्डाधिकारीका दूसरा नाम धर्माधिकारी भी है। आदिपुराणमे[7] उसकी

---

१. विशेष जाननेके लिए देखिये कौ० अर्थ० का अश्वसेना प्रकरण पृ० २७४-२८२। २. विशेषके लिए कौ० अर्थ० रथ सेना प्रवरण पृ० २९२। ३. विशेष जाननेके लिए देखिये—कौटिलीय अर्थशास्त्र पैदलसेना प्रकरण पृ० १९३। ४. वही, पृ० १३१। ५. आदिपुराण ३७।८५। ६ वही, ८।२२५। ७. वही, ५।७।

अधिकृत या अधिकारी शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। दण्डाधिकारी राष्ट्रमें न्यायपूर्वक प्रत्येक कार्यका निर्णय करता और उस निर्णयके अनुसार लोगोंको चलनेके लिए बाध्य करता था। प्रशासन सम्बन्धी कार्यकी देखरेख इसीके द्वारा सम्पन्न होती थी। यह पक्षपात रहित न्याय करता था। रागद्वेप शून्य, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंसे रहित होता था। किसी भी प्रकारके प्रलोभन इसे अपने कर्तव्य-पथसे विचलित नही कर सकते थे। न्याय करनेमे यह अपने सहयोगियोंसे भी सलाह लेता था। अपराधोकी छानवीन करना, और निष्पक्ष रूपसे अपराधके अनुसार दण्ड देनेकी घोपणा दण्डाधिकारीका कार्य था।

तन्त्र और अवाय

आदिपुराणमे तन्त्र और अवायका विस्तृत वर्णन आया है। तन्त्रका अर्थ स्वराष्ट्रकी व्यवस्था करना है। राजा अपने मन्त्रिपरिपद्के सहयोगसे स्वराष्ट्रकी व्यवस्था करनेमें सफल होता था। मन्त्रिपरिपद्मे मन्त्रियोके अतिरिक्त कोपाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष पुरोहित, दण्डाधिकारी भी सम्मिलित रहते थे। राजाका सबसे आवश्यक कृत्य स्वराष्ट्रकी अभिवृद्धि करना, उसकी रक्षा करना एवं प्रजाको सभी प्रकारसे सुखी बनाना था। राष्ट्रकल्याणके लिए राजा अपने मन्त्रियोसे परामर्श करता था तथा सामन्तोंको बुलाकर अपने तन्त्रकी व्यवस्थाके सन्दर्भमे विचार-विनिमय करता था।[1] तन्त्रके अन्तर्गत स्वराष्ट्र सम्बन्धी सभी प्रकारकी व्यवस्थाएँ आती है।

अवाय[2] परराष्ट्र नीतिका निर्धारण है। अर्थात् परराष्ट्रोंके साथ कैसा सम्बन्ध होना चाहिये, इनके साथ किस प्रकारका व्यवहार करनेसे या किस प्रकारकी नीतिके निर्धारण करनेसे सन्धि आदि कार्य सुव्यवस्थित रह सकते है—इस प्रकार की विचारसरणिको अवाय कहा जाता है। सुयोग्य शासकके लिए तन्त्रकी चिन्ता जितनी आवश्यक है उससे कहीं अधिक अवायकी। परराष्ट्रोके साथ व्यावसायिक नीति निर्धारित करना एवं यातायातके साधनोके सम्बन्धमे सन्धि स्थापित करना अवाय है। अवायका विचार आदिपुराणमें आवश्यक बताया गया है।

षाड्गुण्य सिद्धान्त

आदिपुराणके भारतमे राज्यकी वैदेशिक नीतिका सञ्चालन षाड्गुण्य सिद्धान्तके अनुसार किया जाता था। इसके छ अंग[3] निम्न प्रकार है—

१. सन्धि

२. विग्रह

---

१. आदिपुराण ११।८१–८३ तथा ४१।१३७। २. वही, ४१।१३८ तथा ४६।७२। ३. वही, २८।२८ तथा ४१।१३८–१३९।

३. आसन
४. यान
५. संश्रय
६ द्वैधीभाव

सन्धि

प्रतिज्ञापूर्वक किसी अन्य राज्यसे किन्ही विशेष शर्तोंके अनुसार समझौता कर लिया जाय तो वह सन्धि है। सन्धिके कई भेद है। जब विजित राजा जीतनेवाले राजाके कहे अनुसार सेना तथा अपनी शक्तिके अनुसार धन लेकर उसके सामने आत्मसमर्पण करता है तो वह अमिप सन्धि कहलाती है। सेनापति और राजकुमारको शत्रुके सामने भेजकर जो सन्धि की जाती है, उसे पुरुपान्तर सन्धि कहते है। इसीको आत्मरक्षण सन्धि भी कहा गया है। क्योंकि विजित राजा शत्रुके दरबारमे न जानेसे आत्मरक्षा कर लेता है। शत्रुके कार्यकी सिद्धिके लिए 'मै स्वयं अकेला ही जाऊँगा या मेरी सेना ही जायेगी, इस प्रकारकी शर्त रखकर जो सन्धि की जाती है उसे अदृष्टपुरुप सन्धि कहते हैं। इस सन्धिसे मुख्य सैनिको और राजाकी रक्षा होती है। अतः इसे दण्डमुख्यात्मरक्षण सन्धि भी कहा जाता है। उक्त तीनों सन्धियोमेसे प्रथम दो सन्धियोमे विश्वासके लिए जब विजेता राजा प्रमुख राजपुरुपोजी कन्याओसे विवाह करे और तीसरी सन्धिमें शत्रुको विप आदि गूढप्रयोगो द्वारा वशमे करे तो इस प्रकारकी तीनों सन्धियोको दण्डोपनत सन्धि कहते है। धन आदि देकर अमात्य आदिको जिस सन्धिके द्वारा छुड़ाया धाय उसे परिक्रम सन्धि कहते है। परिक्रय सन्धिको सुविधापूर्वक निभानेके लिए जब किश्तो द्वारा धन दिया जाय तो उसे उपग्रह सन्धि कहते है। किसी समय और स्थान विशेपमे धन देनेका वचन दिया जाय तो उस उपग्रह मन्धिको प्रत्यय सन्धि कहते है। निश्चित किये हुए धनको नियत समयमे देना और कन्या आदिके दानसे भविष्यमे सुखकारी सन्धिको सुवर्ण सन्धि कहा जाता है। क्योंकि इससे विश्वास उत्पन्न होकर दोनोमे एकता स्थापित हो जाती है। इस सन्धिके विपरीत. जिस सन्धिके अनुसार मागी हुई धनराशि तत्काल देनी पडे उसे कयाल सन्धि कहते है। कौटिल्यके अर्थशास्त्र[1] में सन्धि-व्यवस्थाका विस्तृत वर्णन आया है।

विग्रह

राजा सुन्दर यत्नो, सहायको, सामर्थ्य और बलके अनुसार परामर्श हीन या मन्त्रिपरिपद्से हीन राजाके साथ विग्रह करे। कौटिल्यने "अपकारो विग्रहः"[2] कहा

---

१. विशेप जाननेके लिए कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ० ५४९-५६३। २. वही, पृ० ५४६।

है अर्थात् किसी राजाका अपकार करना विग्रह है। विग्रह या विगाड़ हीन शक्ति वालेसे ही करना चाहिये, सवलशक्ति वालेसे नहीं। विग्रह आठ प्रकारके होते हैं–

१. कामज—स्त्रीके कारण उत्पन्न विग्रह

२. लोभज—धनहरणके कारण उत्पन्न विग्रह

३. भूभव—भूमिके कारण उत्पन्न विग्रह

४. मानसम्भव—मानरक्षाकेलिए उत्पन्न विग्रह

५. अभयाख्य—शरणागतकी रक्षाके लिए उत्पन्न विग्रह

६. इष्टज—इष्ट मित्र अथवा मित्रके लिए उत्पन्न विग्रह

७. मदोत्थित—मद, विद्या, धन, यौवन आदिके अहंकारके कारण उत्पन्न विग्रह

८. एकद्रव्याभिलाप—किसी एक ही अर्थकी दृष्टिसे आपसमे सम्पन्न होनेवाला विग्रह।

विग्रहके प्रमुख कारण स्त्री धन भूमि और मद ही हैं। भरत और वाहुवलिका विग्रह सत्तामदके कारण ही हुआ है। राजनीतिका यह नियम है कि कोप एवं प्रभुशक्तिकी समृद्धिके लिए विजयी राजाको विग्रहमे प्रवृत्त होना चाहिए।

आसन

कौटिल्य अर्थशास्त्रमें 'उपेक्षणमासनम्[1]' कहकर उपेक्षा कर देना ही आसन वतलाया है। स्थान और उपेक्षण आसनके पर्यावाची शब्द हैं। शत्रुके वरावर शक्तिका होना आसन है। जव शत्रुकी अपेक्षा अल्पशक्ति हो तो स्थान तथा उपायोका प्रयोग करना अथवा कम करना उपेक्षण है। मानसोल्लासमे दश प्रकारके आसनोंका उल्लेख मिलता है—

१. स्वस्थासन—शत्रुके निष्कण्टक राज्यको देखकर अपने स्थानपर स्थित रहना।

२. उपेक्ष्यासन—शत्रुकी अधिक शक्तिका अनुमानकर शत्रुके नाशको विधाता पर छोड़ देना।

३. मार्गरोधासन—मार्गके अवरुद्ध होनेसे उपेक्षा करना।

४. दुर्गसाध्यासन—दुर्गकी शक्तिविशेषके कारण आक्रमण न कर उसके समीपवर्ती प्रदेशमे वास करना।

५. राष्ट्रस्वीकरणासन—हठपूर्वक प्राप्त किये हुए राष्ट्रको वशमे करनेके हेतु वहाँ निवास करना।

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० ५४९।

६. रमणीयासन—विजिगीषु राजा युद्धस्थलमे शत्रुओंको मार यदि वहांके रमणीय स्थानो पर निवास करे तो वह रमणीयासन कहलाता है।

७. निकटासन—अत्यन्त दूर पर स्थित शत्रुके लिए उद्यत राजा जव समीप जाकर अपना स्थान वनाता है, तो उसे निकटासन कहते हैं।

८. दूरमार्गासन—अत्यन्त दूरदेशमें जाकर कुछ काल तक निवास करना।

९. प्रलोभासन—अन्य राजाके द्वारा प्रलोभन दिये जाने पर निवास करना प्रलोभासन है।

१०. पराधीनासन—स्नेह अथवा वैर भावसे जव राजा अपने देशको नही जा पाता तो वह स्थान पराधीनासन कहलाता है।

आशय यह है कि अपनी शक्तिकी कमजोरीके कारण कुछ न कर विशेष अवसरकी प्रतीक्षामे स्थित रहना आसन[1] है।

यान

यानका अर्थ है प्रयाण करना। कोई राजा अन्य राजा पर आक्रमण करनेके लिए जो प्रयाण करता है, उसको यान कहते है। प्रयाण करते समय राजाको यात्रा सम्वन्धी शकुनोंपर भी विचार करना चाहिये। मत्स्यपुराणमें विजीगीपु राजाके यानके विपयमें कहा गया है कि जव शत्रु अपने शत्रुओंसे पीड़ित हो अथवा विपत्तियोमे फँसा हुआ हो, उस समय विजीगीपुको आक्रमण करना चाहिये। वस्तुत. यान और आसन विग्रहके ही रूपान्तर है।

संश्रय

स्वयं हीनशक्तिवाला होनेपर जव राजा अपनी विजयके लक्षण नही देखता अथवा वलवान् राजा द्वारा पीड़ित किया जाता है तो वह क्षेम स्थानका आश्रय ग्रहण करता है। संश्रयका अर्थ है कि किसी राजाकी शरण ग्रहण करना। पर यहाँ यह विचारणीय है कि शरण ग्रहण करते समय ऐसे राजाकी शरण लेनी चाहिये, जिसकी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक हो। संश्रयसे दुर्गका भी ग्रहण किया जाता है और अन्य राजा भी। तथ्य यह है कि वलशाली प्रतिद्वन्दी राजाका आश्रय ग्रहण करनेसे ही रक्षा हो पाती है।

द्वैधीभाव

दो वली शत्रुओके मध्य वाणी द्वारा अपनेको समर्पित करते हुए काककी आँखके समान द्वैधीभावका आचरण करना द्वैधीभाव है। द्वैधीभावका शाब्दिक अर्थ है दोनो ओर मिले रहना। कौटिल्यने सन्धि और विग्रह दोनों गुणोके एक

१. विशेप जाननेके लिए देखिये—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २२३।२२४।

साथ प्रयोग करनेको द्वैधीभाव कहा है। द्वैधीभावका आचरण परराष्ट्रके साथ सम्वन्ध निर्वाहके लिए किया जाता है। राजनीतिशास्त्रका नियम है कि एक दूसरेको हानि पहुँचानेमे असमर्थ सन्धिकी इच्छा रखने वाले विजिगीषु और शत्रु राजाको चाहिये कि वे विग्रह करके आसनका सहारा लें या सन्धि करके आसन का सहारा लें। जव शत्रु राजा व्यसनोमे फँसा हो, उस समय यानका प्रयोग करना चाहिये। विजिगीषु राजाको चाहिये कि थोड़ी-सी विपत्तिमे फँसे राजापर पहले आक्रमण करे। इस प्रकार षाड्गुण्य सिद्धान्त द्वारा वैदेशिक नीतिका संचालन करना चाहिये।

तीन वल[1]

वलका नाम ही शक्ति है और शक्तिके तीन भेद है। मन्त्रशक्तिको ज्ञानवल, प्रभुशक्तिको कोश और सेनावल एवं उत्साहशक्तिको विक्रमवल कहते है। इन शक्तियोंसे युक्त राजा श्रेष्ठ होता है। इनसे हीन निर्वल और समान शक्ति वाला मध्यमवाली कहलाता है। राजाको चाहिये कि वह अपनी शक्तिको वढ़ानेके लिए निरन्तर यत्नशील रहे। सैन्यशक्ति राज्यकी सात प्रकृतियोंमेसे एक है। सेना छ प्रकार की वतायी गयी है।

चार उपाय[2]

अपने राज्यविस्तार और प्रजापर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके लिए चार उपायोंका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इन चार उपायोंमे साम सर्वोत्तम, भेद मध्यम, दान अधम और दण्ड कष्टतम है। विना द्रव्यकी हानिके उपाय रहित कार्यके सिद्ध हो जानेके कारण साम अत्यन्त उत्तम माना गया है। कुलीनों, कृतज्ञो, उदार चित्तवालों एवं मेधावियोके साथ सामका व्यवहार करना चाहिये। सामका अर्थ है वचनचातुर्यसे अपने वश करना। 'तुम्हारे समान मेरा कोई मित्र नही' यह मित्रविषयक साम है। 'हमको और तुमको मिलकर शत्रुका सामना है,' एक दूसरेकी सहायता करनी है' यह शत्रुविषयक साम है।

जो शत्रु साम उपायके द्वारा वश न हो, उसे भेद द्वारा वशमे करना चाहिये। भेदका अर्थ है कि शत्रुको किसी अन्य शत्रुसे लड़ाकर उसकी शक्ति क्षीण कर देना। साममे स्वयं मिलनेका प्रयत्न किया जाता है, पर भेदमे फूट डालकर आधीनता स्वीकार करानी पड़ती है।

तीसरा उपाय दान या दाम है। धन देकर या अन्य कोई भौतिक वस्तु देकर शत्रुको प्रसन्न करना दान उपाय है। दान उपाय द्वारा लोभी राजा सहज-

१. आदिपुराण ११।१८६। २. वही, ८।२५३।

अधीन हो जाता है। अत. भूमि, द्रव्य, कन्या एवं अभय दान द्वारा शत्रुको अनुकूल वनाना दान नामक उपाय है।

जहाँ साम, दाम और भेद ये तीनो उपाय निष्फल हो जाते है वहाँ दण्ड उपाय व्यवहारमे लाना पडता है। पर दण्ड उपायका प्रयोग करनेके पूर्व अपनी शक्ति और वलका विचारकर लेना आवश्यक है। दण्डका प्रयोग शक्तिहीन पर ही किया जा सकता है, सवल पर नही। इस प्रकार उक्त चार उपायो द्वारा शत्रु और मित्रोको अपने अधीन वनाना चाहिये।

शासन-पद्धति

आदिपुराणमे प्रतिपादित भारतका शासन ग्रामीण पद्धतिसे होता था। ग्रामीण पद्धतिका अर्थ यह है कि प्रत्येक वडा गाँव राष्ट्रका अंग समझा जाता था और उसीकी सुव्यवस्थासे समस्त राज्य या राष्ट्रकी सुव्यवस्था समझी जाती थी। ग्राम सम्वन्धी कल्याणके लिए राजा निम्न कार्य सम्पन्न करता था[1]—

१. गाँव वसाना।

२ उपभोक्ताओके योग्य नियम वनाना।

३. वेगार लेना।

४. अपराधियोंको दण्ड देना।

५. जनतासे राजस्व या अन्य कर वसूल करना।

ग्रामोको आदर्श वनानेके लिए राज्यकी ओरसे सभी प्रकारकी सुव्यवस्थाएँ प्रचलित रहती थी। प्रत्येक गाँवका एक मुखिया[2] रहता था, जो गाँवोकी तात्कालिक आवश्यकताओकी पूर्ति करता और उत्पन्न हुई कठिन समस्याओको दण्ड-धर्माधिकारी अथवा अन्य पदाधिकारियोको निवेदित करता था। दण्डाधिकारीके अतिरिक्त शासनव्यवस्थामे स्वय राजा सम्मिलित होता और गूढ समस्याओ एवं भयंकर अपराधोकी स्वयं छानवीन करता था। प्रशासनकी इकाई गाँवके रहने पर भी नागरिक प्रशासन कमजोर नही रहता था। राजा व्यवस्थाको सुदृढ वनानेके लिए दूत एवं गुप्तचर भी नियुक्त करता था।

दूत एवं गुप्तचर

आदिपुराणमे गुप्तचरोको राजाका चक्षु कहा गया है। नेत्र तो केवल मुखकी शोभा ही वढाते है और पदार्थोको देखनेका ही कार्य करते है, पर गुप्तचर रहस्यपूर्ण वातोंका पता लगाकर राज्यशासनको सुदृढ वनाते है। वताया[3] है—

चक्षुश्चारो विचारश्च तस्यासीत्कार्यदर्शने।
चक्षुषी पुनरस्यास्य मण्डने दृश्यदर्शने॥

---

१. आदि० १६।१६८। २. वही, २९।१२३। ३. आदिपुराण ४।१७०।

उक्त पद्यके अध्ययनसे निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित होते है। (१) गुप्तचर राज्य-व्यवस्था एवं शासन-व्यवस्थाको सुदृढ़ वनानेमे सहायक है। (२) प्रजाके सुख एवं उसकी शान्तिमे बाधा उत्पन्न करनेवालोंका पता गुप्तचरों द्वारा ही लगता है। (३) प्रमुख सूचनाओको एकत्रकर गुप्तचर राजाके पास पहुँचाते है।

शासनव्यवस्थाके लिए गुप्तचर विभाग अत्यन्त आवश्यक है। शासनमे विघ्न या गढवढी उत्पन्न करनेवालोंकी जानकारी गुप्तचर विभागसे ही प्राप्त होती थी। स्वराष्ट्र और परराष्ट्र सम्बन्धी व्यवस्थाएँ और सूचनाएँ एकत्र करनेका कार्य गुप्तचर विभाग ही करता था। शासन सञ्चालनके लिए कौटिल्यने भी सन्धि, विग्रह, चतुरुपाय और तीन शक्तियोंको उपयोगी माना है।

शासनको सुदृढ़ वनानेके हेतु गुप्त मन्त्रणा आवश्यक है। यह गुप्तमंत्रणा मन्त्रि-परिषद्के साथ की जाती थी। शत्रु देशकी ओर दूतोको भेजना और अपने सन्देश वहाँ पहुँचाकर शासनव्यवस्थाको सुदृढ करना आवश्यक था। दूत तीन प्रकारके वताये गये है—

१. निःसृष्टार्थ
२. परमितार्थ
३. शासनार्थ

आदिपुराणमे निःसृष्टार्थ[1] दूतका उल्लेख आया है जिसमे अमात्यके सम्पूर्ण गुण वर्तमान हो उसे निःसृष्टार्थ, जिसमे चौथाई गुण हीन हो उसे परमितार्थ और आधे गुण हीन हों उसे शासनार्थ कहा गया है। राजदूतको चाहिए कि वह शत्रु देशके वनरक्षक, सीमारक्षक, नगररक्षक, नगरवासियो और जनपदवासियोसे मित्रता करे। शत्रु देशकी राजधानी, दुर्ग, राज्यसीमा, आय, उपज, आजीविकाके साधन, राष्ट्ररक्षाके तरीके एवं वहाँके गुप्त भेदोकी दूतको जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। शत्रुराजाके देशमे प्रवेश करनेके पूर्व वहाँके राजासे उसे आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए, तभी वह वहाँ अपने कार्यमे सिद्धि प्राप्त कर सकेगा।

शासनव्यवस्थाके लिए दण्ड परमावश्यक माना गया है। यदि अपराधीको दण्ड न दिया जाय, तो अपराधोकी संख्या निरन्तर वढती जायगी। एवं राष्ट्रकी रक्षा वुराइयोसे नही हो सकेगी। अपराधीको दण्ड देकर शासनव्यवस्थाको चरितार्थ किया जाता है। भोगभूमिके वाद हा, मा, धिक्के रूपमे दण्डव्यवस्था प्रचलित थी, पर जैसे जैसे अपराध करनेकी प्रवृत्ति वढ़ती गयी वैसे वैसे दण्डव्यवस्था भी उत्तरोत्तर कडी होती गयी। आदिपुराणके भारतमे तीन प्रकारके दण्ड[2] प्रचलित थे जो अपराधके अनुसार दिये जाते थे।

---

१. आदिपुराण ४३।२०२। २ वही, ४२।४६।

१ अर्थहरणदण्ड ।

२. शारीरिक क्लेशरूप दण्ड

३. प्राणहरणरूप दण्ड

आदिपुराणके अन्य सन्दर्भोमें[1] भी दुष्टोंके दमनका निरूपण आया है। अहंकारी और दुष्टोका दमन आवश्यक माना गया है। बिना दमनके शासनका सञ्चालन सम्भव ही नही है।

पुलिस व्यवस्था

शासनतन्त्रको सुव्यवस्थित करनेके लिए पुलिसका भी प्रबन्ध था। पुलिसके वरिष्ठ अधिकारीको तलवर[2] कहा गया है। चोर, डकैत एवं इसी प्रकारके अन्य अपराधियोको पकडनेके लिए आरक्षी नियुक्त रहते थे। तलवरका पर्यायवाची आरक्षण[3] भी आया है। पुलिस अपराधीको पकडकर निम्नलिखित चार प्रकार[4]-के दण्ड देती थी।

१. मृत्तिकाभक्षण।

२. विष्टाभक्षण।

३. मल्लो द्वारा मुक्के।

४. सर्वस्वहरण।

कतिपय राजकर्मचारी उत्कोच[5] भी ग्रहण करते थे। वे उत्कोच अर्थात् घूस लेकर अपराधीको छोड़ देते थे। जब दण्डाधिकारी या राजा घूस लेनेवालेको पकड़ लेता था तो उस घूसखोरको भयंकर दण्ड दिया जाता था। अंगच्छेदन, धनापहरण एवं प्राणदण्ड तक दिया जाता था। आदिपुराणके एक उपाख्यानमें[6] बताया है कि फल्गुमतीने राजाके शयनगृहके पहरेदारको धन देकर अपने वशमे कर लिया और कहा कि तुम रातके समय देवताकी तरह तिरोहित होकर कहना कि हे राजन्! कुबेरमित्र पिताके समान पूज्य है, अतः सदा उसे अपने पास नही रखना चाहिये। आवश्यकता पड़नेपर ही कुबेरमित्रको बुलाना चाहिये। पहरेदारने फल्गुमतीके कथनका अनुसरण किया, जिससे राजाने कुबेरमित्रको अपने यहाँसे हटा दिया। पर आगे चलकर घूसखोरीकी यह बात प्रकट हो गयी, जिससे उस अधिकारीको भयंकर दण्ड भोगना पडा।

आर्थिक आयके साधन

राजकोपकी समृद्धि प्रजाद्वारा वसूल किये गये करोसे तो होती ही थी, पर

१. आदिपुराण ४२।१९४। २. वही, ४६।३०४। ३. वही, ४६।२९१। ४. वही, ४६।२९२–२९३। ५. वही, ४६।२९६। ६. वही, ४६।५२–५६।

आयके और भी साधन थे। कृषिपर उपजका षष्ठांश कर लिया जाता था। खानोंसे भी स्वर्ण, रजत, लौह, मणिमाणिक्य आदि पदार्थ प्राप्त किये जाते थे। एक सन्दर्भसे ऐसा भी संकेत प्राप्त होता है कि स्वर्ण बनानेकी विधि भी राष्ट्रमे प्रचलित थी। बताया गया है कि रसायनविशेषके सम्पर्कसे लौह स्वर्ण बन जाता था और यह स्वर्ण राजकोशकी समृद्धिका साधन होता था। कृषि उद्योग, गोपालन, अश्वपालन, हस्तिपालन, सुरा, वेश्यालय, नट नर्तक, गायक, वादक आदिसे भी राज्यको आय होती थी। दुर्ग, सेतु, वन और पथ भी आयके साधन थे।

उत्तराधिकार और राज्याभिषेक

उत्तराधिकार राजाके बड़े पुत्रको ही प्राप्त होता था। आदितीर्थंकरने अपने राज्यका उत्तराधिकार अपने बड़े पुत्र भरतको सौंपा था।[1] शेष निन्यानवे पुत्रोंको जागीरके रूपमे कुछ राज्यांश प्रदान किया था। उत्तराधिकारी बनानेके पूर्व राज्याभिषेक-क्रिया सम्पन्न होती थी। मन्त्री और मुकुटबद्ध राजा पट्टबन्धन करते थे। पट्टबन्धनके समय उत्तराधिकार प्राप्त करनेवाला राजकुमार एक छोटे सिंहासन पर और उत्तराधिकार प्रदान करनेवाले महाराजा एक बड़े सिंहासनपर बैठाये जाते थे। स्त्रियाँ चमर वीजन करती थी। मंगलवाद्य बजते थे। महाराज उत्तराधिकारीके मस्तकपर अपना मुकुट स्थापित करते थे। युवराजको सभी प्रकारके सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कराये जाते[2] थे। राज्याभिषेकके अवसरपर महाराज तथा अन्य सामन्तवर्ग आशीर्वाद देते थे।

राज्यभिषेककी विधिका पूर्णतया वर्णन आया है। इस अवसरपर नगरको ध्वजा और पाताकाओसे सजाया जाता[3] था। आनन्दभेरी बजती थी, वारवनिताएँ मंगलगान करती थी और देवागनाओ द्वारा नृत्य किया जाता[4] था। वन्दीजन मंगलपाठ करते थे और चारों ओरसे जय जीवकी घोषणा की जाती[5] थी।

राज्याभिषेककी क्रियाओको सम्पन्न करनेके लिए सभामण्डपके मध्यभागमे मिट्टीकी वेदी बनायी जाती थी। इस वेदी पर एक आनन्दमण्डपका निर्माण किया जाता[6] था। इस आनन्दमण्डपके ऊपर रत्नोके चूर्ण समूहसे रंगावलि तैयारकर चित्रावलि तैयार की जाती थी और नाना प्रकारके विकसित सुगन्धित पुष्प वहा फैला दिये जाते[7] थे। मणियोसे जटित फर्शके ऊपर मोतियोंकी वन्दनवारें लटका दी जाती थी और रेशमी वस्त्रके चंदोवे सभी ओर टांग दिये जाते[8] थे। इस मण्डपके मध्यभागमे अष्टमंगलद्रव्य स्थापित किये जाते थे और देवागनाएँ मंगलद्रव्यको लेकर अवस्थित रहती[9] थी। स्नानकी सामग्री एक

---

१. आदिपुराण २८।२७। २. वही, ११।३६–४५। ३. वही, १६।१९६। ४. वही, १६।१९७। ५. वही, १६।१९८। ६. वही, १६।१९९। ७. वही, १६।२००। ८. वही, १६।२०१। ९. वही, १६।२०२।

दूसरेके हाथोमे दी जाती[1] थी। लीलापूर्वक पैरमे नूपुर पहनकर देवागनाएँ रुनझुन करती हुई भ्रमण कर रही थी। उनके नूपुरोकी ध्वनि बहुत ही मधुर और आनन्दमयी प्रतीत हो रही थी[2]। उत्तराधिकार मिलनेवाले राजकुमारको रंगभूमिमे सिंहासन स्थापितकर पूर्वदिशाकी ओर मुख करके बैठाया जाता था[3]। गन्धर्व मनोहर गान करते थे तथा मंगलवाद्योकी ध्वनियाँ आनन्दका सृजन कर रही[4] थी। नृत्य करती हुई अंगनाएँ अभिपेक-क्रिया सम्पन्न होनेवाले परिवारका गुणगान करती[5] थी। सामन्त एवं अधीनस्थ राजन्यवर्ग ओपधिमिश्रित सुवर्ण कलशोमे रखे गये जलसे अभिपेक-क्रिया सम्पन्न[6] करते थे। अभिपेक-क्रियाके लिए गंगा, सिन्धु आदि नदियोंका जल लाया जाता था[7], पुण्यमय गंगाकुण्डसे और सिन्धुकुण्डसे भी जल लाया जाता था[8]। सरस्वती आदि अन्य नदियोसे तथा स्वच्छ और निर्मल कुण्डोसे जल लाया गया[9] था। वापीजल[10], केसर-कुंकुम युक्त[11] जल, लवणसमुद्र[12], नन्दीश्वरदीप आदि प्रसिद्ध स्थानोका जल लाया गया था। इसके अतिरिक्त क्षीरसागर, नन्दीश्वरसमुद्र और स्वयम्भूरमण समुद्रका जल भी लाया जाता था[13]। सरयूका जल[14], तीर्थजल, कपायजल, सुगन्धित द्रव्य मिश्रित जल[15] एवं गर्म कुण्डका जल[16] लाया गया था। इस तीर्थोपनीत जलद्वारा केशर, कस्तूरी, चन्दन तथा अनेक जडी बूटियाँ मिश्रितकर जलाभिपेक किया जाता था। वन्दीजन मंगलपाठ[17] करते थे और उत्तराधिकार प्रदान करनेवाले महाराज उत्तराधिकारीको अभिषेकके अनन्तर पट्ट वाधते[18] थे। तथा नाना प्रकारके सुन्दर वस्त्राभूपण भी[19] प्रदान किये जाते थे। उस अवसरपर धार्मिक विधि-विधान भी सम्पन्न होता था।

राजाके भेद

आदिपुराणमे प्रभुशक्तिकी हीनाधिकताके कारण राजाओके निम्नलिखित भेद उपलब्ध होते हैं—

१. चक्रवर्ती[20]

२. अर्धचक्रवर्ती[21]

३. मण्डलेश्वर[22]

---

१. आदि० १६।२०३। २. वही, १६।२०४। ३. वही, १६।२०५। ४. वही, १६।२०६। ५. वही, १६।२०७। ६. वही, १६।२०८। ७. वही, १६।२०९। ८. वही, १६।२१०। ९. वही १६।२११। १०. वही, १६।२१४। ११. वही, १६।२१२। १२. वही, १६।२१३। १३. वही, १६।२१५। १४. वही, १६।२२५। १५. वही, १६।२२७। १६. वही, १६।२२८। १७. वही, १६।२२६। १८. वही, १६।२३३। १९. वही, १६।२३१। २०. वही, २३।६०। २१. वही, २३।६०। २२. वही, २३।६०।

४. अर्धमण्डलेश्वर[1]
५. महामाण्डलिक[2]
६. अधिराज[3]
७ राजा-नृपति[4]
८ भूपाल[5]

चक्रवर्ती षट्खण्डका अधिपति और संप्रभुता सम्पन्न होता है। बत्तीस हजार राजा इसकी अधीनता स्वीकार करते[6] हैं।

अर्धचक्रवर्तीके अधीन सोलह हजार राजा रहते हैं और यह तीन खण्डोका अधिपति होता है। इसकी विभूति और वैभव चक्रवर्तीसे आधा माना गया है।

मण्डलेश्वर सम्राट् जैसा पद है। इसका राज्य पर्याप्त विस्तृत होता है। अनेक सामन्त और छोटे-छोटे नृपति इसकी अधीनतामे रहते है।

अर्धमण्डलेश्वरके अधीन एक हजार राजा रहते है और इसका वैभव मण्डलेश्वरकी अपेक्षा आधा होता है।

महामाण्डलिक—चार हजार राजा इसकी अधीनता स्वीकार करते है।

अधिराजकी अधीनतामें पाँचसौ राजा रहते है।

भूपालका राज्य नृपतिकी अपेक्षा विस्तृत होता है। हाथी, घोडे, रथ और पदाति इसके पास रहते है।

नृपति (राजा) सामान्य राजा है। प्रत्येक जनपदमे एक नृपति या राजा रहता है।

आदिपुराणके भारतमे जिस राज्य-व्यवस्थाका प्रतिपादन आया है, उसका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है। धर्म पालन, शान्ति व्यवस्था, सुरक्षा और न्याय प्रदान करना ही उसका उद्देश्य है। राजा कानून और व्यवस्थाका रक्षक, धर्म और नैतिकताका प्रेरक, आध्यात्मिक और भौतिक कल्याणका सम्पादक, सर्वभूतहिततत्पर रहता है। राज्यमे अर्थकी वृद्धिके हेतु कृषि-व्यापार, उद्योगधन्धे आदिकी प्रगति, राष्ट्रीय साधनोंका विकास, खानोकी खुदाई, वनोका संरक्षण, कृषिकी सिंचाई आदिका प्रबन्ध भी सम्पन्न किया जाता है। राज्यके कार्योका क्षेत्र जीवनके सभी पहलू—सामाजिक, आर्थिक एव धार्मिक तक विस्तृत है। प्रजारञ्जन तथा प्रजाके योग-क्षेमके लिए राजाओ द्वारा सभी प्रकारके प्रयत्न किये जाते हैं।

---

१. आदि० २३।६०। २ वही, १६।२५७। ३. वही, १६।२६२। ४. वही, ४।१३६। ५. वही ४।७०। ६. वही, ६।१९६।

आदिपुराणकी राज्य-व्यवस्थामे हमे एक मौलिक वात यह उपलब्ध होती है कि भरत चक्रवर्ती संप्रभुता सम्पन्न सम्राट् हैं। वह प्रजाको सभी प्रकारकी सुखसुविधाएँ प्रदान करनेके लिए प्रयत्नशील है। उनके राज्यमे अकृष्टपच्या खेती होती है। प्रजा सभी प्रकारसे सुखी एवं सम्पन्न है। पर जव इस चक्रवर्ती के समक्ष कोई समस्या उपस्थित होती है तो यह उस समस्याका समाधान प्राप्त करनेके लिये उस समयके धर्मनेता आदितीर्थंकरकी धर्म-सभामें पहुँचता है और वहाँ अपनी समस्याका समाधान प्राप्त करता है। इस समाधान द्वारा ही वह राजकार्यमे प्रवृत्त होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रभुता सम्पन्न नृपतिको भी अपनी सहायताके लिपे एक धर्मनेताकी आवश्यकता है। धर्मनेताका स्थान राजनैतिक नेतासे ऊँचा होता है तथा धर्मनेता ही वास्तविकरूपमे लोकनेताका पथप्रदर्शन करता है। यदि राजनैतिक नेता निरंकुश हो जाय और धर्मनेताका सम्वल उसे प्राप्त न हो, तो राज्यकी व्यवस्था अच्छी नही हो सकती।

भरत चक्रवर्तीकी जो राज्यव्यवस्था है, उसकी तुलना हम गुप्तवंशीय सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकी राज्यव्यवस्थासे कर सकते है। यदि भरत चक्रवर्तीके वैभवपरसे पौराणिक वातावरणको हटा दिया जाय तो मानचित्र चन्द्रगुप्त द्वितीयसे मिल जायगा। अतः स्पष्ट है कि आदिपुराणमे गुप्तकालीन भारत की समृद्धि और राज्यव्यवस्थाका अंकन किया गया है। आदिपुराणके रचयिताओ का सम्वन्ध राष्ट्रकूटवंशी राजा अमोघवर्षसे है, पर अमोघवर्षकी राज्यव्यवस्था पर गुप्तकालकी राज्यव्यवस्थाका पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

●

चतुर्थ परिच्छेद

सैन्यबल और युद्ध

राज्यसत्ता वलपर निर्भर करती है। शुक्रने वलकी परिभाषा[1] देते हुए लिखा है कि जिसका आश्रय लेकर मनुष्य निःशंक होकर कार्य करता है वह वल है। उन्होने छ प्रकारके[2] वल वतलाये है।

१. अशंकितक्षमो येन कार्यं कर्तुं वलं हि तत्। शुक्र० १।३२३। २. शारीरं हि वलं शौर्यवलं सैन्यवलं तदा। चतुर्थमास्त्रिकवलं पंचमं धीवलं स्मृतम्॥ षष्ठमायुर्वलं॥—वही, ४।८६८-८६९।

१. शारीरिक वल ।
२. आत्मिक वल ।
३. सैन्य वल ।
४. अस्त्रवल ।
५. वुद्धिवल ।
६. आयुवल ।

उपर्युक्त छहो वलोंमे सैन्यवल सवसे महत्त्वपूर्ण है। जिस राजाके पास नीति और सैन्यवल होता है, उसके पास लक्ष्मी स्वयमेव चली आती है। कौटिल्य अर्थ-शास्त्रमे[1] सैन्यवलको दण्डके नामसे अभिहित किया है। इनके मतानुसार राजाको सदैव दो प्रकारके कोपोसे भय रहता है—(१) अमात्योंका कोप और (२) वाह्य-कोप। इन दोनोंसे सैन्यवल द्वारा ही रक्षा हो सकती है महाभारतके[2] अनुसार दण्डके दो रूप हैं—प्रकाश और गुप्त। सेना अथवा वल उसका प्रकाश रूप है।

सेनाकी परिभाषा

शस्त्रो और अस्त्रोसे सुसज्जित मनुष्योके समुदायको सेना कहा जाता है। शुक्र ने लिखा है—"सेना शस्त्रास्त्रसंयुक्ता मनुष्यादिगणात्मिका[3]"। सेनाके मूलतः दो भाग है—स्वगमा और अन्यगमा। स्वगमाके अन्तर्गत पदातिसेना तथा अन्य-गमाके अन्तर्गत रथ, अश्व एवं गज आदि वाहनोंपर चलनेवाली सेना आ जाती है। आदिपुराणमें सेनाके ये ही चतुरङ्ग वतलाये गये है। यों तो आदिपुराणमे सेनाकी सात कक्षाएँ वतलायी है, जो निम्न प्रकार हैं—

(१) हस्तिसेना (२) अश्वसेना (३) रथसेना (४) पदातिसेना (५) वृपसेना (६) गन्धर्वसेना (७) नर्तकीसेना[4]। इनमेसे प्रथम कक्षामे वीस हजार हाथी और आगे वाली कक्षाओंमें दूनी-दूनी संख्या थी। यह सातों प्रकारकी सेना महत्तर कहलातो थी। आदिपुराणके उक्त सन्दर्भसे यह स्पष्ट है कि सैन्यवल वहुत आवश्यक वल माना गया है और इसके विना राजाओका प्रभाव विस्तृत नही हो सकता।

भरतचक्रवर्तीकी सेनाको षडङ्ग ही कहा है। इन षडङ्गोंका वर्णन करते हुए लिखा है—

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र ६।१।१। २. महाभारत शान्तिपर्व ५९।४०। ३. शुक्रनीति ४।८६४। ४. आदिपुराण १०।१९८-१९९।

हस्त्यश्वरथपादातं देवाश्च नभश्चराः ।
षडङ्गं बलमस्येति पप्रथे व्याप्य रोदसी[1]॥

अर्थात् हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना, पदातिसेना, देवसेना और विद्याधर-सेना—ये छ प्रकारकी चक्रवर्तीकी सेना थी। सेनाके आगे दण्डरत्न और उसके पीछे चक्ररत्न चलता था[2]। यह दण्डरत्न आधुनिक टैंक है जो मार्ग साफ करता हुआ सेनाको आगे बढ़नेके लिए प्रोत्साहित करता था। मार्गमें आनेवाली ऊबड़-खाबड़ भूमिको समतल बनाता था तथा आनेवाली विघ्नबाधाओंको दूर करता था। इस प्रकार आदिपुराणमें चक्रवर्तीकी सेनाको महानदी[3]के समान बताया गया है। सैनिक समान ढोनेके लिए अश्वतर[4] एवं उष्ट्र[5] आदि अनेक वाहन रहते थे।

महाभारतमें[6] रथ, हस्ति, अश्व और पदातिके साथ विष्टि, नौका, चर और उपदेशक भी सेनाके अंग माने गये हैं। यह सत्य है कि युद्धके लिए प्रस्थान करते समय भार वहन करनेवाले अश्वतर, उष्ट्र आदिकी आवश्यकता अवश्य रहती है।

पदाति

पैदल चलनेवाली सेना प्राचीन कालसे ही महत्त्वपूर्ण रही है। किसी राष्ट्रको जीतनेके पश्चात् उसे हस्तगत करनेका कार्य पदाति सेना ही करती है। इसके छ भेद[7] बताये गये हैं। (१) मौल, (२) भृत्य, (३) मित्र, (४) श्रेणी, (५) आटविक तथा (६) अमित्र। वंशक्रमसे आयी हुई सेना पैतृक अथवा मौल कहलाती है। धनव्यय कर एकत्र की गयी सेना भृत्य, मित्रता स्थापित कर संगठित की गयी सेना मित्र, निश्चित समयपर सहायता देने वाली सेना श्रेणी, पर्वत प्रदेशमें रहनेवाले निषाद, भिल्ल, शवर आदिसे गठित की गयी सेना आटविक एवं शत्रुकी सेनासे आक्रान्त होकर भागे हुए सैनिक यदि दस्युभाव स्वीकार कर लें तो उनके द्वारा गठित की गयी सेना अमित्र कहलाती है।

उक्त छ प्रकारकी सेनाओंमेंसे युद्धोपयोगी तीन प्रकारकी सेना ही होती है—(१) वंशक्रमसे वेतन लेकर चली आयी सेना (२) वेतन देकर संगठित की गयी सेना एवं (३) युद्धके समय अपनी रक्षाके लिए अन्य मित्र राजाओंसे प्राप्त की गयी सेना। श्रेणी सेना, जो एक प्रकारकी सुरक्षित सेना (Reserved Force) है, का उपयोग राजधानीकी रक्षाके लिए ही किया जाता था। रामा-

१. आदिपुराण २९।६। २. वही, २९।७। ३. वही, २९।१३। ४. वही, २९।१६०। ५ वही, २९।१६१। ६. महाभारत शान्ति० ५९।४१। ७. मौलं भृत्यं तथा मैत्रं श्रेणमाटविकं बलम्। अमित्रमपरं षष्ठं सप्तमं नोपलभ्यते॥ —मानसोल्लास २।६।५५६।

यण[1]में मौल, भृत्य, मित्र और अटवी इन चार प्रकारकी सेनाओंका उल्लेख आया है। महाभारतके[2] एक प्रसंगमे मौल, भृत्य, अटवी एवं श्रेणी बलका कथन किया गया है।

आदिपुराणमे वर्णित भरत चक्रवर्तीकी सेनामे भी अटवी सेना थी। इस प्रकार आदिपुराणके भारतमे प्रत्येक राजा अपनी शक्तिके अनुसार सैन्य संगठन करता था। एक अन्य सन्दर्भमे[3] भरत चक्रवर्तीकी प्रमुख सेना चतुरंग ही कही गयी है। देव और विद्याधर तो आवश्यकतानुसार ही चक्रवर्तीकी सेनाकी सहायताके लिए उपस्थित रहते[4] थे।

युद्धके लिए चलती हुई सेनाके साथ वेश्याएँ भी चलती थी। आदिपुराणके एक प्रसंगसे हमारे इस कथनकी पुष्टि होती है। बताया है—"मार्गात् वारस्त्रीवहनपराश्च वेगसर्यः[5]", "विस्रस्तस्तनजघनांशुका पुरन्ध्री[6]" अर्थात् वेश्याओंको ले जानेमे तत्पर खच्चरियाँ अपना मार्ग छोडकर शीघ्र भागी जा रही थी। हाथीके धक्केके कारण खच्चरोके गिर जानेसे वारवनिताओके स्तन और जघनका वस्त्र खिसक गया था। इस कथनसे यह ध्वनित होता है कि युद्धके लिए प्रयाण करती हुई सेनामे नर्तकियाँ वारवनिताएँ भी रहती थी। संगीत और नृत्यकी योजना स्कन्धावारोमे[7] की जाती थी। सेनाका सामान ले जानेके लिए गर्दभ, उष्ट्र, वृषभ, अश्वतर आदि व्यवहारमे लाये जाते[8] थे। अतएव संक्षेपमे इतना ही कहा जा सकता है कि आदिपुराणमें सेनाका महत्त्व सभी दृष्टियोमे स्वीकार किया गया है।

हस्ति सेना

गज प्रारम्भसे ही ऐश्वर्यशाली एवं उपयोगी वाहन माना गया है। इसी कारण भारतीय वाङ्मयमे उसकी उत्पत्ति, बाँधनेके उपाय, लक्षण एवं शिक्षा आदिका वर्णन प्राप्त होता है। हम वाहनके विवेचन सन्दर्भमे हाथियोके भेद-प्रभेदोंका वर्णन कर चुके है। हस्तिसेना बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। युद्धमे विजयका कारण हाथी ही होते हैं। शूर, वीर, महाकाय शुभलक्षणोंसे युक्त एवं मदोन्मत्त गज विजय प्राप्तिका कारण है। कौटिल्यने "हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञाम्[9]" कहकर गजबलकी प्रशंसा की है। युद्धके लिए हाथीको सुशिक्षित करना आवश्यक माना जाता था। नीतिवाक्यामृतमे सोमदेवने—अशि-

---

१. वाल्मीकि रामायण—युद्धकाण्ड १७।२४। २. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व ७।७। ३. आदि० ३०।३। (पूर्वार्द्ध) ४ वही, ३०।३। (उत्तरार्द्ध) ५. वही, २९।१६०। ६. वही, २९।१६१। ७. वही, २९।१६३, १६५। ८. वही, २९।१६२। ९. कौटिल्य अर्थशास्त्र २।२।१४।

क्षित हाथीको व्यर्थ वतलाया है। उन्होने लिखा है—"अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः।[१]" अर्थात् अशिक्षित हाथी केवल धन और प्राणोका नाश करने वाला होता है। यदि गजको युद्ध सम्वन्धी शिक्षा न दी जाय तो वह निश्चय ही सेनामे स्वच्छन्दतापूर्वक विचारण करेगा और अपनी इच्छानुसार अन्न खाकर सैनिकोंको हानि पहुँचायेगा। यशस्तिलकचम्पूके[२] एक प्रसंगमें वताया गया है कि जिन राजाओके पास विनीत गज नही होते, वे नाममात्रके राजा होते है और युद्धमे वे ही गज उनके आत्मवध तथा विनाशके कारण होते है।

अश्वसेना

सुशिक्षित सैन्धव, यवन तथा काम्वोज अश्वोसे युक्त सेना उत्तम होती है। अर्थशास्त्रमें[३] युद्धके लिए चार प्रकारके उत्तम घोड़ोंका वर्णन आया है। काम्वोज[४], सैन्धव[५], आरट्टज[६] एवं वनायुज[७]। इन चारो प्रकारके घोड़ोंको ही युद्धके लिए सेनामे रखा जाता था। आदिपुराणमे इन चार प्रकारके घोड़ोंके अतिरिक्त वाह्लीक, तैतिल, गान्धार और वाप्य अश्वोको भी उपयोगी माना गया[८] है। महाभारतमे[९] अश्वोको शीघ्र गतिवाला वनाने तथा उत्साहसे भरनेके लिए युद्धके पूर्व मदिरापान कराये जानेका निर्देश आया है। आदिपुराणके अध्ययनसे अवगत होता है कि वाह्लीक, तैतिल और वाप्य अश्व मध्यमकोटिके होते थे। उत्तमकोटिके अश्वोमे पूर्वोक्त चार प्रकारके अश्वोकी ही गणना की जाती है। अश्व वाहनकार्यके अतिरिक्त युद्ध भी सम्पन्न करते थे। नकुलाश्व-शास्त्रमे[१०] वताया है—

"चन्द्रहीना यथा रात्रिः पतिहीना पतिव्रता।
हयहीना तथा सेना विस्तीर्णाऽपि न शोभते॥"

अर्थात् जिसप्रकार चन्द्रमासे हीन रात्रि और पतिके विना पतिव्रता सुशोभित नही होती है उसी प्रकार अश्वोसे हीन सेना सुशोभित नही होती। वस्तुत युद्धके लिए अश्व ही प्राण है। अश्वोमे सवसे वड़ा गुण यह है कि वे निर्भीक होते है और हर प्रकारके स्थलमे विचरण कर सकते है। प्रत्येक वातावरणको वे अपने अनुकूल वना लेते है। और अपने सवारकी इच्छाको भली प्रकार समझ लेते है। इस प्रकार शरीर एवं रचना द्वारा वे युद्धकेलिए वहुत ही उपयुक्त होते है।

---

१. नीतिवाक्यामृत, वलसमुद्देश्य पृ० २०८। २. यशस्तिलकचम्पू खण्ड ३, पृ० ४९१। ३. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २।३०।३२। ४–८. आदिपुराण, ३०।१०७। ९. महाभारत द्रोणपर्व ११२।५६। १०. नकुलाश्वशास्त्र १।१४।

रथसेना

रथसेना युद्धकी दृष्टिसे पर्याप्त उपयोगी है। अनेक आयुधोंसे पूर्ण, पताका तथा ध्वजा आदिसे सुशोभित, चार अश्वोसे सुशोभित, अत्यन्त दृढ चित्तवाले सारथिसे युक्त तथा अनेक महारथियोसे पूर्ण रथसेना विजयका कारण बनती है। आदिपुराणके भारतमे रथोंका उपयोग अश्व और गजसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भरत चक्रवर्ती षट्खण्ड विजयके अवसर पर रथमें आसीन दिखलाई पड़ते है। उनका सारथि भी रथसञ्चालन क्रियामे अत्यधिक पटु दिखलाई पड़ता है।

रामायण[1] तथा महाभारत कालमे[2] युद्धके समय रथोका प्रयोग होता था। महाभारतमे वासुदेव, मातलि आदि योग्य सारथियोके प्रसंग प्राप्त होते है। मार्कण्डेयपुराणमे रथोके उपयोगका बड़ा ही सुन्दर वर्णन आया है। कौटिल्यने[3] रथाध्यक्षके कार्योका निरूपण किया है। देवरथ, पुष्परथ, सांग्रामिकरथ, पारयाणिकरथ, परपुराभिगामिकरथ एवं वैनयिक रथ—इन रथोका वर्णन आया है।

युद्धमे काम आनेवाले सांग्रामिक रथ ध्वजाओसे युक्त होते थे। क्योंकि ध्वजाके नामसे ही सेना ध्वजिनी कहलाती थी। ध्वजापर किसी प्रकारकी प्रतिमा, पशु अथवा पुष्पका चिन्ह प्रतीकरूपमें रहता था। भीष्मकी ध्वजापर[4] ताडका वृक्ष प्रतीकरूपमे चिन्हित था। आदिपुराणमे[5] भी ध्वजचिन्होंका वर्णन आया है।

रथसेना सुविधा और आरामकी दृष्टिसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बतलायी गयी है। भरत चक्रवर्तीका अजितञ्जयरथ[6] दिव्यशक्ति पूर्ण है। उसकी अप्रतिहत गति है। शाकुन्तल नाटकमे दुष्यन्तका रथ भी इसी प्रकारका बतलाया गया है। वह भी आकाशमे गमन करता हुआ बताया गया है।

भरत चक्रवर्तीके रथकी तुलना हम शाकुन्तलनाटकके उक्त रथसे कर सकते है। दुष्यन्त जिस रथमे बैठकर इन्द्रकी सहायताके लिए गया था, वह रथ जल, स्थल एवं आकाश इन तीनोमे ही अप्रतिहत गतिवाला था। इस प्रकार रथसेनाका महत्त्व प्रकट होता है।

अस्त्रशस्त्र

लौह, चर्म, काष्ठ, कपास एवं शल्क आदिसे अस्त्रशस्त्रोंका निर्माण किया जाता था। समान्यतः काष्ठ और लौहका ही प्रयोग सर्वाधिक होता था। भुज-

---

१. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड १०६।१६-२०। २. महाभारत, शान्तिपर्व ५१।४१-४२। ३. कौटिलीय अर्थशास्त्र २।३५।५। ४. महाभारत, द्रोणपर्व ७।१०५। ५. आदिपुराण २६।७७। ६. वही, ३७।१६०।

त्राण—बाहुकी रक्षाका शस्त्र, शिरस्त्राण—शिरको बचानेकी लोहेकी टोपी और अङ्गत्राण—कवचका भी प्रयोग किया जाता था। सेनामें कुछ खड्ग, कुछ बरछा, कुछ भाला, चक्र एवं मुद्गर धारण करने वाले, कुछ शक्तिशूल धारण करनेवाले और कुछ असिधेनुका आदि धारण करनेवाले सैनिक रहते हैं। आदिपुराणमें निम्नलिखित अस्त्रशस्त्रोंका प्रयोग पाया जाता है—

अग्निबाण—४४।१८९ अग्निके समान तीक्ष्णबाण।
अमोघबाण—३७।१६२ कभी व्यर्थ न पड़नेवाले बाण।
असि—३७।८४, ९।४१, १०।५६, ५।२५०, १५।२००, ४४।१८०।
असिधेनुका—५।११३।
आग्नेयबाण—३।१७२।
कपिशीर्षक धनुष—४४।१७४।
कुन्त (बर्छी)—३७।१६४, ४४।१८०।
कृपाण—१०।७३।
कौक्षेयक—३६।११ तलवार।
क्रकच—१०।५९ आरा।
खग—४४।१२१ बाण।
गजबाण—४४।२४२।
चक्र—६।१०३, १५।२०८, ४४।१८०।
चण्डवेगदण्ड—३७।१७०।
चर्मरत्न—३७।८४।
चाप—४।१७६।
जलबाण—४४।२४२।
तमोबाण—४४।२४२।
दण्ड—१५।२००, ३७।८४।
धनुषबाण—४।१७५।
निर्घात—२७।७७ वज्र।
पवनबाणा—४४।२४० भाल।
प्रास—४४।८१, ४४।१८०।
भूतमुखखेट—३७।१६८।
मनोवेगकषाय—३७।१६६।
मुद्गर—४४।१४३।
मेघबाण—४४।२४२।
यष्टि—३।१०५।

लकुट—३।१०५ ।

लोलवाहिनी असिपुत्रिका—३७।१६५ ।

वज्र—१।४३ ।

वज्रकाण्ड धनुष—३७।१६१ ।

वज्रतुण्डा शक्ति—३७।१६३ ।

विशिख—९।१९५ ।

व्यस्त्र (महास्तम्भक दिव्यास्त्र)—३१।७२ ।

शस्त्र—३१।७२ ।

सिंहवाण—४४।२४२ ।

सुदर्शनचक्र—३७।१६९ ।

सूर्यवाण—४४।२४२ ।

सौनन्दिक तलवार—३७।१६७ ।

इन अस्त्रशस्त्रोके अतिरिक्त सैन्य सम्बन्धी निम्नलिखित सामग्री भी उपलब्ध होती है—

अजितञ्जय रथ—३७।१६० (चक्रवर्तीका रथ) ।

अभेद्य कवच—३७।१५९ (दैदीप्यमान एवं वाणोसे भेदा न जाने वाला) ।

असिकोप—५।२५० ।

आयुध—४५।३ ।

आयुधालय—६।१०३, ३७।८५ ।

कवच—५।१४५ ।

टोप—५।१४५ ।

तनुत्रिक—३१।७२,३६।१४ (शरीरपर धारण करनेवाला कवच) ।

तसरु—३७।१६५ (तलवारकी मूठ) ।

निगड—४२।७६ (वेडी) ।

निषंग—१६।४२ ।

पृतना—६।१०९ ।

वल—५।२५१ ।

वैसाखस्थान—३२।८७ (वाण चलानेका स्थान) ।

शरव्य—३५।७१ (निशाना) ।

शरव्रात—३६।८० (वाणसमूह) ।

शिरस्त्र—३१।७२ ३६।१४ (शिरको वचानेवाली टोपी) ।

सन्नाह—३५।५९ (शरीरपर धारण करनेवाला कवच) ।

सर्वायुध—१०।५६, १०।६९ ।

संवर्मित—३६।१३८ (कवच धारण किये हुए सैनिक)।

युद्ध

आदिपुराणमे युद्धविज्ञानका साङ्गोपाङ्ग चित्रण आया है। युद्धके कारण, युद्धकी आचार-संहिता, सैन्य-संगठन, सैन्यिक-शिविर, युद्धके वादित्र, युद्ध करनेकी प्रक्रिया, योद्धाओंके वार्त्तालाप आदिका पूर्ण चित्रण आया है।

युद्धके कारण

संसारमे कोई भी कार्य विना कारणके नही होता। युद्ध एक महत्त्पूर्ण कार्य है। इसके लिए भी कारणकी अपेक्षा है। आदिपुराणमें युद्धके प्रमुख तीन कारण दृष्टिगोचर होते हैं—

१. नारी—स्वयंवर या अन्य किसी अवसरपर नारीके हेतु युद्धका होना।

२ साम्राज्यविस्तार—

३. आत्मभिमानकी रक्षा।

युद्धके कारणोमे प्रमुख कारण राज्यविस्तार है। यह प्राचीन परिपाटी है कि राज्याभिषेकके अनन्तर युवराज दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता था। वह निर्वल राजाओको अपने अधीन वनानेके लिए तथा साम्राज्यको दिक्-दिगन्त व्याप्त करनेके लिए सैनिक अभियान करता है। भरत चक्रवर्तीका दिग्विजय उपक्रम इसी प्रकारका है। उन्होने षट्खण्डको जीतनेके लिए ससैन्य प्रयाण किया। जिन राजाओने उनकी आज्ञा स्वीकार न की, उनके साथ युद्ध किया। अतः युद्धका एक कारण राज्यविस्तार[1]की लालसा है।

युद्धका द्वितीय कारण नारी है। आदिपुराणमे आया है कि सुलोचनाने जव जयकुमारको वरण कर लिया, तो कुछ दुष्ट राजाओने भरतचक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिको सुलोचनारूपी कन्यारत्नको वलपूर्वक प्राप्त करनेके लिए उत्साहित किया। अर्ककीर्तिने अपना अपमान समझकर जयकुमारके साथ युद्ध करनेकी घोषणा की।

युद्धका तीसरा कारण आत्माभिमानकी रक्षा है। भरत और वाहुवलिके वीच युद्ध होनेका हेतु आत्माभिमान ही है। ज्येष्ठ भ्राता भरतको वाहुवलि नमन कर लेते, पर पितृतुल्य वड़ा भाई समस्त पृथ्वीके राज्यको प्राप्त करनी भी छोटे भाई के एक छोटेसे राज्यको अपना लेना चाहता है- तथा जिसने मस्तकपर तलवार रख छोड़ी है उसको प्रणाम करना कौन-सी रीति है ? अहंकारके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे मन दुःखी होता है। जव भरतको इतने वड़े राज्यसे सन्तोष नही और

---

१. विशेष जाननेके लिए देखिये—आदिपुराण पर्व, २६।३०।

वह मेरे पिता द्वारा दिए गए मेरे छोटे से राज्यको ले लेना चाहता है तो उसके सामने मेरा मस्तक नत नही हो सकता। वाहुवलिकी यह चिन्ताधारा स्वाभिमान[1] पूर्ण है और इसी स्वाभिमानके रक्षणहेतु भरत और वाहुवलिके वीच जलयुद्ध, मल्लयुद्ध और नयनयुद्ध हुआ है। इस प्रकार आदिपुराणमे युद्धके कारणोंका निरूपण आया है।

युद्धकी आचारसंहिता

युद्धकी आचारसंहिताका विकास रामायण और महाभारत कालसे ही चला आ रहा है। युद्धको धर्मयुद्ध कहा जाता है। युद्धमे नियमोंका उल्लंघन भी हो सकता है पर संग्राम नियमपूर्वक ही लडा जाता है। साम, दाम, दण्ड और भेद द्वारा युद्धको टालनेका प्रयत्न किया जाता था। युद्ध करनेवाले विजिगीपुओं के किये यह नियम प्रचलित था कि शत्रु यदि शक्तिशाली न हो तो उसके साथ युद्ध छेड़ देना चाहिये। शत्रुके शक्तिशाली होने पर ही युद्धमे कठिनाई होती है। चतुर राजाको इस वातका विचार करना चाहिये कि सफलताके लिये शत्रु राजा को किसी दूसरे शत्रु राजासे लडाकर अपनी शक्ति सम्पन्न करना चाहिये। शत्रुके सवल होनेपर उससे सन्धि कर लेना श्रेयस्कर है। युद्धकी घोपणा करने या न करनेका विचार राजा अपने मन्त्री या सेनापतिकी सलाहसे करता था। गुप्तचर तथा दूतोकी सूचना पर राजाको मन्त्रिपरिषदसे युद्ध करनेका परामर्श लेना चाहिये। सेनापति, दण्डाधिकारी, अमात्य आदिके साथ परामर्श कर ही युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिये। आदिपुराणके सन्दर्भसे यह भी ज्ञात होता है कि सेनाका अनावश्यक विनाश न हो, अतएव दोनो ही पक्ष वाले परस्परमे ही द्वन्द्व युद्ध करके विजयका निर्णय कर लेते थे। भरत और वाहुवलिने सैन्य युद्धको रोककर आपस मे ही मल्लयुद्ध, जलयुद्ध और नयनयुद्ध किया। इस प्रकार युद्धकी आचार संहिता धर्मनीतिपर अवलम्वित थी। विजिगीपु और पराजित आपसमे समझौता भी कर लेते थे, जिससे युद्धका वातावरण ही समाप्त हो जाता था।

युद्धकी तैयारियाँ

युद्ध सम्पन्न होनेके पूर्व दूत सम्प्रेपण द्वारा अपने-अपये मन्तव्योंका प्रकाशन किया जाता था। आदिपुराणमे वताया है कि भरतने वाहुवलीके साथ युद्ध करनेके पूर्व दूतको भेजा था और दूतने वाहुवलीके समक्ष भरतके वल-पौरुषका गुणगान किया था तथा भरतकी अधीनता स्वीकार करनेके लिए वल दिया था। दूत प्रतिभाशाली गुणी और विद्वान् होता था। अतएव वह राजाके समक्ष अपना चातुर्य प्रदर्शित करता हुआ विजयी राजाकी विशेपताएँ वतलाता है। दूत अपने

१. आदि० ३५।१०७-११०। २. वही, पर्व—३५।

राजाके अभिप्रायको बड़ी ही कुशलतापूर्वक व्यक्त करता था और उसका यह प्रयास रहता था कि युद्ध संपन्न न हो और दोनों राजाओंमें सन्धि हो जाय।

युद्ध निश्चित हो जानेपर शत्रु राजाकी शक्तिपर विचार करते हुए अपने नगरका परकोटा, खाई, गोपुर आदिका उचित प्रवन्ध करता था। नगरके सभी दरवाजोको मजवूत कर दुर्गका आश्रय लिया जाता था। दुर्ग उस समय राजाकी वड़ी शक्ति मानी जाती थी। अतएव दुर्गरक्षाका पूरा प्रवन्ध रहता था[1]।

कुशल राजा गुप्तचरो द्वारा शत्रुराजाओंके कार्योकी जानकारी प्राप्त करता था। वह भृत्योको प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लेता था। अपनी सैनिक शक्तिको प्रवल वनानेके लिए मित्र राजाओसे सैनिक याचना करता था। आदिपुराणमे गुप्तचरोका भी उल्लेख आया है, जिसका हम पूर्वमें उल्लेख कर चुके है।

सैन्य संगठनका हम पूर्वमे ही कथन कर चुके है। हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना, पदातिसेनाका संगठन वडी ही दक्षतासे किया जाता था। हाथी युद्धक्रियामे प्रवीण होते थे। वताया गया है कि जयकुमारके विजयार्थ हाथीने शत्रुके नव हाथियोको अपने दन्त प्रहारसे भूमिपर गिरा दिया था। दन्त प्रहारको शक्ति सर्वाधिक हाथियोमें होती थी, अतएव उक्त चारो प्रकारकी सेनाका संवर्द्धन करना राजाका कर्तव्यकर्म था।

आदिपुराणमे सैनिक साजसज्जाका भी सुन्दर वर्णन आया है। वे विभिन्न प्रकारके परिधान धारण करते थे, विभिन्न देशोसे सैन्यका संगठन करनेके कारण उनकी वेशभूषा भी विभिन्न प्रकारकी होती थी। सैनिक वस्त्र धारण करते समय इस वातका ध्यान रखते थे कि वेशभूषा शीतातपसे तो रक्षा करे ही, साथ ही तलवार आदिसे भी रक्षा कर सके। आदिपुराणमे आया हुआ तनुत्रिक शब्द हमारे इस कथनकी पुष्टिका प्रमाण है। शिरस्त्राण, अंगत्राण और वाहुत्राणका प्रयोग भी किया जाता था। पैदल सैनिक पैरोमे जूते भी पहनते थे।[2] आभूषण और सुन्दर वस्त्रोका धारण करना भी सैनिकोके लिए विधेय था।

सेनापति

सम्पूर्ण सेनाकी व्यवस्था एक कुशल सेनापति द्वारा होती थी। उसका यह कार्य होता था कि वह सम्पूर्ण सेनाको अच्छी तरह शिक्षित और संगठित कर सही ढंगसे संग्राममे ले जाय। वस्तुत विजयश्रीकी प्राप्त करनेमे प्रमुख श्रेय सैन्यसञ्चालनको है। सेनापति यदि कुशल होता है तो सैन्य-व्यवस्था तो सुन्दर रहती ही है, पर सेनापति न्यायनीतिका भी पूर्ण प्रचार करता है। व्यूहरचना एवं

---

१. आदिपुराण ३२।५४। २. आदिपुराण २७।११०।

सेनाको टुकड़ियोमे विभक्त कर स्वराष्ट्रकी रक्षा करता हुआ परराष्ट्रसे आनेवाली विपत्तियोंका निवारण भी करता है। अतएव सेनापतिका कार्य युद्धमे अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण होता है।

सैनिकप्रयाण

जब दो राष्ट्रोके बीच किसी कारणवश युद्ध अनिवार्य हो जाता है, और दोनों ओर सैन्य संगठित ही तैयार हो जाती है, तो युद्धके नगाडे बजने लगते है। यहाँ हम जयकुमार और अर्ककीर्तिके युद्ध सन्दर्भको उपस्थित कर सेनाको उत्साहित करनेके हेतु बजनेवाले वादित्रोका उल्लेख करेंगे—

> इत्युदीर्य जयो मेघकुमारविजयार्जिताम् ।
> मेघघोषाभिधां भेरीं प्रेष्ठेनास्फोटयद् रुषा ॥[१]

इस प्रकार कहकर जयकुमारने क्रोधमे आकर युद्धमे आगे जानेवाले पुरुषके द्वारा मेघकुमारोको जीतनेसे प्राप्त हुई मेघघोषा नामकी भेरी बजवाई। प्रलयकालके प्रारम्भमें प्रकट होनेवाले द्रोण आदि मेघोकी घोर गर्जनाको जीतकर तथा शत्रुओका हृदय विदारण कर वह आवाज सर्वत्र फैल गयी। जिस प्रकार शत्रुके विजय करने पर उत्सव होता है, उसी प्रकार उस भेरीका शब्द सुनकर लहराते हुए समुद्रके समान चंचल जयकुमारकी सेनामे माला डालनेके उत्सवसे भी कही अधिक उत्सव होने लगा।

युद्धमे तीन अवसरोपर वादित्र बजते थे और ये बजनेवाले वादित्र भी भिन्न-भिन्न श्रेणीके होते थे। प्रथम वे वादित्र थे, जो सेनाके प्रयाणके समय बजते थे। इस श्रेणीके वादित्रोके बजते ही सेना तैयार होने लगती थी और सभी योद्धा अस्त्रशस्त्रसे सज्जित हो रणभूमिमे जानेके लिए प्रस्तुत हो जाते थे।

दूसरे वे वादित्र थे, जो युद्ध होनेके समयमे बजते थे। सैनिकोको जोश दिलानेके लिए रणभेरियाँ बजायी जाती थी। कभी कभी योद्धाओकी महत्त्वाकांक्षाओको जागृत करनेके लिए शंख, आनक और तूर्य भी बजते थे। युद्धकालमे बजनेवाले वादित्र सैनिकोंको उत्साहित करते थे।

तीसरे वे वादित्र थे, जो युद्धकी समाप्ति पर बजाये जाते थे। इसे विजय दुन्दुभि भी कहा गया है। जब विजिगीषु राजा विजय प्राप्त कर लेता था तो सेनामे उत्साहका संचार करनेके लिए वादित्र बजाये जाते थे।

---

१. वही, ४४।९३–९५।

सैनिक उत्साह

आदिपुराणमें सैनिकोंके उत्साहका सुन्दर चित्रण आया है। भरत चक्रवर्तीकी दिग्विजय यात्रामें सैनिकोंमें जितना उत्साह दिखलाई पड़ता है, उतना उत्साह अन्य किसी अवसर पर उनमें नहीं देखा जाता। नगाड़ोंकी ध्वनि सुनते ही सैनिकों के अंग फड़कने लगते हैं और वे पुलकित हो युद्धभूमिमें जानेके लिए तैयार हो जाते हैं। युद्ध प्रारम्भ होनेके पूर्व सैनिकोंकी अधीरता बहुत बढ़ जाती है। आदि-पुराणमें जयकुमार और अर्ककीर्तिके युद्ध प्रसंगमें सैनिकोंके उत्साहका अच्छा चित्रण किया गया है। युद्ध भूमिके लिए गमन करते समय सैनिक इतने प्रसन्न रहते थे, जिससे उनका कवच ही उन्हें छोटा हो जाता था। आदिपुराणमें राजा इसी विशेष अवसरके लिए सैनिकोंको पोषकर रखता[1] था।

मांगलिक उत्साह

सैन्य प्रस्थानके समय मंगलसूचक शकुनों पर भी विचार किया जाता था। यदि सैन्यके प्रस्थानके समय दाहिनी ओर शृगाल आवाज करे, कोई छींके, साँप रास्ता काट जाय, कौआ कर्कश स्वरसे बोले, गदहा आर्तस्वर करने लगे तो अप-शकुन समझना चाहिये। इसका प्रतिफल राजाकी पराजय मानी जाती थी। सैनिक प्रयाणके समय गन्धर्व गान गाते थे, ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण करते थे। वैता-लिक स्तुति पाठ करते थे। युद्ध हेतु प्रस्थित राजाके समक्ष दही-दूर्वाके साथ चन्दनका तिलक भी मंगलमय माना जाता था। जहाँसे सेनाका प्रस्थान आरम्भ होता था वहाँ मांगलिक द्रव्योंसे परिपूर्ण सुवर्णघट स्थापित किये जाते थे। इस प्रकार सैनिक प्रयाणके अवसरपर शकुन, अपशकुन आदिका भी विचार किया जाता था।

सैन्यशिविर

प्राचीन भारतीय युद्ध-विज्ञानके अन्तर्गत सैन्यशिविरको भी परिगणित किया गया है। दिग्विजयके लिए प्रस्थित सम्राटों द्वारा मार्गमें अनेक प्रकारके शिविर स्थापित किये जाते थे। सैन्य प्रस्थानके पूर्व भी सेनाके पड़ावका स्थान निश्चित हो जाता था। सेनापति स्थपति (प्रधान इञ्जीनियर) को बुलाकर सैन्य-शिविरके बनानेका आदेश देता था, जिसमें सेना जाकर ठहरती थी[2]। एक दूसरे प्रकारके भी शिविर होते थे, जो युद्ध-क्षेत्रके आसपास ही निर्मित किये जाते थे। संध्याको युद्ध बन्द हो जाने पर सैनिक उन शिविरोंमें विश्राम करते थे। शिविरके चारों ओर तम्बू लगाये जाते थे। मध्यमें सम्राटका तम्बू रहता था। वह अनेक मंगल द्रव्योंसे युक्त रहता था। उसकी रचना भी बहुत सुन्दर होती

१. आदिपुराण ३५।१४३। २. आदिपुराण २७।१२१।

थी। चक्रवर्ती भरतका तम्बू चांदीके खम्भोमे बड़े-बड़े श्वेत वस्त्रोंको लगाकर बनाया गया था, जिसकी शोभा राजभवनोंको भी तिरस्कृत करती थी[1]।

सम्राट्के तम्बूको घेरे हुए सामन्तोके तम्बू रहते थे और उसके बाद बड़े-बडे योद्धाओके और पश्चात् सामान्य सैनिकोके तम्बू होते थे। यदि सामान्य सैनिकोको तम्बूकी कमी पडती थी तो वे शीघ्र ही घासकी बडी-बडी झोपड़ियाँ तैयार कर[2] लेते थे। भरतके शिविरमे घोड़ोको ठहरानेके लिए भी पटमण्डप[3] बनाये गये थे। उन्हे बाधनेके लिए शिलाएँ[4] डाल दी जाती थीं।

हाथियोको वन-वृक्षोसे ही बाँध दिया जाता था। सेनाका यह पडाव किसी वन प्रदेशमे होता था। शिविरकी यह रूपरेखा बहुत ही विस्तृत होती थी। इसमे बाजारकी भी व्यवस्था होती थी। व्यापारीवर्ग अपने सामानको बैलगाडियोमे लेकर सेनाके साथ-साथ चलता था। जहाँ पडाव पडता था, वहाँ बाजारकी व्यवस्था कर ली जाती थी।

सैनिकोके मनोरंजन एवं विश्रामके लिए वेश्याओके भी तम्बू रहते थे। वेश्याएँ श्रान्त क्लान्त सैनिकोका स्वागत करती थी। निस्सन्देह ये शिविर राजप्रासाद जैसे प्रतीत होते थे। शिविरोमे नाना प्रकारके भोजन भी बनते थे, जिसका स्वाद लेकर सैनिक आनन्दित होते थे।

युद्धक्षेत्र या रणभूमि नगरके बाहर मैदानमे अवस्थित रहती थी। आक्रमणकारी राजा पहलेसे ही युद्धभूमिमे डटा रहता था। आक्रमणकारीकी ललकारका उत्तर देनेके लिए नगरका नृपति सेना लेकर युद्धभूमिमे पहुँचता था। दोनों पक्षोंकी सेनाएँ आमने-सामने खडी हो जाती थी। प्रथम तो दोनो पक्षोके लोग एक दूसरेके लिये अपने पराक्रमका परिचय देते थे। प्रतिपक्षका सेनापति ललकारता हुआ दूसरे पक्षके सैनिकोसे कहता था—अरे मूर्ख ! यदि तू साहसके साथ रणमें खड़ा होना चाहता था है तो शीघ्र ही सावधान हो। प्रत्युत्तरमें कहा जाता कि चुप रहो ! मेरी चिन्ता मत करो। तुम्ही युद्धमे अपने प्राणोको गंवाना चाहते हो। इस प्रकार सैनिकोके उत्तर-प्रत्युत्तर, उनको वीरताओंकी लम्बी-लम्बी डीगे एवं ओजस्वितापूर्ण वाणी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं।

व्यूहरचना

आदिपुराणके भारतमे व्यूह बनाकर युद्ध किया जाता था। आदिपुराणमें जिन व्यूह रचनाओके नामोल्लेख आये है वे कौटिल्य अर्थशास्त्रमे निर्दिष्ट बयालीस प्रकारकी व्यूह रचनाओके अन्तर्गत समाविष्ट है। आदिपुराणमे उल्लिखित व्यूह रचनाएँ निम्नलिखित है—

---

१. आदि० २७।१२६। २ वही, ३२।६५। ३. वही, २७।१४९। ४. वही, २७।१२१।

असंहृतव्यूह—३१।७६
गौडव्यूह—४४।११२
चक्रव्यूह—४४।१११
दण्डव्यूह—३१।३६
मकरव्यूह—४४।१०९
मण्डलव्यूह—३१।७६
भोगव्यूह—३१।७६

इन व्यूहोको एक दूसरेसे नष्ट किया जाता था। मकरव्यूहको चक्रव्यूहसे, नागव्यूहको गरुडव्यूहसे, दण्डव्यूहको सूचीव्यूहसे।

इसी प्रकार विद्याधर तमोवाण द्वारा अन्धकारका सृजन करते थे, पर प्रतिपक्षी प्रकाशवाणको छोडकर अन्धकारको नष्ट कर देता था। अग्निवाणके शमन-के लिए जलवाण और गजवाणका निवारण सिंह वाण द्वारा किया जाता था। इस प्रकार धनुपवाणका महत्त्व सर्वाधिक था। युद्धभूमिमे सैनिक वैरविरोधके रहने पर भी प्रेमपूर्वक मिलते थे। आदिपुराणमे आया है कि शाम होते ही युद्ध वन्द हो जाता था। यदि किसी पक्षका राजा अपनी हठके कारण सूर्यास्तके अनन्तर भी युद्ध करना चाहता था तो मन्त्री इसे अधर्म कार्य कहकर वन्द करा देते[1] थे।

युद्ध वन्द होते ही सैनिक शिविरोमे चले जाते थे। वहाँ उनकी प्रियाएँ उनका कुशल समाचार पूछती थी और उनकी सेवा करती थी। किन्तु कई घायल सैनिक, जिनके प्राण आँखोमे अटके रह जाते थे, युद्धक्षेत्रमे पडे-पडे अपनी प्रियाओकी प्रतीक्षा करते थे। वीरगति प्राप्त हुए सैनिकोका संस्कार कर दिया जाता था

प्रात काल होते ही वाद्य वजनेके साथ ही सैनिक जाग जाते थे। सेनापति दैनिक क्रियाओको सम्पादित करता था। याचकोंको दान देना, भगवत्पूजन करना, सैन्यका विभाजन करना एवं युद्धके लिए तैयार करना आदि क्रियाएँ भी सेनापति द्वारा ही सम्पादित की जाती थी।

युद्धके परिणाम

आदिपुराणमे युद्धके परिणाम कई रूपोमे दिखलायी पडते है। युद्धके अनन्तर शान्ति स्थापित हो जाती है, पराजित राजा संसारसे विरक्त हो, दिगम्बर दीक्षा ग्रहणकर वनमे चला जाता है। पर विजिगीपु आनन्द एवं वैभवका जीवन व्यतीत करता हुआ परमार्थकी ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार आदिपुराणमें युद्ध-विज्ञानका विस्तृत रूप उपलब्ध होता है।

---

१. आदिपुराण ४४।२७२।

अध्याय : ७

धर्म-दर्शन-भावना

संस्कृतिके लिये आत्मतत्त्वका निरूपण, आत्मशोधन एवं आत्मशोधनकी प्रक्रियाका विवेचन करना आवश्यक है। संकृतिका अंतरंग पक्ष आत्माको सुसंस्कृत और उन्नत बनाना है। आदिपुराणके भारतमे सभ्यताके साथ संस्कृतिका भी प्रचार था। जीवनका चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना था। और इस मोक्षकी प्राप्तिके लिये धर्मका अनुसरण करना आवश्यक था। इसी कारण आदिपुराणमे प्रसंग-वश न्याय, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, वेदान्त एवं चार्वाक दर्शनोके सिद्धान्त चर्चित हुये है।

आदिपुराणके पंचम पर्वमें धर्म-अधर्मका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए प्रश्न उठाया गया है कि जब धर्मी आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जाय तभी धर्मका फल स्वीकार किया जा सकता है। आत्माका अस्तित्व ही जब सिद्ध नही है तो इसकी अन्य क्रियाएँ किस प्रकार स्वीकार की जा सकती है[1]? भूतवादी[2] आत्मसत्ताको अस्वीकार कर पुण्य-पाप, परलोक आदिका भी निरसन करता है। वह कहता है कि शरीरका विनाश होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। इस लिये जो व्यक्ति प्रत्यक्षका सुख छोड़कर परलोक सम्बन्धी सुखकी कामना करता है, वह दोनो लोकोंके सुखसे वंचित हो जाता है। इस प्रकार भूतदेहात्मवादका पूर्व पक्ष उपस्थित कर उसके तर्कोका सयुक्तिक उत्तर दिया है और धर्मी आत्मा की सत्ता सिद्धकर सदाचार-पालन और आत्मोत्थानका महत्त्व प्रतिष्ठित किया है।

जीव और विज्ञानवादका विवेचन भी आदिपुराणकारने किया है। विज्ञान-वादियोंका[3] अभिमत है कि संवित् या अनुभवके अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य ज्ञेय की सत्ता नही है। इनके मतसे बुद्धि ही विविध वासनाओंके कारण नाना रूपोमे

---

१. आदि० ५।६३-६४। २. वही, ५।६५-६८। ३. वही, ५।३८-५।४२।

प्रतिभासित होती है। जिस प्रकार स्वप्नमें बाह्य पदार्थोंके अभावमे भी अनेक प्रकारके अर्थक्रियाकारी दृश्य उपस्थित होते है उसी प्रकार जागृत अवस्था भी एक लम्बा स्वप्न है और इसमे भी पदार्थोका मिथ्या ही आभास होता है। अतः ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थकी पारमार्थिक सत्ता नही है। विज्ञानवादी की दृष्टिमें जीव नामक कोई पदार्थ नही, क्योंकि उसकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती। विज्ञानवादीका यह कथन भी भ्रान्त है। यहाँ हम पूंछते है कि विज्ञानवाद की सिद्धि किसके द्वारा की जायेगी? साधनके द्वारा या बिना किसी साधनके? यदि साधनके द्वारा सिद्धि करेंगे तो साध्य-साधन दो तत्त्व हो जानेसे द्वैत-वाद हो जायेगा। यदि साधनके विना सिद्ध करना चाहेंगे तो विना साधनके उसकी सिद्धि ही नही हो सकेगी। अत. विज्ञानाद्वैतवादीको भी जीवकी सत्ता स्वीकार करनी पडेगी।

जीव और नैरात्म्यवादका विवेचन करते हुए आदिपुराणकारने आत्माकी सत्ता सिद्ध की है। नैरात्म्यवाद या शून्यवाद[१]का सिद्धान्त है कि यह जगत् शून्य-रूप है। इसमे मनुष्य, पशु-पक्षी, घट-पट आदि पदार्थोका जो प्रतिभास हो रहा है, वह मिथ्या है। भ्रान्तिसे ही वैसा प्रतिभासित हो रहा है। इस प्रकार नैरात्म्यवाद या शून्यवादके पूर्वपक्षको उपस्थित कर उसकी समीक्षा भी की है। बताया है कि आपके शून्यवादमे शून्यत्वको प्रतिपादित करनेवाले वचन और उनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है अथवा नही? यदि आप इन विकल्पोके उत्तरमें यह कहें कि शून्यत्वको प्रतिपादित करनेवाले वचन और ज्ञान दोनो है तो आपको वाक्य और विज्ञानकी तरह समस्त पदार्थोका भी अस्तित्व स्वीकार करना पडेगा।

क्षणिकवादकी समीक्षा करते हुए लिखा है कि सर्वथा क्षणिक माननेसे आत्मा-में चित्तसंतति सिद्ध नही हो सकती; क्योकि कार्यकारणका अभाव है। क्षणिकमे कार्य क्या होगा और कारण क्या? जो प्रयत्नके अनन्तर होता है वह कार्य है। सर्वथा असत् वस्तुमें उत्पत्तिरूप कार्य संभव नही है। क्षणिकसिद्धान्तमे कृतनाश और अकृताभ्यागम नामक दोष भी आते है।

आत्माकी भोक्तृत्वशक्तिको मानने वाले सांख्यदर्शनके सिद्धान्तोंका प्रति-पादन मरीचिने[३] किया था। आचार्य जिनसेनने नित्यएकान्तवादकी मीमासा करते हुए आत्माकी कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तिका अस्तित्व सिद्ध किया है।

न्यायदर्शन[४], योगवाद[५], अद्वैतवाद[६], द्वैतवाद[७] आदि विभिन्न दर्शनोकी समीक्षा करते हुए आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया गया है।

---

१. आदि० ५।४५–४८। २. वही, ५।८२-८३; २१।२४३-२४४। ३. वही, १८।६२; २१।२५१। ४. वही, १८।६२। ५. २१।२२३-२२४। ६–७. वही, २१।२५३।

आदिपुराणमें तीर्थंकर, आचार्य और मुनियोंके उपदेश अंकित हैं। इन उपदेशोंमें आचार, दर्शन और तत्त्वज्ञानकी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें उपलब्ध होती हैं। इस ग्रन्थमें तत्त्वकी परिभाषा करते हुए लिखा है—

"जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्त्वमिष्यते"[१]—जीवादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप ही तत्त्व है। तत्त्व सामान्यत: एक है[२] और जीव-अजीवके भेदसे दो प्रकारका है। जीवके संसारी और मुक्त ये दो भेद हैं। सांसारी जीवके दो भेद हैं—भव्य और अभव्य। अतः आदिपुराणमें तत्त्वके चार भेद बताये हैं—

१. मुक्तजीव।
२ भव्यजीव।
३. अभव्यजीव।
४ अजीव।

अजीवके दो भेद हैं—मूर्तिक और अमूर्तिक। अतः प्रकारान्तरसे तत्त्वके निम्नलिखित भेद संभव हैं[३]:—

१. संसारी।
२. मुक्त।
३. मूर्तिक।
४ अमूर्तिक

प्रयोजनीभूत तत्त्व सात हैं :—

१ जीव।
२. अजीव
३. आस्रव।
४. बंध।
५. संवर।
६ निर्जरा।
७ मोक्ष।

जीवतत्त्वका वर्गीकरण मुक्ति-योग्यता,[४] वर्तमान स्थिति,[५] अवस्थाविशेष[६] एवं इन्द्रियसंवेदनके आधारपर किया गया है। प्रथम प्रकारकी अपेक्षा जीवके दो भेद हैं—भव्य और अभव्य। जिनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रके उत्पन्न करनेकी क्षमता—मुक्ति प्राप्त करनेकी योग्यता हो वे भव्य और जिनमें इस प्रकारकी योग्यता न हो वे अभव्य हैं, वर्तमान स्थितिकी अपेक्षा भी जीवके दो भेद हैं—संसारी एवं मुक्त और अवस्थाविशेष—गतिकी

१. आदि० २४।८६। २. वही, २४।८७। ३. वही, २४।८८-८९। ४. वही २४।८९। ५. वही, २४।८८। ६. वही, २४।९८-९९।

अपेक्षा संसारी जीव ४ प्रकारके हैं—नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इन्द्रिय-संवेदनकी दृष्टिसे जीवोंके ५ भेद हैं।

जीवके विवेचन-क्रममें उसके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावोंका भी विवेचन किया है। जीवके ज्ञान, दर्शन आदि गुणों एवं उसके १० प्राणों तथा विभिन्न पर्यायोंका सांगोपांग निरूपण किया गया है।

अजीवद्रव्यके ५ भेद बतलाये हैं—पुद्गल,[१] धर्म, अधर्म, आकाश और काल। स्कन्धको संयुक्त द्रव्य कहा है और परमाणुको मूल शुद्ध द्रव्य माना है। स्कन्ध अपने परिणमनोंकी अपेक्षा छह प्रकार[२] का बताया है—

१. बादर-बादर
२. बादर
३ बादर-सूक्ष्म
४. सूक्ष्म-बादर
५ सूक्ष्म
६. सूक्ष्म-सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म

पुद्गलद्रव्यके स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार विभाग भी बताये हैं। अनन्तानन्त परमाणुओंसे स्कन्ध बनता है। उससे आधा देश और देशका आधा प्रदेश तथा अविभागी अणु परमाणु होता है।

परमाणुओंमें स्वाभाविक स्निग्धता और रूक्षता होनेके कारण परस्पर बन्ध होता है। जिससे स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। स्कन्ध बननेकी प्रक्रिया यह है कि शक्तिकी अपेक्षा द्व्यंश अधिक स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष, स्निग्ध और रूक्ष एवं रूक्ष व स्निग्ध परमाणु परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त होते हैं। बन्धकालमें जो अधिक गुणवाला परमाणु है, वह कमगुणवाले परमाणुका अपने रूप, रस, गन्धके अनुरूप परिणमन करा लेता है। इस प्रकार दो परमाणुओंसे द्व्यणुक, तीन परमाणुओंसे त्र्यणुक और चार, पाँच आदि परमाणुओंसे चतुरणुक एवं पंचाणुक आदि स्कंध उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पुद्गलका विस्तृत विवेचन तो इस ग्रन्थमें आया ही है, साथ ही धर्मद्रव्य[३], अधर्मद्रव्य[४], आकाशद्रव्य[५], और काल द्रव्यका[६] भी वर्णन उपलब्ध होता है।

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वोंके वर्णनके साथ स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय[७]का निरूपण भी आया है। मोक्षमार्ग[८]का कथन करते हुए

---

१. आदि० २४।१४५-१४९। २. वही २४।१४९-१५१। ३. आदि० २४।१३३-१३५। ४. वही, २४।१३३-१३६। ५. वही, २४।१३८। ६. वही, २४।१३९। ७. वही, ३३।१३६। ८. वही, २४।११६।

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके साथ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका भी प्रतिपादन किया गया है।

शास्त्रीय परिभाषाओंके वातावरणमे मुनिधर्मका सम्यक् विवेचन पाया जाता है। मुनिके रहन-सहन, आचार-व्यवहार[1] एवं उनके विहार करनेके नियमोका बहुत ही सुन्दर चित्रण आया है।

आदिपुराणके रचयिता जिनसेन धर्मशास्त्री होनेके साथ-साथ समाजशास्त्री भी है। अतः उन्होने सामान्य मानवको समाजमें किस प्रकार रहना चाहिये और समाजका स्वस्थ सदस्य बननेके लिए किन नियमोकी आवश्यकता होती है[2] इस-पर उन्होने विशेप जोर दिया है। समाजशास्त्रीय धर्मको या जीवित रहनेके नियमोको आचार्य जिनसेनने चार रूपोमे विभक्त किया है—

१. दान
२. पूजा
३. शील
४. सद्भावना

उपर्युक्त चतुरंगरूप धर्ममे सबसे पहला दान है। संग्रह एवं अर्जनका जीवन-के लिए जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक दानका। प्रकृतिने स्वभावसे ही जीव-मात्रको दानी बनाया है। जो केवल बटोरता है, बाँटना नही जानता वह समाज के लिए प्रिय नहीं बन सकता। संचय करते समय इस बातकी ओर ध्यान रखना चाहिये कि संचयका उद्देश्य केवल संचय न हो; वितरण या दान होना चाहिये। जो अपने ही स्वार्थो और अपनी ही मान्यताओमे बँधा रहता है वह वितरण या दानका महत्त्व नही समझ सकता। ऐसा व्यक्ति 'अहं'की परिधिमे आवद्ध हो जानेके कारण सर्वदा 'दास' ही बना रहता है 'स्वामी' नही बन पाता। दान देनेसे वास्तविक संतोप तो मिलता ही है, साथ ही वस्तुओके प्रति ममताका त्याग होनेसे समाजके प्रत्येक सदस्यके प्रति स्नेहकी भावना उत्पन्न होती है। धन कमाना बुरा नही और नीति सम्मत धनार्जनके उपायोको काममे लाना भी बुरा नहीं है। बुरा है स्वार्थी बन अपनी विलासिताकी तृप्तिके लिए धनका संचय करना। दानकी भावना संचयशीलताको रोकती है, जिससे अहंकार और ममताका संवर्धन नही हो सकता। मानव जातिको उन्नतिका साधन दान है। जिस व्यक्तिमे यह गुण नही है उसकी संवेदनाएँ अन्तर्मुखी नही हो सकतीं।

---

१. आदि० १८।७०,७१;३४।१६६; ३६।१२८–१५८। २. आदि० ४१।१०४; ८।१७८; ३८।२४।

और न उसके जीवनमें सार्थक रागात्मक क्षणोकी सृष्टि ही होती है। नि.संदेह सामाजिक एकता और सौहार्दका कारण दान है।

दानके संदर्भमे दान-विधि, पात्र, द्रव्य और दाताके गुणोंका वर्णन भी किया है। दयादत्ति, पात्रदत्ति, समानदत्ति और अन्वयदत्तिका विवेचन कर समाज, नगर, ग्राम, पडोस एवं कुटुम्बकी सहायता करनेका विधान किया है।

आदिपुराणमे पूजा-अर्चाको मानवताके विकासका साधन माना है। पूजा-अर्चा करनेमे श्रद्धाभावका पूर्ण विकास होता है। प्रत्येक व्यक्ति संसारके प्रपंचो को छोड अपने किसी आराध्यके सन्निकटमे पहुचकर कुछ क्षणोके लिए शांति प्राप्त करना चाहता है। अतः प्रत्येक आस्थावान अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार किसी भी आराध्यकी पूजा-अर्चा कर आत्मबल प्राप्त करता है। जिनसेनने सदार्चन, चतुर्मुख, कल्पद्रुम और आष्टाह्निक इन चार प्रकारकी पूजाओका उल्लेख किया है। नित्य प्रभुभक्तिमें लीन रहनेवाले व्यक्तिका आत्मबल महान् होता है। अतः जीवनोत्थानके मार्गोमे पूजा-अर्चाका अपना स्थान है।

शील जीवनोत्थानका तीसरा मूल्य है। इसमे कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व इन तीनों गुणोकी सम्पृक्त अन्विति विद्यमान है। नैतिकतासे अनैतिकता, अहिंसासे हिंसा, प्रेमसे घृणा, क्षमासे क्रोध, साम्यसे संघर्ष एवं मानवतामे पशुतापर विजय प्राप्त करना शीलके अन्तर्गत है। समाजहितकी दृष्टिसे व्यक्ति एवं समाजके बीच अधिकार और कर्त्तव्यकी श्रृंखला स्थापित करना, उनके उचित सम्बन्धोका सन्तुलन बनाये रखना, सहयोगकी भावना आदि उत्पन्न करना शीलद्वारा ही सम्भव है (वर्गभेद और जातिभेदसे ऊपर उठनेके लिए शीलकी आवश्यकता है। दया और समाजके प्रति ममताका विकास शील द्वारा ही संभव है। शीलका शास्त्रीय विवेचन तो द्वादश व्रतोंके रूपमे किया गया है। पर व्यावहारिक दृष्टि से छल-कपट, शोषण, अनीति, अत्याचार, ईर्ष्या आदि दुर्गुणोका त्याग शीलमे परिगणित है।

सद्भावनाका रहस्य है सहानुभूति और सहयोगकी प्रवृत्ति, जो व्यक्ति असत् प्रवृत्तियोका त्यागकर समाजोत्थानके लिए सहयोगकी भावना बनाये रखता है। वह अपने व्यक्तित्वका सामाजीकरण करता है। मानव-संगठनका आधार भी सद्-भावना ही है। जिस व्यक्तिकी भावना कलुषित नही, जो दूसरोकी निरन्तर उन्नतिकी अभिलाषा करता है वह समाजका लोकप्रिय सदस्य है। आदिपुराणमें मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चारो भावनाओका भी चित्रण पाया जाता है।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तोमे व्यक्ति-उत्थानको प्रमुखता दी गई है। यतः

व्यक्तिके व्यक्तित्वके विकाससे ही समाजका संगठन सुदृढ होता है। व्यक्तित्व परिशोधनके लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप नियमोंका पालन करना नितान्त आवश्यक है। आदिपुराणमे गृहस्थके धर्मका एकादश प्रतिमाओके रूपमे विवेचन आया है। अन्य नियमोमे स्वाध्याय, संयम, गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा एवं कष्टसहिष्णुताको परिगणित किया गया है। जो व्यक्ति ज्ञान साधन करना चाहता है उसके लिये प्रतिदिन स्वाध्याय करना परमावश्यक है। स्वाध्यायशील व्यक्तिका ज्ञान अहर्निश वृद्धिगत होता जाता है और उसे हेयोपादेयबुद्धि प्राप्त होती है। जिन बातोको व्यक्ति बडी-बडी शिक्षा-संस्थाओमें रह कर भी नही जान पाता है उन बातोंकी जानकारी उसे स्वाध्याय द्वारा सहजमे प्राप्त हो जाती है। स्वार्थत्यागकी यथार्थता स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति ही अवगत कर सकता है। अत. आदिपुराणमे स्वाध्यायका महत्त्व कई सन्दर्भोमे विवेचित है।

इस प्रकार इस पुराणग्रन्थमे धर्म और दर्शन भावनाके सिद्धान्तोका भी निरूपण आया है। इन सिद्धान्तोके अध्ययन-मनन और अनुशीलनसे सामाजिकताका विकास होता है।

●

चित्राङ्कन

चित्राङ्कन

चित्र—१. शयन करती हुई माता मरुदेवी और उनसे तीर्थंकर ऋषभदेवको लाकर सौधर्मेन्द्रकी गोदमे देती हुई शची ।

चित्र—२. जन्मोत्सव मनानेके लिए ऋषभदेवको ऐरावत हाथीपर विराजमानकर सुमेरुकी ओर जाता हुआ सौधर्मेन्द्र और देव-निकाय ।

चित्र—३. सुमेरुपर पहुँचनेपर क्षीरसागरके जलसे १००८ कलशों द्वारा भ० ऋषभदेवका अभिषेक करते हुए सौधर्मेन्द्र, ईशानेन्द्र, सानत्कुमारेन्द्र और माहेन्द्रेन्द्र आदि इन्द्रगण तथा देव-समूह ।

चित्र—४. राज्य और सुखोपभोग करनेके उपरान्त समस्त वैभव एवं सम्पदाओका त्यागकर वैराग्य (जिन-दीक्षा) ग्रहण करते हुए तीर्थंकर आदिनाथ ।

चित्र—५. तप और ध्यान द्वारा कर्म-मलको दूरकर एवं आर्हन्त्य पद प्राप्त कर समवशरण (सर्वोदय-व्याख्यान-सभा) मे शाश्वत सुख और शान्ति तथा उसके उपायोंका उपदेश देते हुए भगवान् ऋषभदेव ।

चित्र—६ मुक्त होने पर भ० ऋषभदेवके पार्थिव शरीरका अग्नि-संस्कार करते हुए अग्निकुमार आदि देव और मनुष्य ।

चित्र—७. ८. ९ आदिपुराणकालमें प्रचलित विभिन्न आभूषण ।

•

चित्र—१

चित्र—२

चित्र—३

चित्र—४

चित्र—५

चित्र—६

चित्र—७

चित्र—८

हार
हरयष्टि
कंकण
अगद और केयर
मेराला
रसना
घर्घरगालिका
काची
हिंजीरक
गजीर
नूपुर
हसक
किरोट
मुकुट
कर्णपुर
कर्णोत्पल
कुण्डल
एकावली
फिका

चित्र—९

शब्दानुक्रमणिका

शब्दानुक्रमणिका

निवेदन

इक्कीस वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण संवत् २४७३ मे इस ग्रन्थमालाकी स्थापना हुई थी। स्थापनाके समय व्याख्यानवाचस्पति स्व० पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्त-शास्त्रीने अपने महत्त्वपूर्ण भाषणमें इस ग्रन्थमालाकी आवश्यकता वतलाते हुए कहा था—

'यह संस्था प्रात.स्मरणीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए 'श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला'के नामसे खोली जा रही है।........'

आज हम लोगोके वीच न महामना पूज्य वर्णीजी है और न श्रीमान् पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री। पर उनके नामसे, उनके द्वारा संस्थापित ग्रन्थमाला विद्यमान है और वह निश्चित उद्देश्यके अनुसार ज्ञानप्रसारके कार्यमे संलग्न है। इसके भूतपूर्व मंत्री श्रीमान् पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य वीना और श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने इसे समाजके सहयोगसे आगे वढ़ाया और लगभग १५ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका इसके द्वारा प्रकाशन करके उसे स्थिर किया।

हमारी अभिलाषा है कि पूज्य वर्णीजीका यह स्मारक—वर्णी ग्रन्थमाला सर्वोच्च ज्ञान-प्रकाशन संस्थान वने। इसके लिए हमें निम्न प्रकार सहयोग दिया जा सकता है—

(१) १०१) प्रदान कर इसके संरक्षक सदस्य वनें। संरक्षकोको ग्रन्थमाला अपने प्रकाशित और प्रकाश्यमान ग्रन्थ भेंट करेगी, जो लगभग ९५)के होंगे।

(२) ५१) देकर सहायक सदस्य वनें।

(३) एक-एक सेट खरीदकर इसके साहित्यका प्रसार करें।

(४) विद्वानो, लायव्रेरियो, विश्वविद्यालयों और विदेशोको अपनी ओरसे ग्रन्थ भिजायें।

आशा है साहित्य-प्रेमी हमारे निवेदनपर अवश्य ध्यान देंगे और पूज्य वर्णीजी-की इस स्मृति एवं कृतज्ञतास्वरूप ग्रन्थमालाको अमर वना देंगे।

नेमिचन्द्र शास्त्री
संयुक्त-मंत्री

दरवारीलाल कोठिया
मंत्री

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला

वर्तमान संरक्षक-सदस्योंकी नामावली

१. श्री पं० वसोरेलाल पन्नालालजी जैन, अकलतरा
२. मेसर्स सेठ भगवानदास शोभालालजी जैन, वीड़ीवाले, सागर
३. श्री सेठ मोहनलालजी सेठी, दुर्ग
४. ,, पं० वालचन्द्र सुरेशचन्द्रजी जैन, नवापारा-राजिम
५. ,, रा० व० सेठ राजकुमारसिंहजी, इन्दौर
६. ,, ला० प्रेमचन्द्रजी जैना वॉच, दिल्ली
७. ,, वा० जुगमन्दिरदासजी जैन, कलकत्ता
८. ,, ला० मोतीलालजी जैन, दिल्ली
९. ,, मोतीलालजी वडकुल, जवलपुर
१०. ,, स० सि० धन्यकुमारजी, कटनी
११. ,, वी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
१२. ,, वा० नृपेन्द्रकुमारजी जैन, जवाहर प्रेस, कलकत्ता
१३. ,, दि० जैन मारवाडी मन्दिर-ट्रस्ट, इन्दौर
१४. ,, ला० रघुवरदयाल रत्नत्रयधारीजी जैन, दिल्ली
१५. ,, वा० महेशचन्द्रजी जैन, हस्तिनापुर
१६ ,, सिं० वदलीदास छोटेलालजी जैन, किराना मर्चेण्टस्, झाँसी
१७. ,, ला० प्रकाशचन्द्रजी जैन, पूसारोड, दिल्ली
१८. ,, विजयकुमारजी मलैया, दमोह
१९. ,, वा० श्यामलालजी पाण्डवीय, मुरार (ग्वालियर)
२०. ,, वैजनाथ सरावगी स्मृतिनिधि, कलकत्ता
२१. ,, सिं० हजारीलाल शिखरचन्द्रजी जैन, अमरपाटन
२२ ,, सिं० भागचन्द्रजी इटोरया, दमोह
२३. ,, सेठ वावूलालजी वाँदा (उ० प्र०)
२४. ,, वा० नन्दलालजी जैन, कलकत्ता
२५. ,, सेठ वृजलाल वारेलालजी जैन, चिरमिरी (सरगुजा)
२६. ,, वा० नेमकुमारजी जैन आरा
२७. ,, सेठ मुन्नालाल भैयालालजी जैन, कपडेके व्यापारी, टीकमगढ़
२८. ,, सेठ दयाचंद वावूलालजी (मैनवारवाले) टीकमगढ़
२९. ,, पं० खुन्नीलालजी जैन, टीकमगढ
३०. ,, चतुर्भुज राजारामजी जैन, टीकमगढ
३१. ,, पं० किशोरीलालजी जैन, शास्त्री, टीकमगढ़
३२. श्री सेठ व्र० धर्मदासजी वजाज, टीकमगढ़
३३. ,, सेठ तुलसीरामजी जैन, शाहगढ (सागर)
३४. ,, सिं० दौलतराम वावूलालजी, सोरई (झाँसी)
३५. श्रीमती धर्मपत्नी सेठ मल्थूरामजी जैन, मड़ावरा (झाँसी)
३६. श्री भगवानदासजी सतभैया, सागर
३७. श्रीमती सिंघैन चम्पावाईजी मातेश्वरी सि० जीवनकुमारजी, सागर
३८. श्री लाला फकीरचंदजी जैन, दिल्ली
३९. ,, पं० वारेलालजी राजवैद्य, टीकमगढ़

४०. श्रीमती वृजमालाजी जैन, वम्बई
४१. ,, राजवैद्य ला० महावीरप्रसादजी चाँदनी चौक, दिल्ली
४२. ,, ला० नन्हेंमलजी जैन ७, दरियागंज, दिल्ली
४३. ,, ला० अजितप्रसादजी जैन कपडेवाले धर्मपुरा, दिल्ली
४४. ,, वा० सुकमालचन्द्रजी जैन ग्रीनपार्क, नयी दिल्ली
४५ ,, ब्र० पं० सरदारमलजी (सच्चिदानन्दजी) सिरोंज (विदिशा)
४६. ,, वा० सीतारामजी जैन, वाराणसी
४७. ,, वा० सुमेरचन्द्रजी जैन, वाराणसी
४८. ,, श्रीदिगम्बर जैन मन्दिर, विजनौर (उ० प्र०)
४९ ,, अ० भा० दि० जैन केन्द्रीय महासमिति, दमोह (म० प्र०)
५०. ,, पं० मुन्नालालजी राधेलीय, सागर
५१. ,, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी
५२. ,, पं० वंशीधरजी व्यकरणाचार्य वीना (म० प्र०)
५३. ,, डा० लालवहादुरजी शास्त्री, दिल्ली
५४. ,, प्रो० डा० दरवारीलाल कोठिया, वाराणसी
५५. ,, डा० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, आरा
५६. ,, पं० हीरालालजी कौशल साहित्यरत्न, दिल्ली
५७. ,, डा० राजकुमारजी साहित्याचार्य, आगरा
५८. श्री पं० मुन्नालाल चुन्नीलालजी ललितपुर
५९. श्री सूरदासजी ललितपुर (उ० प्र०)
६०. श्री पं० श्यामलालजी न्यायतीर्थ, ललितपुर
६१. सेठ वद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना सिटी
६२. प्रो० विमलकुमार निहालचन्द्रजी, मडावरा (झांसी)
६३ चौधरी जवाहरलाल मोतीलालजी खुरई
६४. श्री पं० गुलावचन्द्रजी दर्शनाचार्य, जवलपुर
६५. ,, पं० सुरेन्द्रकुमारजी आयुर्वेदाचार्य, वीना
६६ ,, सिं० अमीरचन्द देवचन्दजी, पाटन
६७. ,, सिं० रतनचन्द मोतीलालजी, पाटन
६८. श्री पं० कन्हैयालालजी, अकलतरा
६९. श्री नेमिचन्द्रजी जैन अकलतरा
७०. श्री प्रसन्नकुमारजी गौरझामर, (सागर)
७१. श्री नीरजजी जैन सतना
७२. श्री पं० वावूलालजी फागुल्ल, वाराणसी
७३. श्री शीलचन्द्रजी जैन, वाराणसी
७४. प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, वाराणसी
७५. वा० अतुलकुमारजी जैन, कलकत्ता
७६. वा० नवलकिशोरजी जैन, गया

ग्रन्थमालाके प्रकाशन

१. मेरी जीवन-गाथा	: भाग १	....	८-००
२. ,, ,,	: भाग २	....	४-२५
३ वर्णी-वाणी	: भाग १ (पञ्चम संस्करण)		६-००
४. ,, ,,	: भाग २		४-००
५ ,, ,,	: भाग ३		५-००
६. ,, ,,	: भाग ४		३-५०
७. जैन दर्शन	: (द्वितीय संस्करण)	....	१०-००
८. जैन साहित्यका इतिहास (पूर्व पीठिका)		....	१०-००
९. पञ्चाध्यायी	:	....	९-००
१०. श्रावकधर्मप्रदीप	:	....	४-००
११. तत्त्वार्थसूत्र	:	....	५-००
१२. द्रव्यसंग्रह-भाषा वचनिका	: ...	....	४-००
१३. अपभ्रंशप्रकाश	: . ..	..	३-००
१४ मन्दिर वेदी प्रतिष्ठाकलशारोहण-विधि.. .		....	१-२५
१५. सामायिकपाठ	:	....	०-६०
१६. अनेकान्त और स्याद्वाद	:		अप्राप्य
१७. अध्यात्मपत्रावली	:	....	१-००
१८. आदिपुराणमे प्रतिपादित भारत	. ....	....	१२-००

●

प्राप्ति स्थान :

मंत्री—श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला

१/१२८, डुमरावबाग, अस्सी

वाराणसी-५